त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

[हिन्दी अनुवाद]

पर्व : 8 भाग : 6

(नेमिनाथ चरित्र)

अनुवादिका

साध्वी डॉ. सुरेखाश्री

प्राकृत भारती पुष्प 246

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

[हिन्दी अनुवाद]

पर्व : 8 भाग : 6

अनुवादिका

साध्वी डॉ. सुरेखाश्री

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

प्रकाशक

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी,
13-ए, गुरुनानक पथ,
मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017
फोन : 0141-2524827, 2520230
E-mail : prabharati@gmail.com

अमृत लाल जैन
अध्यक्ष
श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर-344025
स्टेशन - बालोतरा
जिला - बाड़मेर (राजस्थान)
E-mail : nakodatirth@yahoo.com

प्रथम संस्करण 2014

ISBN No. : 978-93-81571-08-8

मूल्य : 250/- रुपये

© प्रकाशकाधीन

लेजर टाइप सेटिंग
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

मुद्रक:
दी डायमण्ड प्रिन्टिंग प्रेस, जयपुर
फोन. 0141-2562929

Trishashtishalakapurushcharit
Sadhvi Dr. Surekha Shri/2014
Prakrit Bharati Academy, Jaipur
Shri Jain Sw. Nakoda Parshwanath Tirth, Mewanagar

प्रकाशकीय

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित का 'अष्टम पर्व' (हिन्दी भाग-६); जिसमें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान, वासुदेव कृष्ण, बलदेव बलभद्र और प्रतिवासुदेव जरासंध आदि के चरित्र को वर्णित किया है, प्राकृत भारती अकादमी की पुष्प संख्या २४६ के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

त्रिषष्टि अर्थात् तिरेसठ शलाका पुरुष अर्थात् सर्वोत्कृष्ट महापुरुष। सृष्टि में उत्पन्न हुए या होने वाले जो सर्वश्रेष्ठ महापुरुष होते हैं वे शलाका-पुरुष कहलाते हैं। इस कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरकों में प्रत्येक काल में सर्वोच्च ६३ पुरुषों की गणना की गई है, की जाती थी और की जाती रहेगी। इसी नियमानुसार इस अवसर्पिणी में ६३ महापुरुष हुए हैं, उनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेवों की गणना की जाती है। इन्हीं ६३ महापुरुषों के जीवन-चरितों का संकलन इस 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के अन्तर्गत किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे संस्कृत भाषा में १० पर्वों में विभक्त किया है जिनमें ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त ६३ महापुरुषों के जीवनचरित संगृहीत हैं। प्रस्तुत पुस्तक में तीर्थंकर नेमिनाथ व अन्य महापुरुषों कृष्ण, कंस, नल दमयंती की कथाओं का अत्यन्त सुन्दर चित्रांकन किया है यह कथाएँ इतिहास की जानकारी के साथ-साथ नैतिक मूल्यों की ओर प्रेरित करती है।

इन्हीं मानवीय मूल्यों से सुधी पाठकों में एक नये चिन्तन की वृद्धि होगी। प्रस्तुत पुस्तक के सरल, सटीक व प्रभावी हिन्दी भाषा में अनुवाद का कार्य साध्वी डॉ. सुरेखाश्री जी म.सा. द्वारा सम्पन्न किया गया है। आप द्वारा संयमकालीन जीवन में कई ग्रन्थों का लेखन व सम्पादन कार्य किया गया है। आपने डी.लिट् की उपाधि राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से प्राप्त की है। आप जैसी विदुषी साध्वी द्वारा इस पुस्तक का अनुवाद कार्य सम्पन्न हुआ उसके लिए हम अत्यन्त आभारी हैं।

प्रकाशन से जुड़े सभी सहभागियों को धन्यवाद!

अमृत लाल जैन
अध्यक्ष,
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर, बाड़मेर

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी,
जयपुर

प्रस्तावना

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के प्रथम पर्व में ६ सर्ग हैं, जिनमें भगवान ऋषभदेव एवं भरत चक्रवर्ती का जीवनचरित गुंफित है। द्वितीय पर्व में भी ६ सर्ग हैं, जिनमें भगवान अजितनाथ एवं द्वितीय चक्रवर्ती सगर का सांगोपांग जीवनचरित है। इन दोनों पर्वों का हिन्दी अनुवाद दो भागों में प्राकृत भारती के पुष्प ६२ एवं ७७ के रूप में प्राकृत भारती द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

तृतीय भाग में पर्व ३ और ४ संयुक्त रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। तृतीय पर्व में ८ सर्ग हैं जिनमें क्रमशः भगवान् संभवनाथ से लेकर दसवें भगवान् शीतलनाथ के जीवनचरित हैं। चतुर्थ पर्व में ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ से लेकर १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ तक, तीसरे-चौथे चक्रवर्ती, ५ वासुदेव, ५ बलदेव और ५ प्रतिवासुदेवों का विस्तृत जीवनचरित है। यह तीसरा भाग भी प्राकृत भारती की ओर से मार्च, १९९२ में प्रकाशित हो चुका है।

चतुर्थ भाग में पर्व ५ और ६ संयुक्त रूप से प्रकाशित हो चुके हैं। पाँचवें पर्व में ५ सर्ग हैं जिनमें सोलहवें तीर्थंकर एवं पंचम चक्रवर्ती भगवान् शान्तिनाथ का विशद जीवन वर्णित है। छठे पर्व में ८ सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में- सतरहवें तीर्थंकर एवं छठे चक्रवर्ती कुन्थुनाथ का, दूसरे सर्ग में- अठारहवें तीर्थंकर और सातवें चक्रतर्वी प्रभु अरनाथ का, तीसरे सर्ग में- छठे बलदेव आनंद, वासुदेव पुरुषपुण्डरीक, प्रतिवासुदेव बलिराजा

का, चौथे सर्ग में आठवें चक्रवर्ती सुभूम का, पाँचवें सर्ग में-सातवें बलदेव नन्दन, वासुदेव दत्त, प्रतिवासुदेव प्रह्लाद का, छठे सर्ग में-उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ का, सातवें सर्ग में-बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी का और आठवें सर्ग में-नौवें चक्रवर्ती महापद्म के सविस्तार जीवन-चरित्र का अङ्कन हुआ है। यह चौथा भाग प्राकृत भारती के पुष्प ८४ के रूप में प्राकृत भारती की ओर से सितम्बर, १९९२ में प्रकाशित हो चुका है।

पाँचवें भाग में पर्व सातवाँ प्रकाशित किया गया है जो जैन रामायण के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर्व में तेरह सर्ग हैं। प्रथम सर्ग से दसवें सर्ग तक जैन रामायण का कथानक विस्तार से गुंफित है। इन सर्गों में राक्षसवंश और वानरवंश की उत्पत्ति से लेकर आठवें बलदेव मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र, वासुदेव लक्ष्मण, प्रतिवासुदेव रावण, महासती सीता, चरम शरीरी महाबली हनुमान, सती अंजना सुन्दरी, आदि के जीवन का विस्तार के साथ सरस चित्रण है। ग्यारहवें सर्ग में- इक्कीसवें तीर्थंकर विभु नमिनाथ, बारहवें सर्ग में- दसवें चक्रवर्ती हरिषेण का और तेरहवें सर्ग में- ग्यारहवें चक्रवर्ती जय का वर्णन है।

प्रस्तुत छठे भाग में पर्व आठवाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इस पर्व में १२ सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में नेमिनाथ के पूर्वभव का वर्णन द्वितीय सर्ग में मथुरा यदुवंश वसुदेव का चरित्र, तृतीय सर्ग में कनकवती का विवाह एवं नलदमयंती का चरित्र, चतुर्थ सर्ग में विद्याधर व वसुदेव वर्णन, पंचम सर्ग में बलराम, कृष्ण तथा अरिष्टनेमि के जन्म, कंस का वध और द्वारका नगरी की स्थापना, षष्ठम सर्ग में रुक्मिणी आदि स्त्रियों के विवाह, पाण्डव द्रोपदी का स्वयंवर और प्रद्युम्न चरित्र, सप्तम सर्ग में शांब और प्रद्युम्न के विवाह एवं जरासंध का वध, अष्टम सर्ग में सागरचन्द्र का उपाख्यान, उषाहरण और बाणासुर का वध, नवम सर्ग अरिष्टनेमि का कौमार क्रीड़ा-दीक्षा-केवलोत्तपत्ति वर्णन, दशम सर्ग में

द्रोपदी का प्रत्याहरण और गजसुकुमाल आदि का चरित्र, ग्यारहवें सर्ग में द्वारका दहन और कृष्ण का अवसान, बारहवें सर्ग में बलदेव का स्वर्गगमन और श्री नेमिनाथजी का निर्वाण आदि का वर्णन है। इस प्रकार भाग-६, पर्व-८ में एक तीर्थंकर, १ वासुदेव तथा तीन प्रतिवासुदेव, कृष्ण, बलभद्र तथा जरासंध आदि महापुरुषों के चरित्रों का कथाओं के माध्यम से समावेश हुआ है।

पूर्व में आचार्य शीलांक ने 'चउप्पन-महापुरुष-चरियं' नाम से इन ६३ महापुरुषों के जीवन का प्राकृत भाषा में प्रणयन किया था। शीलांक ने ९ प्रतिवासुदेवों की गणना स्वतन्त्र रूप से नहीं की, अतः ६३ के स्थान पर ५४ महापुरुषों की जीवन गाथा ही उसमें सम्मिलित थी।

आचार्य हेमचन्द्र १२वीं शताब्दी के एक अनुपमेय सरस्वती पुत्र, कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी लेखनी से साहित्य की कोई भी विधा अछूती नहीं रही। व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छन्द-शास्त्र, न्याय, दर्शन, योग, स्तोत्र आदि प्रत्येक विधा पर अपनी स्वतन्त्र, मौलिक एवं चिन्तनपूर्ण लेखनी का सफल प्रयोग इन्होंने किया। आचार्य हेमचन्द्र न केवल साहित्यकार ही थे अपितु जैनधर्म के एक दिग्गज आचार्य भी थे। महावीर की वाणी के प्रचार-प्रसार में अहिंसा का सर्वत्र व्यापक सकारात्मक प्रयोग हो इस दृष्टि से वे चालुक्यवंशीय राजाओं के सम्पर्क में भी सजगता से आए और सिद्धराज जयसिंह तथा परमार्हत् कुमारपाल जैसे राजऋषियों को प्रभावित किया और सर्वधर्मसमन्वय के साथ विशाल राज्य में अहिंसा का अमारी पटह के रूप में उद्घोष भी करवाया। जैन परम्परा के होते हुए भी उन्होंने महादेव को जिन के रूप में आलेखित कर उनकी भी स्तवना की। हेमचन्द्र न केवल सार्वदेशीय विद्वान् ही थे; अपितु उन्होंने गुर्जर धरा में अहिंसा, करुणा, प्रेम के साथ गुर्जर भाषा को जो अनुपम अस्मिता प्रदान की यह उनकी उपलब्धियों की पराकाष्ठा थी।

महापुरुषों के जीवनचरित को पौराणिक आख्यान कह सकते हैं। पौराणिक होते हुए भी आचार्य ने इस चरित-काव्य को साहित्यशास्त्र के नियमानुसार महाकाव्य के रूप में सम्पादित करने का अभूतपूर्व प्रयोग किया है और इसमें वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं। यह ग्रन्थ छत्तीस हजार श्लोक परिमाण का है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र स्वयं ग्रन्थ प्रशस्ति में लिखते हैं-

'चेदि, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, सिन्ध और अन्य अनेक दुर्गम देशों को अपने भुजबल से पराजित करने वाले परमार्हत् चालुक्यकुलोत्पन्न कुमारपाल राजर्षि ने एक समय आचार्य हेमचन्द्रसूरि से विनयपूर्वक कहा- 'हे स्वामिन्! निष्कारण परोपकार की बुद्धि को धारण करने वाले आपकी आज्ञा से मैंने नरक गति के आयुष्य के निमित्त-कारण मृगया, जुआ, मदिरादि दुर्गुणों का मेरे राज्य में पूर्णतः निषेध कर दिया है और पुत्ररहित मृत्यु प्राप्त परिवारों के धन को भी मैंने त्याग दिया है तथा इस पृथ्वी को अरिहन्त के चैत्यों से सुशोभित एवं मण्डित कर दिया है। अतः वर्तमान काल में आपकी कृपा से मैं सम्प्रति राजा जैसा हो गया हूँ। मेरे पूर्वज महाराजा सिद्धराज जयसिंह की भक्तियुक्त प्रार्थना से पंचांगीपूर्ण 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की। भगवन्! आपने मेरे लिए निर्मल 'योगशास्त्र' की रचना की और जनोपकार के लिए द्व्याश्रय काव्य, छन्दोऽनुशासन, काव्यानुशासन और नाम-संग्रहकोष प्रमुख अन्य ग्रन्थों की रचना की। अतः हे आचार्य! आप स्वयं ही लोगों पर उपकार करने के लिए कटिबद्ध हैं। मेरी प्रार्थना है कि मेरे जैसे मनुष्य को प्रतिबोध देने के लिए ६३ शलाका-पुरुषों के चरित पर प्रकाश डालें।'

इससे स्पष्ट है कि राजर्षि कुमारपाल के आग्रह से ही आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना उनके अध्ययन हेतु की थी। पूर्वांकित ग्रन्थों की रचना के अनन्तर इसकी रचना होने से इसका रचनाकाल विक्रम संवत्

१२२० के निकट ही स्वीकार्य होता है। यह ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्य की प्रौढ़ावस्था की रचना है और इस कारण इसमें उनके लोकजीवन के अनुभवों तथा मानव स्वभाव की गहरी पकड़ की झलक मिलती है। यही कारण है कि काल की इयत्ता में बन्धी पुराण कथाओं में इधर-उधर बिखरे उनके विचारकण कालातीत हैं। यथा- शत्रु भावना रहित ब्राह्मण, बेईमानी रहित वणिक्, ईर्ष्या रहित प्रेमी, व्याधि रहित शरीर, धनवान-विद्वान्, अहंकार रहित गुणवान, चपलता रहित नारी तथा चरित्रवान् राजपुत्र बड़ी कठिनाई से देखने में आते हैं।

जयपुर चातुर्मास के दौरान प्राकृत भारती अकादमी से प्रकाशित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के प्रथम भाग पर साध्वीश्रीजी ने प्रश्नोत्तरी निकाली थी। उसी समय उन्होंने आगे के भागों का स्वाध्याय भी किया और पूछा कि संस्था से आगे के भाग कब तक प्रकाशित होंगे किन्तु हमारी ओर से असमर्थता जाहिर की गई। श्री गणेश ललवानी सा., जिन्होंने अपने अथक प्रयासों से यहाँ तक का अनुवाद किया वे अब इस दुनिया में नहीं रहे। तत्पश्चात् आदरणीय श्री डी.आर.मेहता सा. ने सीकर के एक संस्कृत विद्वान् पं. मांगीलालजी मिश्र को इस ग्रन्थ की मूल संस्कृत प्रति दी किन्तु एक-दो वर्ष वे अन्य कार्यों में व्यस्त रहे तत्पश्चात् उनका भी निधन हो गया। इसलिए मैंने साध्वीजी से अनुरोध किया कि आप आठवें, नवें व दसवें पर्व का अनुवाद कार्य कर देवें ताकि यह ग्रंथ जन-मानस तक स्वाध्याय हेतु पहुँच सके। आपश्री ने इस अनुरोध को स्वीकारते हुए इस कार्य को सम्पन्न किया। एकाग्रता व शांतचित्त से किये गये इस अनुवाद के लिए प्राकृत भारती अकादमी एवं श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर आपके हृदय से आभारी हैं।

— डॉ० रीना जैन

ॐ नेमिनाथाय नमः

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

(अष्टम पर्व)

प्रथम सर्ग

श्री अरिष्टनेमि के पूर्वभव का वर्णन

सर्व जगत् के स्वामी, बाल ब्रह्मचारी, और कर्मरूपी वल्ली के वन के छेदन करने में नेमि अर्थात् तीक्ष्ण धारवाले चक्र के समान श्री अरिष्टनेमि को नमस्कार हो। अब अर्हंत श्री नेमिनाथ, वासुदेव, कृष्ण, बलदेव–बलभद्र और प्रतिवासुदेव–जरासंध के चारित्र का विवेचन किया जाएगा।

इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में पृथ्वी के शिरोरत्न सदृश अचलपुर नाम का नगर था। युद्ध में पराक्रम से शत्रुओं पर आक्रमण करने वाला विक्रमधन नामक गुणनिष्पन्न वहाँ का राजा था। वह राजा शत्रुओं के लिए यमराज की भांति दुष्प्रेक्ष्य था और मित्रों के लिए तो चंद्र के सदृश नेत्रानंददायी था। प्रचंड तेजस्वी उस राजा का भुजदंड स्नेहियों के लिए कल्पवृक्ष और वैरियों के लिए वज्रदंड तुल्य था। जिस प्रकार सागर में सरिताएँ आकर समा जाती हैं, उसी प्रकार सर्व दिशाओं से संपत्ति आ–आकर उसके ऐश्वर्य को बढ़ा देती थी, और पर्वतों में झरनों की भांति उसमें से कीर्ति प्रकट होती थी। उस राजा की पृथ्वी जैसी स्थिर और उज्ज्वल शीलरूप से अलंकृत धारिणी नामक रानी थी। सर्वांग सुंदर और पवित्र लावण्य से सुशोभित यह रानी मानो राजा की मूर्तिमंत लक्ष्मी के समान थी। गति और वाणी से हंसनी रूप और लक्ष्मी के आसनरूप पद्मनी के समान रमण करने वाली, समपुष्प में भ्रमरी की तरह रानी अपने हृदय में अवस्थित थी।

(गा. 1 से 10)

एक समय धारिणी देवी ने रात्रि के शेषभाग में भँवरों और कोयलों से मत्त एवं विपुल मंजरियों से प्रफुल्लित फलित एक आम्रवृक्ष को स्वप्न में देखा।

उस वृक्ष को हाथ में लेकर कोई रूपवान् पुरुष ने कहा, ''यह आम्रवृक्ष आज तेरे गृहांगण में रोपा जा रहा है।'' जैसे–जैसे काल व्यतीत होगा वैसे–वैसे वह उत्कृष्ट फलयुक्त होकर भिन्न–भिन्न स्थान पर नौ बार पावन होगा। अनुपम स्वप्न दर्शन से हर्षित हो रानी ने सर्व वृत्तांत राजा से कहा। राजा ने स्वप्नवेत्ताओं के साथ विचार–विमर्श किया। नैमित्तिकों ने हर्षित होकर कहा, हे राजन्! इस स्वप्न से यह सिद्ध होता है कि आपको उत्कृष्ट भाग्यशाली पुत्ररत्न होगा किन्तु स्वप्नगत आम्रवृक्ष का आरोपण नौ स्थान पर होना, इसका आशय तो केवली भगवान् ही बता सकते हैं। यह हमारे ज्ञान की सीमा से बाहर है। नैमित्तिकों के कथन से धारिणी देवी को अत्यन्त खुशी हुई और वह पृथ्वी में निधि तुल्य गर्भ का संरक्षण करने लगी। परिपूर्ण समय पर रानी ने पूर्व दिशा में सूर्य समान जगत् को हर्ष के कारणभूत सुंदर सलोनी आकृति युक्त पुत्र को जन्म दिया। राजा ने महादानपूर्वक पुत्र का जन्ममहोत्सव किया और उत्तम दिन में धनकुमार नामकरण किया। धायमाताओं के लालन–पालन से एवं नरपतियों के एक उत्संग से दूसरे उत्संग में खेलता हुआ धनकुमार बड़ा होने लगा। अनुक्रम से उसने सर्व कलाएँ संपादन कर ली एवं कामदेव के क्रीड़ावान स्वरूप यौवनवय में प्रवेश किया।

(गा. 11 से 20)

इसी समय कुसुमपुर नामक नगर में सिंह जैसा पराक्रमी और रणकार्य में यशस्वी ''सिंह'' नाम का राजा था। उसके चंद्रलेखा सी निर्मल और प्राणवल्लभा विमला नामक रानी थी, जो कि पृथ्वी पर विचरण करने वाली देवी स्वरूपा लगती थी। उनके पुत्रों के पश्चात् राजरानी के धनवती नामक पुत्री उत्पन्न हुई। अपनी रूपसंपदा द्वारा रति आदि रमणियों के रूप को पराजित करती हुई वह बाला शनैः–शनैः वृद्धि को प्राप्त हुई और सर्वकलाओं में पारंगत हुई। एक दिन बसंतऋतु आने पर वह बाला अपने सखी वृंद के साथ उद्यान की शोभा देखने गई। उस समय उद्यान में प्रफुल्लित सप्तपर्ण के वृक्षों पर भ्रमण करते हुए भँवरे संगीत कर रहे थे, बाण जाति के वृक्षों की नवीन कलियाँ मानो कामदेव के बाण समान थी, उन्मत्त सारस युगल, क्रेंकार शब्द कर रहे थे, स्वच्छ जल वाले सरोवर में कलहंसों के समूह क्रीड़ा कर रहे थे और गीत गाती हुई माली की स्त्रियों से सुशोभित वह उद्यान अत्यन्त मनोहर दिखाई दे रहा था। ऐसे रमणीय उद्यान में यह बाला स्वच्छन्द विचरण करने लगी।

(गा. 21 से 28)

आनंदातिरेक में वह बाला घूम रही थी कि उसे अशोक वृक्ष के नीचे हाथ में चित्रपट लिए एक विचित्र चित्रकार खड़ा हुआ दिखाई दिया। धनवती की कमलिनी नामकी एक सखी ने बल प्रयोग कर वह चित्रपट उसके हाथ से ले लिया। उस चित्रपट पर चित्रित एक सुंदर पुरुष का चित्र देख विस्मृत होकर वह चित्रकार से बोली– ''सुर, असुर और मनुष्यों में ऐसा अद्‌भुत रूप किसका है? अथवा उनमें तो ऐसा सुंदर रूप संभव ही नहीं है, लगता है तूने अपना कौशल जताने हेतु ऐसा रूप स्वमति से ही चित्रित किया है। कारण कि अनेक प्राणियों की सृष्टि करने से श्रांत (थके हारे) वृद्ध विधाता ने ऐसा सुंदर रूप–रचना करने की प्रवीणता कहाँ से आयी?'' ऐसे वचन सुनकर चित्रकार हँसता हुआ बोला– ''इस चित्र में यथार्थ रूप ही चित्रित है। इसमें मेरा जरा भी कौशल नहीं है। अचलपुर के विक्रमराजा के युवा और अनुपम आकृति वाले धनकुमार का यह चित्र है।'' राजकुमार को प्रत्यक्ष देखने के पश्चात् जो यह चित्र देखता है, तो वह मुझे उलटा 'कूट लेखक' कहकर बार–बार निंदा करता है। हे मुग्धे! तुमने राजकुमार को देखा नहीं है, अतः तुमको आश्चर्य होता है, क्योंकि तुम तो कुएँ के मेढ़क जैसी हो। धनकुमार के अद्‌भुत रूप को देखकर तो देवांगनाएं भी मोहित हो जाती हैं। मैंने तो मात्र दृष्टि विनोद के कारण ही यह चित्र चित्रित किया है।''

(गा. 29 से 38)

समीप खड़ी राजकुमारी धनवती वार्तालाप सुनकर और राजकुमार का चित्र देखकर ऐसी हो गई मानो कामदेव ने बाणों से बींध दिया हो। पश्चात् कमलिनी बोली– हे भद्र! तुमने दृष्टिविनोद के लिए भी इस अद्‌भुत चित्र को बहुत सुंदर चित्रित किया है, वास्तव में तुम निपुण और विवेकी कलाकार हो।

(गा. 39 से 40)

इतना कह कमलिनी तो चल पड़ी, किन्तु धनवती शून्य हृदयवाली हो गई। उसका मुख मुरझाए कमल जैसा हो गया। पीछे मुड़–मुड़ कर देखती हुई, डगमगाते अस्थिर कदमों से चलती हुई जैसे–तैसे घर आई। चित्रस्थ धनकुमार के रूप से (मोहित) राजकुमारी धनवती मरुस्थल प्रदेश की हंसनी की तरह हो गई। उसका आनंद काफूर हो गया। दुर्बल शरीर वाली वह क्षुधा तृषा एवं रात्रि में निद्रा विहीन हो गई। रात व दिन का चैन समाप्त हो गया। उसकी स्थिति वन

में खींचकर लाई हुई हथिनी जैसी हो गई। धनकुमार के रूप और चित्रकार की कही हुई बात को याद करके बार–बार उसका सर कांपता था, अंगुलियाँ नाचती थीं और भृकुटि तन जाती थी। धनकुमार के ध्यान में परवश हुई वह राजकुमारी जो कुछ भी चेष्टा करती, वह जन्मान्तर के कृत्य की भांति तत्काल भूल जाती थी और उद्वर्तन, स्नान, विलेपन और अलंकारादिक को छोड़कर यह रमणी योगिनी की तरह अहर्निश उसके ध्यान में मग्न रहने लगी।

एक बार उसकी सखी कमलिनी ने उससे पूछा– हे कमलाक्षि! तू किस आधि–व्याधि से पीड़ित है, जो तेरी ऐसी दशा हो गई। उसके यकायक ऐसे प्रश्न से कृत्रिम कोप करती हुई धनवती बोली– 'हे सखि! बाहर के व्यक्ति की तरह तू क्या पूछती है? क्या तू नहीं जानती? अरे तू तो मेरा दूसरा हृदय है, मेरे जीवितव्य जैसी है, मात्र सखी नहीं। तेरे इस प्रकार के प्रश्न से मुझे लज्जा आती है।' कमलिनी बोली– 'हे मानिनि! तूने मुझे उपालंभ दिया, वह ठीक है। तेरे हृदय के शल्य को और ऊँचे मनोरथ को मैं जानती हूँ। जब से चित्र को देखा, तू धनकुमार को चाहने लगी है। मैंने जो अनजान होकर, तुमसे पूछा, यह तो मैंने मस्करी की है। बहना! तेरा अनुराग योग्य स्थान पर है। मैंने जब से यह जाना है। तब से मैं भी उसके लिए चिंतातुर हूँ। सखि! मैंने एक ज्ञानी को पूछा था कि, मेरी सखी को मनवांछित वर मिलेगा या नहीं? तब उन्होंने प्रतीती कराई कि मिलेगा, इसलिए मेरी बहन! तू धीरज रख। तेरा मनोरथ अवश्य ही शीघ्र सिद्ध होगा। इस प्रकार आश्वासन देकर कमलिनी उसे धीरज बंधाती है।

(गा. 48 से 55)

एक बार राजकुमारी दिव्यवेश धारण करके पिताजी को वंदन करने हेतु गई। जब वह वंदन करके चलने को हुई, तब उसके जाने के पश्चात् राजा को विचार आया कि अब यह पुत्री विवाह के योग्य हो गई है, तो इस पृथ्वी पर इसके योग्य कौनसा वर होगा? इस प्रकार राजा चिंतातुर रहने लगा। इतने में पहले राजा विक्रमधन के पास भेजा हुआ दूत आया। राज्यकार्य की जानकारी देकर उसने विराम लिया। सिंहराजा ने उससे पूछा, तूने वहाँ आश्चर्यकारक क्या देखा? तब दूत ने कहा, हे राजन्! विक्रमधन राजा का पुत्र धनकुमार का जो अद्भुत रूप मैंने देखा है, वैसा सुंदर रूप विद्याधरों या देवताओं में भी देखने में नहीं आया है। उनको देखकर मैंने वहीं निश्चय किया कि अपनी राजकुमारी के लिए यह योग्य, उत्तम वर है। वर–कन्या का संबंध होने में विधि

का विधान सफल होवे। तब राजा ने प्रसन्न होकर कहा कि– हे दूत! साधु तूने मेरे कहे बिना स्वयं ही मेरे कार्य की चिंता की और राजकन्या के वर के चिंतारूपी सागर से मेरा उद्धार किया। हे बुद्धिमान दूत! अब तू विक्रमधन राजा के पास जाकर राजकन्या धनवती के लिए धनकुमार के लिए प्रार्थना कर। मेरे आदेश का पालन कर। इधर राजा और दूत के मध्य वार्तालाप हो रहा था, उस समय धनवती की छोटी बहन चंद्रवती पिताजी को प्रणाम करने हेतु वहाँ आई थी। उसने यह वार्तालाप सुना और हर्ष से नाचती हुई अपनी बहन के पास आई और सर्व वृत्तांत कह सुनाया।

(गा. 56 से 64)

धनवती ने अपनी सखी कमलिनी को कहा कि– मुझे चंद्रवती की बात पर विश्वास नहीं होता है, लगता है वह अज्ञानता से ऐसा कह रही है, उस दूत को पिताजी ने किसी दूसरे काम के लिए भेजा होगा परंतु इस मुग्धा चंद्रवती ने सब मेरे लिए ही समझ लिया। तब कमलिनी ने कहा– हे बहन! वह दूत अभी भी यहीं पर है, तुम उनके मुख से ही सही बात जान लो। दीपक के होते हुए अग्नि को कौन पूछता है? क्योंकि दीपक होने पर जुबान या चमकदार पत्थर को कौन देखे? ऐसा कहकर भावनावश वह भावज्ञ सखी उस दूत को वहाँ ले आई। उसके मुख से सर्व वृत्तांत श्रवणकर धनवती अत्यन्त हर्षित हुई। पश्चात् धनवती ने एक पत्र लिखकर दूत को दिया, और कहा कि यह लेख धनकुमार को सादर प्रेषित कर देना।

(गा. 65 से 69)

वहाँ से वह दूत शीघ्र ही अचलपुर आया और राज्यसभा में सिहांसन पर आरूढ़ विक्रमधन राजा की राज्यसभा में पहुँचा। विक्रमराजा ने पूछा कि– क्यों सिंहराजा कुशल तो है ना? तुरन्त तुम्हारे पुनरागमन पर मेरे मन में संकल्प विकल्प हो रहा है। तब दूत ने कहा, 'सिंहरथ राजा कुशल है। मुझे पुनः शीघ्र ही आपकी सेवा में भेजने का कारण यह है कि वे राजकुमार धनकुमार के हाथों में अपनी प्रिय पुत्री राजकुमारी धनवती का हाथ देना चाहते हैं। जिस प्रकार रूप में राजकुमार उत्कृष्ट है, उसी प्रकार हमारी राजकुमारी धनवती भी उत्कृष्ट है। अतः काचण्डमणि संयोग का निर्णय अभी हो जाना चाहिए। आप दोनों का स्नेह–संबंध पहले से ही है। अब यह संबंध वृक्ष के जल सिंचन से पुष्ट होकर विशेष हो जायेगा।' ठीक है, विक्रमधन राजा ने ये संबंध सहर्ष स्वीकार

कर, दूत को आदर सहित विदा किया। वहाँ से दूत द्वारपाल से निवेदन करके राजकुमार धनकुमार के पास आया। धनकुमार को नमस्कार करके योग्य आसन पर बैठकर अपने आगमन का कारण बताया। पश्चात् यह पत्र राजकुमारी धनवती ने आपको देने के लिए कहा है, ऐसा कहकर कुमार को वह पत्र दिया। धनकुमार ने हाथों से पत्र को खोलकर कामदेव के शासन जैसा वह पत्र पढ़ने लगा। पत्र में लिखा था कि 'यौवन की तरह शरदऋतु ने जिसकी शोभा विशेष रूप से की है ऐसी पद्मिनी मुख पर ग्लानि होने पर भी सूर्य का करपीड़न चाहती है (सूर्य के पक्ष में किरणें, अन्य पक्ष में पाणिग्रहण करना) पत्र पढ़कर उसका भावार्थ समझकर धनकुमार सोचने लगा कि उसकी यह अद्‌भुत छेकोक्ति मुझ पर अतिशय स्नेह को दर्शाती है। ऐसा विचार करके धनकुमार ने भी धनवती को पत्र लिखकर एक मुक्ताहार के साथ दूत को दे दिया।

(गा. 70 से 80)

धनकुमार से जुदा होकर दूत शीघ्र ही कुसुमपुर आया और राजा विक्रमधन ने संबंध अंगीकार कर लिया, इसकी बधाई दी। बाद में धनवती के पास आकर उसने पत्र और मुक्ताहार देकर कहा, धनकुमार ने यह पत्र और मुक्ताहार प्रेषित किया है। चंद्र जैसा निर्मल मुक्ताहार करकमल में ग्रहण करके पत्र की मुद्रा को तोड़कर राजकुमारी आनंदित होकर पढ़ने लगी। उसमें लिखा था– 'सूर्य का करपीड़न करके पद्मिनी को प्रमुदित करना, यह उसके स्वभाव से ही सिद्ध है। इसमें याचना करने की वह कोई अपेक्षा नहीं रखता है' ऐसा पढ़कर राजकुमारी को अत्यन्त हर्ष हुआ, उसका शरीर पुलकित हो गया कि अवश्य ही मेरे श्लोक का भावार्थ उनको समझ में आ गया है और फिर अमृत जैसा उज्ज्वल वह मुक्ताहार उन्होंने मुझे कंठ में धारण करने के लिए भेजा है, इससे यही फलित होता है कि कंठालिंगन करने के लिए मुझे हार भेजा है, ऐसा सोचकर धनवती ने तत्काल वह हार कंठ में धारण कर लिया और उस दूत को पारितोषिक देकर विदा किया।

(गा. 81 से 87)

कुछ समय पश्चात् शुभ दिन में सिंहराजा ने वृद्ध, अनुभवी मंत्रियों विपुल समृद्धि, विपुल धन, वैभव सहित धनवती को अचलपुर के लिए प्रस्थान करवाया। प्रस्थान के समय विमल हृदयवाली विमला माता ने उसे आशीषपूर्वक

शिक्षा दी कि सासू, श्वसुर और पति पर सदैव देवता की तरह भक्ति भाव वाली होना, सपत्नियों के अनुकूल बने रहना, परिवार पर दाक्षिण्यता/उदारता रखना और स्वामी का मान होने पर गर्वरहित तथा अविकारी विनम्र रहना।'' इस प्रकार शिक्षा देकर झरते आंसुओं से भरे हुए बारबार आलिंगन करते हुए उसे जबरन विदा किया। छत्र–चामर से मंडित धनवती माता–पिता को नमस्कार करके, उत्तम शिविका में बैठकर सपरिवार आगे बढ़ने लगी। यह समुदाय चलता–चलता अचलपुर आ पहुँचा। साक्षात् धनकुमार की स्वयंवरा लक्ष्मी आई हो ऐसी धनवती को देखकर सभी पुरजनों को आश्चर्य हुआ। नगर के बाहर उद्यान में पड़ाव डाला गया। शुभ दिन में शुभ मुहूर्त्त में विपुल समृद्धि के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ। जिस प्रकार नागवल्ली से सुपारी का वृक्ष एवं विद्युत से नवीन मेघ शोभता है, उसी प्रकार उस नवोढ़ा से अभिनव यौवन वाला धनकुमार शोभित हुआ। रति के साथ कामदेव की भांति धनवती के साथ क्रीड़ा करते धनकुमार ने बहुत सा समय व्यतीत किया।

(गा. 88 से 96)

एक समय धनकुमार मानो प्रत्यक्ष रेवंत (अर्थात् सूर्यपुत्र) हो ऐसे अश्व पर बैठकर सुवर्ण के कुंडलों को चलायमान करता हुआ एक उद्यान में गया। वहाँ पृथ्वी को पवित्र करने वाले और चतुर्विध ज्ञानधारी वसुधर नामक मुनि को देशना देते हुए देखा। मुनि भगवन्त को वन्दन करके योग्य स्थान पर बैठकर कर्ण में अमृत निर्झरण अमृतास्रव सदृश देशना श्रवण करने लगा। उसके पश्चात् राजा विक्रमधन देवी धारिणी एवं धनवती भी वहाँ आ पहुँचे। उन सभी ने भी मुनिश्री को वंदन किया, एवं धर्मदेशना सुनने लगे। देशना पूर्ण होने के पश्चात् विक्रमधन राजा ने मुनिश्री से पूछा कि, भंते! जब धनकुमार का गर्भ में अवतरण हुआ, तब इसकी माता ने स्वप्न में एक आम्रवृक्ष देखा था, उसी समय किसी एक पुरुष ने कहा था कि यह वृक्ष नौ बार भिन्न–भिन्न स्थानों पर रोपा जाएगा और उससे उत्कृष्ट–उत्कृष्टतर फल प्राप्त होगा। हे महात्मन्! कुमार का जन्म हुआ, यह तो बात हमारी समझ में आई परंतु यह वृक्ष नौ बार उगेगा यह बात समझ में न आ सकी। भगवन् इसका क्या अर्थ है ? यह प्रसन्नतापूर्वक हमें बतलाइये। यह सुनकर उन महामुनि ने सम्यग्ज्ञान का उपयोग लगाकर अन्यत्र स्थित केवली भगवन्त मनद्वारा समाधिस्थ होकर पूछा। केवली भगवन्त ने केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी द्वारा प्रश्न ज्ञान करके नवभव को सूचित करने वाला श्री

अरिष्टनेमि प्रभु का चरित्र निर्देश दिया। इस प्रकार मनःपर्यव ज्ञान और अवधिज्ञान के द्वारा जानकर उन मुनि महाराज ने विक्रमधन राजा से कहा कि, 'यह तुम्हारा पुत्र धनकुमार इस भव से लेकर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट ऐसे नौ भव करेगा और नवें भव में ये इस भरत क्षेत्र में यदुवंश में बाइसवें तीर्थंकर होंगे।' इस प्रकार मुनिश्री के वचन सुनकर सभी को अतिशय हर्ष हुआ और तब से सर्व को जिनधर्म में आदर का भाव हुआ। राजा विक्रमधन आदि सर्वमुनि श्री को वंदन करके अपने आवास पर आए और मुनिश्री भी विहारक्रम में तत्पर होकर अन्यत्र प्रस्थान पर गये।

(गा. 97 से 109)

धनकुमार ऋतुओं के अनुसार दोगुंदक देव की भांति धनवती के साथ क्रीड़ा करते हुए विषयसुख का अनुभव करने लगा।

(गा. 110)

एक समय धनकुमार रूपसंपदा में लक्ष्मी की सपत्नि के समान धनवती के साथ मज्जन क्रीड़ी करने हेतु क्रीड़ा सरोवर पर गये। वहाँ अशोकवृक्ष के नीचे मानो मूर्तिमान् शांतरस हों ऐसे एक मुनि मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिरते हुए धनवती को दिखाई दिये। धर्म और श्रम की तृषा से व्याकुल थे। फलस्वरूप उनके तालु और ओष्ठपल्लव शुष्क हो गये थे। साथ ही उनके फटे हुए चरणकमल में से रुधिर निकलकर पृथ्वी पर बह निकला था। मुनि के बारे में धनवती ने अपने पति को बतलाया। संभ्रमित होकर दोनों ही जल्दी–जल्दी मुनि के पास आए। अनेक प्रकार के शीतल उपचार करके उनको सचेत किया। उस स्वस्थ हुए मुनि को प्रणाम करके धनकुमार बोले– हे महात्मन्! आज मैं धन्य हो गया, क्योंकि पृथ्वी में कल्पवृक्ष जैसे आप मुझे मिले। पर्यन्त देश में रहने वाले हमको, मरुदेश में रहने वाले प्राणियों को छाया वृक्ष की भांति आपका संसर्ग मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। हे भगवन्! मैं जानना चाहता हूँ कि आपकी इस प्रकार की दशा कैसे हुई ? यदि कहने में आपको खेद न हो और गुप्त रखने जैसा न हो तो भगवन्त हमें बताईये।

(गा. 111 से 117)

तब मुनिश्री ने फरमाया – 'परमार्थ से मुझे संसारवास का ही खेद है, अन्य किसी प्रकार का खेद नहीं है और यह खेद तो विहारक्रम से हुआ है, जो कि शुभ परिणाम वाला है। मेरा नाम मुनिचंद्र है। पूर्व में, मैं गुरु और गच्छ के

साथ विहार करता था। क्योंकि साधुओं की एक स्थान पर स्थिति नहीं होती। एक बार गच्छ के साथ विहार करते हुए दिग्भ्रम होने से अरण्य में रास्ता भूल गया। साथ ही भ्रष्ट होकर मैं इधर–उधर भटकने लगा। अंत में क्षुधा और तृषा से आक्रान्त होकर इस स्थान पर मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। तुमने शुभोपाय से मेरी मूर्च्छा दूर कर सचेत किया। हे महाभाग! हे अनध! तुमको बारबार धर्मलाभ हो। जिस प्रकार मैं पहले अचेतन होकर गिर पड़ा था, उसी प्रकार इस संसार में सबकुछ ऐसा ही है, इसलिए शुभेच्छु जनों को निरन्तर धर्म करना चाहिए। इस प्रकार कहकर मुनिचंद्र मुनीश्वर ने उनके योग्य श्री जिनोक्त सम्यक्त्वमूल गृहीधर्म का कथन किया। अतः धनकुमार ने धनवती सहित मुनिचंद्र मुनि को अपने आवास पर ले जाकर अन्न–पान से प्रतिलाभित किया। धनकुमार ने धर्मशिक्षा के लिए उन मुनि श्री को वहीं पर रोका। धनकुमार धर्मशिक्षा प्राप्त कर मुनि के गच्छ में सम्मिलित हो गये। तब से धनवती और धनकुमार परम श्रावक हो गए। ये दंपत्ति पहले ही परस्पर प्रीति रखते थे, धर्मकार्य में जुड़कर विशेष प्रीति वाले हो गए। राजा विक्रमधन ने जीवन के अंतसमय में धनकुमार को राज्य पर अभिषिक्त किया। धनकुमार श्रावक धर्म सहित विधिपूर्वक पृथ्वी का भी पालन करने लगे।

(गा. 118 से 128)

एक समय उद्यानपाल ने आकर धनकुमार को बधाई दी कि जो पहले यहाँ पधारे थे, वे वसुंधर मुनि उद्यान में पधारे हैं। ऐसा सुनकर धनकुमार धनवती को साथ लेकर तत्काल उद्यान में आए। मुनि को वंदना–पर्युपासना करके संसार सागर से तरने में विशाल नाविका जैसी देशना सुनी। फलतः संसार से उद्विग्न धनकुमार ने धनवती जयंत नामक पुत्र के पास संयम अंगीकार किया। बाद में उनके भाई धनदत्त और धनदेव ने भी दीक्षा ली। धनमुनि गुरु की छत्रछाया में कठिन तप करने लगे। अनुक्रम से गुरुजी ने गीतार्थ हुए उस मुनिपुंगव को आचार्य पद पर स्थापित किया। बहुत से राजाओं को प्रतिबोध देकर दीक्षा का अनुग्रह करके अंत में सद्बुद्धि वाले धनर्षि ने धनवती के साथ अनशन अंगीकार किया। एक मास के अंत में मृत्यु प्राप्त कर वे दोनों सौधर्म देवलोक में शक्र के समानिक महर्द्धिक देवता हुए। धनकुमार के बंधु धनदेव और धनदत्त एवं अन्य भी अखंडित व्रत का पालन करके मृत्यु के पश्चात् सौधर्म देवलोक में देवता हुए।

(गा. 129 से 136)

इस भरतक्षेत्र में वैताढ्यगिरि की उत्तरश्रेणी के आभूषणरूप सूरतेज नामक नगर में सूर नामक एक खेचर चक्रवर्ती राजा था। मेघ बिजली सहित जिस प्रकोप के साथ शोभायमान होता है उसी तरह उनके विद्युन्मति नामकी अतिप्रेमपात्र पत्नी थी। धनकुमार का जीव आयुष्य पूर्ण करके सौधर्मदेवलोक से च्यव कर सूर राजा की पत्नी विद्युन्मति के उदर में आये। समय पूर्ण होने पर चंद्र को पूर्णिमा प्रसवती है उसी प्रकार विद्युन्मति ने सर्व शुभलक्षण से संपूर्ण पुत्र को जन्म दिया। शुभ दिन में पिता ने आनंददायक बड़ा महोत्सव करके 'चित्रगति' नामकरण किया। अनुक्रम से बड़ा होने पर कलाचार्य के पास चित्रगति ने सर्व कलाएं हस्तगत की और कामदेव के समान यौवनवय को प्राप्त किया।

(गा. 137 से 142)

इसी समय उसी वैताढ्यगिरि की दक्षिण श्रेणी पर–स्थिति शिवमंदिर नामक नगर में अनंगसिंह नामक राजा थे। उनकी शशिप्रभा नाम की एक चंद्रमुखी रानी थी। उनकी कुक्षि में धनवती का जीव सौधर्म देवलोक से च्यवकर अवतीर्ण हुआ। समय पर शशिप्रभा रानी ने एक पवित्र अंगोंपांग वाली पुत्री को जन्म दिया। अनेक पुत्रों के पश्चात् जन्म होने से वह पुत्री सभी को अतिप्रिय थी। पिताजी ने शुभदिन के अवसर पर उसका रत्नवती नाम रखा। सजल स्थान में वल्लरी प्रायोग्य सर्व कलाएँ ग्रहण कर ली और शरीर के मंडन रूप पवित्र यौवनवय को प्राप्त किया। एक बार उसके पिताजी ने किसी नैमित्तिक से पूछा कि इस कन्या का वर कौन होगा? नैमित्तिक ने कुछ सोच कर कहा, जो तुम्हारे पास से खड्गरत्न का अपहरण कर लेगा और सिद्धायतन में वंदन करते समय जिसके ऊपर देवगण पुष्पवृष्टि करेंगे, वह नरलोक में मुकुटरूप पुरुष, योग्य अवसर पर तुम्हारी दुहिता रत्नवती को परणेगा। जो मेरे पास से खड्गरत्न झपट लेगा, ऐसा अद्भुत पराक्रमी मेरा जवांई होगा, ऐसा जानकर प्रसन्न हुए राजा ने नैमित्तिक को खुश करके विदा किया।

(गा. 143 से 151)

इसी समय में भरतक्षेत्र में चक्रपुर नामक नगर में गुणों में नारायण जैसा सुग्रीव नामक राजा था। उनके यशस्वती नाम की रानी से सुमित्र नाम का पुत्र हुआ और उसकी दूसरी भद्रा नामकी रानी से पद्म नामका पुत्र हुआ। ये अग्रज और अनुज हुए। इनमें से सुमित्र गंभीर विनीत, नम्र, वात्सल्यवान, कृतज्ञ और

जैनधर्मी हुआ। किन्तु, पद्म इन सबसे विपरीत स्वभाव का हुआ। एक समय अभद्र बुद्धिवाली भद्रा रानी ने विचार किया कि 'जब तक सुमित्र जीवित है, तब तक मेरे पुत्र को राज्य नहीं मिलेगा' ऐसा सोचकर उसने सुमित्र को तीक्ष्ण जहर दे दिया। विष के प्रभाव से सुमित्र मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और समुद्र में लहरों की तरह विष का वेग उसके शरीर में फैल गया। सुग्रीव राजा को समाचार मिलते ही वे संभ्रमित हो शीघ्र मंत्रियों के साथ वहाँ पर आये और मंत्र–तंत्रादि अनेक उपचार करने लगे फिर भी विष का असर किंचित् मात्र भी कम नहीं हुआ। भद्रा ने सुमित्र को जहर दिया, संपूर्ण नगर में यह बात फैल गई। अपने पाप के प्रगट होते देख भद्रा वहाँ से अन्यत्र भाग गई। राजा ने पुत्र के निमित्त अनेक प्रकार की जिनपूजा और शांतिहेतू–पौष्टिक कर्म कराए पुत्र के सद्गुणों का स्मरण कर करके राजा अविच्छिन्न रूप से विलाप करने लगा और सामंत, मंत्रिगण भी निरुपाय होकर उसी प्रकार करने लगे।

(गा. 152 से 160)

इसी समय चित्रगति विद्याधर आकाश में क्रीड़ा हेतु भ्रमण कर रहा था, वह विमान में बैठकर वहाँ आ पहुँचा। उसने पूरे ही नगर को शोकातुर देखा। विष संबंधी सम्पूर्ण वृत्तांत जानकर विमान से नीचे उतरा एवं विद्या से मंत्रित जल को कुमार पर सिंचन किया। कुमार ने तत्क्षण नेत्र खोले। स्वस्थ होकर सुमित्र बैठ गया। यह क्या है? पूछने लगा। कहा है– 'मंत्रशक्ति निरवधि है।'

(गा. 161 से 163)

राजा ने सुमित्र से कहा, 'हे वत्स! तेरी वैरिणी छोटी माता भद्रा ने तुझे विष दिया था एवं इस निष्कारण बंधु समान महापुरुष ने विष का शमन कर दिया। सुमित्र ने अंजलि बनाकर करके चित्रगति से कहा, 'परोपकार बुद्धि से ही आपका उत्तम कुल मुझे ज्ञात तो हो गया, फिर भी अपना कुल बतलाकर मुझ पर अनुग्रह करो, क्योंकि महान् पुरुषों का वंश जानने को किसका मन उत्कंठित नहीं होता? चित्रगति राजा के साथ आए हुए उसके मंत्री पुत्र ने सबको श्रवण में सुखदायक कुलादिक का वृत्तांत कह सुनाया। यह सुनकर सुमित्र हर्ष से बोला, 'आज मुझपर विष देने वाले ने अत्यंत उपकार किया है, नहीं तो आप जैसे महात्मा का संयोग कहाँ से होता? और फिर आपने मुझे जीवनदान ही नहीं दिया, वरन् पद्मक्खाण और नवकार मंत्र से रहित होने

वाली मृत्यु और तद्जन्य दुर्गति से मुझे बचा लिया। हे कृपानिधि! वर्षाऋतु के मेघ का जीवलोक की तरह अतुल उपकारी आपका मैं क्या प्रत्युपकार करूँ? किन्तु चित्रगति ने मित्र सुमित्र से अपने नगर में जाने की अनुमति मांगी। तब सुमित्र ने कहा, 'प्रियभाई! यहाँ से समीप में सुयशा नामक केवली भगवन्त हैं, वे विहार करते हुए इसी तरफ आ रहे हैं। वे जब अनुक्रम से यहाँ आवें, तब उनको वंदन करके बाद में जाना। तब तक आप उनकी राह देखते हुए यहीं रहने का अनुग्रह करो। चित्रगति ने स्वीकार किया, उसने वहाँ रहकर जुगलबंधु की भांति सुमित्र के साथ क्रीड़ा करते हुए कई दिन व्यतीत किये।

(गा. 164 से 174)

एक दिन दोनों ही उद्यान में गये। वहाँ पर उन्होंने देखा कि जंगम कल्पवृक्ष के तुल्य सुयशा नामक केवली पधारे हैं। सुवर्ण कमल पर स्थित, अनेक देवताओं से परिवृत्त और जिनके समागत की बहुत काल से इच्छा थी, ऐसे केवली मुनि भगवंत को देखकर प्रमुदित हुए उनको प्रदक्षिणा देकर, वंदन कर दोनों समीप ही बैठ गये। उनके आगमन के समाचार सुनकर सुग्रीव राजा भी उनको वंदन करने हेतु आए। मुनि ने मोहरुपी निद्रा में दिवामुख अर्थात् प्रातःकाल जैसी धर्मदेशना दी। देशना के अंत में चित्रगति ने मुनि को नमस्कार करके कहा, 'हे भगवन! आपने कृपा करके मुझे अति उत्तम बोध दिया है। हे प्रभु! श्रावक पना तो मेरे कालक्रम से चल रहा है, परंतु इस अभागे को जैसे सन्मुख रही निधि का भी भान नहीं होता उसी तरह आप यहाँ विचर रहे हैं, यह मुझे विदित नहीं होता। यह सुमित्र मेरा अतुल उपकारी है कि जिसने ऐसे सद्धर्म उपदेशक के चरणों के दर्शन कराए।' इस प्रकार कहकर उस सद्बुद्धि वाले चित्रगति ने उन मुनि के पास समकितपूर्वक गृहस्थधर्म स्वीकारा। पश्चात् सुग्रीव राजा ने मुनि को प्रणाम करके पूछा– 'हे भगवन्! इस मेरे महात्मा पुत्र को विष देकर वह भद्रा स्त्री कहाँ गई?' मुनि ने कहा– 'वह स्त्री यहाँ से भाग कर अरण्य में गई, वहाँ चोरों ने उसके आभूषण ले लिए और उसे पल्लिपति को सौंप दिया। पल्लिपति ने एक वणिक् को उसे बेच दिया। वहाँ से भी वह भाग गई। और मार्ग में एक बड़े दावानल में दग्ध हो गई। वहाँ वह रौद्र ध्यान में मरकर प्रथम नरक में गई है। वहाँ से च्यव कर वह एक चांडाल के घर में स्त्री होगी। उसके सगर्भा होने पर उसकी सपत्नी उससे कलह करके छुरी द्वारा उसे मार डालेगी। वहाँ से मरकर वह तीसरी नरक में जावेगी और बाद में वह तिर्यञ्चयोनि

में उत्पन्न होगी। इस प्रकार तुम्हारे सम्यग्दृष्टि पुत्र को जहर देने के पाप से वह संसार में परिभ्रमण करती हुई अनंत दुःख का अनुभव करेगी।'

(गा. 175 से 187)

सुग्रीव राजा ने कहा– 'हे भगवन्! उस स्त्री ने जिसके लिए ऐसा कृत्य किया, उसका यह पुत्र तो यहाँ है और वह नरक में गई है। अतः राग द्वेषादि का रूप महादारुण है। ऐसे इस संसार को धिक्कार है अब तो मैं ऐसे संसार को त्यागकर दीक्षा ग्रहण करुंगा।' उस समय उनको प्रणाम करके सुमित्र ने इस प्रकार कहा कि, 'हे पिताश्री! मेरी माता के इस प्रकार के कर्मबंध के कारण ऐसा रूप मुझे धिक्कार है। अतः हे स्वामिन्! मुझे आज्ञा दो कि जिससे मै शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण करुँ, क्योंकि अतिदारुण इस संसार में रहने की कौन इच्छा करे?' इस प्रकार कहते हुए पुत्र को आज्ञा से निवार कर अर्थात् मना करके सुग्रीव राजा ने उसका राज्याभिषेक किया, और स्वयं ने व्रत ग्रहण किया। तत्पश्चात् सुग्रीव राजर्षि ने उन केवली के साथ विहार किया। सुमित्र चित्रगति के साथ अपने नगर में आया।

(गा. 188 से 193)

अपनी अपरमाता भद्रा के पुत्र पद्म को उसने कितने गाँव दिये, परंतु वह दुर्विनीत उससे संतुष्ट न होकर वहाँ से अन्यत्र चला गया। चित्रगति बड़ी कठिनाई से सुमित्र राजा की आज्ञा लेकर अपने उत्कंठित माता पिता को मिलने अपने नगर में गया। वहाँ देवपूजा, गुरु की उपासना, तप, स्वाध्याय और संयमादिक में निरन्तर तत्पर रहने से अपने माता–पिता को अत्यन्त सुखदायक हो गया।

(गा. 194 से 196)

अन्यदा नामक सुमित्र की एक बहन जिसकी कलिंग देश के राजा के साथ शादी की थी, उसका अनंगसिंह राजा के पुत्र और रत्नवती के भाई कमल ने अपहरण कर लिया। 'अपनी बहन का अपहरण होने से सुमित्र शोकमग्न है' ये समाचार किसी खेचर के मुख से उसके मित्र चित्रगति ने सुना तो कहा कि मैं तुम्हारी बहन को थोड़े समय में ही ढूंढ लाऊँगा, इस प्रकार खेचरों के द्वारा ही सुमित्र को धैर्य बंधाकर चित्रगति उसकी खोज में तत्पर हुआ। पश्चात् कमल ने उसका हरण किया, ऐसे समाचार जानकर चित्रगति सर्व सैन्य को लेकर

शिवमंदिर नगर में आया। वहाँ हाथी जिस प्रकार कमल के खंड कर उन्मूलन करता है, उसी प्रकार शूर राजा के शूरवीर पुत्र ने लीलामात्र में कमल का उन्मूलन कर दिया। पुत्र का पराभव हुआ जानकर अनंगसिंह राजा सिंह के समान क्रोधित हुआ और सिंहनाद कर सैन्य को लेकर दौड़ा चला आया। विद्याबल से, सैन्य बल से और भुजाबल से उन दोनों के बीच देवताओं को भी भयंकर लगे, ऐसा महासंग्राम होने लगा। अंत में अनंगसिंह को चित्रगति शत्रु को जीतना अशक्य जानकर उसको जीतने की इच्छा से देवताओं द्वारा प्रदत्त क्रमागत खड्गरत्न का स्मरण किया। सैंकड़ों ज्वालाओं से दुरालोकर (कठिनाई से देखा जाय) और शत्रुओं के लिए यमराज (काल) जैसा वह खड्गरत्न क्षणभर में उसके हाथ में आ गया। वह खड्ग हाथ में लेकर अनंगसिंह बोला, 'अरे बालक! अभी तू यहाँ से चला जा, नहीं तो मेरे सन्मुख रहा तो तेरा मस्तक कमलनाल की तरह इस खड्ग से छेद दूंगा।' चित्रगति आश्चर्य से बोला, 'अरे मूढ़! मुझे तो अभी तू कुछ और ही हो गया है, ऐसा लगता है, क्योंकि एक लोहखंड के बल से तू इतनी गर्जना कर रहा हैं। परन्तु अपने बल से रहित ऐसे तुझे धिक्कार है।' इस प्रकार कहकर चित्रगति ने विद्या से सर्वत्र अंधकार की विकुर्वणा की। जिससे शत्रुओं को अपने सामने कुछ भी दिखाई नहीं देने लगा। एवं खड्ग झपट लिया और सुमित्र की बहन को लेकर शीघ्र ही वहाँ से चल दिया। क्षणभर में तो अंधकार दूर होकर पुनः प्रकाश हो गया। तब अनंगसिंह ने देखा तो हाथ में खड्ग दिखाई नहीं दिया और सामने शत्रु भी दिखाई नहीं दिया। क्षणभर तो वह उसके लिए व्यथित हुआ परन्तु बाद में ज्ञानी के वचन उसे स्मरण हो आए कि मेरे खड्ग का हरण करने वाला मेरा जमाता होगा, इससे वह खुश हो गया। परंतु अब मैं उसे पहचानूंगा कैसे? ऐसे सोचते–सोचते उसे ख्याल आया कि सिद्धायतन में वंदना करते समय उसके ऊपर देवता पुष्पवृष्टि करेंगे, उससे उसे पहचान लूंगा। इस प्रकार ज्ञानीपुरुष ने कहा था, अतः चिन्ता का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार विचार करके अपने घर चला गया।

(गा. 197 से 212)

बुद्धिमान् चित्रगति कृतार्थ होकर अखंड शीलवती सुमित्र की बहन को लेकर सुमित्र के पास आया और उसे सुमित्र को सौंप दी। सुमित्र राजा पहले से ही अपने विवेक से संसार से उद्विग्न था, उस पर बहन के अपहरण के पश्चात्

तो विशेष रूप से संसार से निर्वेद हो गया। जैसे ही बहन आई कि तुरंत अपने पुत्र को राज्य देकर चित्रगति के समक्ष उसने सुयश मुनि के पास जाकर दीक्षा अंगीकार कर ली। चित्र स्वस्थान लौट आया।

(गा. 213 से 215)

प्राज्ञ सुमित्र राजर्षि ने गुरु के पास कुछ न्यून नव पूर्व का अध्ययन किया। पश्चात् गुरु की आज्ञा लेकर एकाकी विचरण करते हुए मगध देश में आया– वहाँ किसी गांव के बाहर कायोत्सर्ग में रहे। इतने में उसका अपरमाता पुत्र सपत्नी बंधु पद्म वहाँ आ पहुँचा। उसने सर्व जीव के हितकारी सुमित्र मुनि को गिरी में सदृश स्थिर रहकर ध्यान में स्थित देखा। उस वक्त मानो अपनी माता भद्रा को मिलने जाना चाहता हो वैसे नरकाभिमुख हुए पद्म को कान तक खींच कर सुमित्र के हृदय में एक बाण मारा। परन्तु इस भाई ने बाण मारकर मेरा कुछ धर्मभ्रष्ट किया नहीं, बल्कि धर्म का छेद करने में सहायक रूप मित्र होने से उलटा वह तो मेरा हितकारी हुआ है। मैंने पूर्व में इस भद्र को राज्य नहीं दिया, इसलिए मैंने उसका अपकार किया है, अतः वह मुझे क्षमा करे एवं सभी प्राणी भी मुझे क्षमा करें। इस प्रकार शुभ ध्यान ध्याते हुए, सर्व प्रकार के प्रत्याख्यान करके, नमस्कार मंत्र का स्मरण करते हुए मृत्यु के पश्चात् सुमित्र मुनि ब्रह्मदेवलोक में इंद्र के समानिक देव हुए। इधर पद्म वहाँ से भाग रहा था, इतने में रात्रि में उसे काले सर्प ने डंस लिया। जिससे मर कर वह सातवें नरक में गया।

(गा. 216 से 223)

सुमित्र की मृत्यु के समाचार सुनकर महामति चित्रगति चिरकाल तक शोक करके यात्रा करने के लिए सिद्धायतन में गये। उस समय वहाँ यात्रा में अनेक खेचरेश्वर एकत्रित हुए थे। उसमें अनंगसिंह राजा भी अपनी पुत्री रत्नवती को लेकर आया था। चित्रगति ने वहाँ शाश्वत प्रभु की विचित्र प्रकार से पूजा की। बाद में अंग में रोमांचपूर्वक विचित्र वाणी से उसने प्रभु की स्तुति की। उस समय देवता बना सुमित्र अवधिज्ञान से जागकर वहाँ आया उसने अन्य देवताओं के साथ चित्रगति के ऊपर पुष्पवृष्टि की। खेचर हर्षित होकर चित्रगति की प्रशंसा करने लगे। तब अनंगसिंह राजा ने भी पुत्री के वर रूप से उसे पहचान लिया।

(गा. 224 से 228)

तत्पश्चात् सुमित्र देव प्रत्यक्ष होकर अत्यन्त हर्ष से बोला– 'हे चित्रगति! तुम मुझे पहचानते हो?' चित्रगति ने कहा– तुम कोई महर्द्धिक देव हो, ऐसा मैं जानता हूँ। पीछे सुमित्रदेव ने पहचानने के लिए अपना मूल रूप बतलाया। चित्रगति उसका आलिंगन करता हुआ बोला– 'हे महामति! तुम्हारे प्रसार से ही मैंने इस निरवद्य जैन धर्म को प्राप्त किया है।' तब सुमित्र ने कहा– 'उससे ही मैं इस समृद्धि को पा सका हूँ। परंतु यदि उस समय पच्चक्खाण और नवकार मंत्र मृत्यु रहित होती तो मैं मनुष्यजन्म भी नहीं पा सकता और इस स्थिति तक भी नहीं पहुँच पाता। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की प्रशंसा करने वाले दोनों कृतज्ञ मित्रों को देखकर सूर चक्रवर्ती प्रमुख सर्व खेचरेश्वर खूब हर्षित हुए। उस समय रूप और चारित्र से अनुपम ऐसे चित्रगति को देखकर अनंगसिंह की पुत्री रत्नवती काम के बाणों से बिंध गई। अपनी पुत्री को व्याकुल हुई देखकर अनंगसिंह ने विचार किया कि, 'ज्ञानी ने जो पूर्व में कहा था, वह अक्षरशः मिलता आया है। खड्गरत्न हरण कर लिया, पुष्पवृष्टि भी हो गई और मेरी पुत्री को अनुराग भी तत्काल ही उत्पन्न हुआ है। इसलिए ज्ञानी के वचनों के अनुसार यह पुरुष मेरी पुत्री रत्नवती के योग्य है। ऐसी दुहिता और जमाता के कारण मैं इस जगत में श्लाघ्य रूप हो जाऊंगा। परंतु यहाँ देवस्थान में लग्न संबंधादिक सांसारिक कार्य के विषय में परिवार के साथ अपने निवास स्थान पर गया, और सुमित्र देव और खेचरों को सत्कार पूर्वक विदा करके चित्रगति भी अपने पिता के साथ अपने घर आया।

(गा. 229 से 240)

अनंगसिंह ने निवास स्थान पर आकर एक मंत्री को सूरचक्री के पास भेजा। उसने वहाँ जाकर प्रणाम करके निष्कपट विनयपूर्वक इस प्रकार कहा, 'हे स्वामिन्! आपका कुमार चित्रगति कामदेव जैसा है। साथ ही अपने अनुपम और लावण्य से उसने किसे आश्चर्यचकित नहीं किया?' हे प्रभु! अनंगसिंह की रत्नसमान पुत्री रत्नवती का संबंध चित्रगति के साथ करो। उन दोनों का विवाह आपकी सहमति पर ही निर्भर है। इसलिए हे नरसिंह! अनंगसिंह राजा का संदेशा मान्य करके मुझे आज ही विदा होने का आदेश दें। सूरराज ने उचित योग की इच्छा से उसका वचन स्वीकार किया। पश्चात् महोत्सवपूर्वक उनका विवाह सम्पन्न किया।

(गा. 241 से 245)

चित्रगति रत्नवती के साथ विषयसुखों का भोग करने लगा और अर्हत् पूजादिक धर्माचरण भी करने लगा। जो धनदेव और धनदत्त के जीव थे, वे वहाँ से च्यव कर इस भव में भी मनोगति और चपलगति नाम से चित्रगति के अनुजबंधु हुए थे। उन दोनों भाईयों और रत्नवती को साथ लेकर चित्रगति इंद्र की तरह नंदीश्वरादिक द्वीप में यात्रा करने लगा। हमेशा समाहित होकर अरिहंत प्रभु के पास जाकर धर्मश्रवण में और भार्या एवं भाईयों के साथ साधुजनों की सेवा में तत्पर रहने लगा।

(गा. 246 से 249)

अनंगसिंह ने सूरचक्रवर्ती को राज्यसिंहासन पर बिठा कर दीक्षा अंगीकार की और उत्कृष्ट चारित्र साधना कर कर्म खपाकर अंत में मोक्ष पधारे। चित्रगति मानो नवीन चक्रवर्ती हो ऐसे अनेकानेक विद्याओं को साधकर अनेक खेचरपतियों को अपना सेवक बनाकर अपना अखंड शासन चलाने लगा। एक बार मणिचूल नामक उनका कोई सामंत राजा मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके शशि और शूर नामक दो पुत्र थे। पिता के अवसान के पश्चात् दोनों राज्य के लिए लड़ने लगे। यह सुनकर चित्रगति वहाँ गया और दोनों को राज्य बांट दिया। साथ ही युक्तिपूर्वक धर्मवाणी से समझाकर उनको सन्मार्ग में स्थापित किया। फिर भी एक बार दोनों वनहस्तियों की तरह युद्ध करते हुए खत्म हो गये। यह सुनकर महामति चित्रगति का चिंतन चल पड़ा कि 'इस नाशवंत लक्ष्मी के लिए जो मंदबुद्धि वाले युद्ध करते हैं, मरण प्राप्त करते हैं और दुर्गति में पड़ते हैं, उनको धिक्कार है। वे जैसे शरीर की अपेक्षा रखे बिना लक्ष्मी के लिए उत्साह रखते हैं, उसी प्रकार जो यदि मोक्ष के लिए उत्साह रखे तो उनको क्या कमी हो सकती है? ऐसा विचार कर संसार से उद्विग्न हो चित्रगति ने रत्नवती के ज्येष्ठ पुत्र पुरंदर का राज्याभिषेक करके रत्नवती व अपने दोनों अनुज बंधुओं के साथ दमन्धर नामके आचार्य के पास चारित्र ग्रहण किया। चिरकाल तक तप करके अंत में पादपोपगम अनशन करके मृत्यु के पश्चात् चित्रगति महेन्द्र कल्प में परमार्द्धिक देवता हुआ। रत्नवती और उसके दोनों कनिष्ट बंधु भी उसी देवलोक में परस्पर प्रीति रखने वाले देवता हुए।

(गा. 250 से 260)

पूर्व विदेह में पद्म नामक विज्य में सिंहपुर नामक नगर देव तुल्य नगर था। उस नगर में जगत को आनंददायक और सूर्य की तरह अन्यों के तेज को

मंद करने वाला हरिणंदी नाम का राजा था। उनके पीयुषस्यन्दिनी अमृत वृष्टि करने वाली कौमुदी सरीखी जो नाम और दर्शन से प्रियदर्शना नामकी पटरानी थी। चित्रगति का जीव महेन्द्र देवलोक से च्युत होकर उस प्रियदर्शना की कुक्षि में महास्वप्न को सूचित करता हुआ अवतीर्ण हुआ। समयपूर्ण होने पर जिस प्रकार पांडुकवन की भूमि कल्पवृक्ष को जन्म देती है, वैसे ही देवी प्रियदर्शना ने एक प्रियदर्शन पुत्र को जन्म दिया। राजा ने उसका अपराजित नामांकन किया। धात्रियों से लालित वह बालक अनुक्रम से बड़ा हुआ। सर्व कला संपादन करके, यौवनवय प्राप्त होने पर वह कामदेव जैसा पुण्य–लावण्य का समुद्र हुआ। उसका बाल्यवय से ही धूलिक्रीड़ा करने वाला साथ ही अध्ययन करने वाला विमलबोध नामक एक मंत्रीपुत्र उसका परम मित्र था।

(गा. 261 से 268)

एक बार वे दोनों ही मित्र अश्वारूढ़ होकर क्रीड़ा करने के लिए बाहर गये। इतने में उनका तीव्रगति वाला अश्व उनका हरण करके बहुत दूर एक महाअटवी में ले गया। वहाँ पहुँच कर वे अश्व शांत होने से खड़े हो गये। अतः वे दोनों एक वृक्ष के नीचे उतरे। राजपुत्र अपराजित ने अपने मित्र विमलबोध से कहा, 'हे मित्र! ये अश्व अपने को हरण करके यहाँ ले आए, वह बहुत अच्छा हुआ नहीं तो अनेक आश्चर्यों से पूर्ण ऐसी पृथ्वी को हम कैसे देखते? यदि हम बाहर जाने की आज्ञा भी मांगते तो अपने विरह को सहन न करने वाले अपने माता–पिता अपने को कभी भी आज्ञा नहीं देते, इससे यह बहुत अच्छा रहा। अपना इन अश्वों ने हरण किया है, अपने माता–पिता को दुःख तो अवश्य लगेगा, परन्तु हम तो यथेच्छ घूम फिर सकेंगे। माता–पिता तो जो हुआ, वह सहन करेंगे। राजपुत्र के इन वचनों को मंत्रीपुत्र ने एवमस्तु कहकर समर्थ किया। इतने में 'रक्षा करो' 'रक्षा करो' 'बचाओ–बचाओ' कहता हुआ कोई पुरुष वहाँ आया। उसके सारे अंग कांप रहे थे और लोचन व्याकुल हो रहे थे। उसको शरण में आया हुआ देखकर कुमार ने उसे कहा– डरो मत। तब मंत्रीपुत्र ने राजकुमार से कहा– 'तुमने यह सोचे बिचारे बिना बोल दिया, यदि यह पुरुष अन्यायी निकला तो?

(गा. 269 से 276)

परन्तु शरणागतों की रक्षा करना तो क्षात्रधर्म ही है, चाहे वह न्यायी हो या अन्यायी, कुमार ने कहा। इतने में तो मारो–मारो, पकड़ो–पकड़ो बोलते हुए

और तीक्ष्ण खड्गों को उठाये हुए अनेक आरक्षक पुरुष वहाँ आ गये और कहने लगे, अरे मुसाफिरों! सारे नगर को लूटने वाले इस लुटेरे पुरुष को तुम छोड़ दो, हम इसे मार डालेंगे, दूर से ही ऐसा वे कहने लगे। कुमार ने हंसकर कहा, यह पुरुष मेरी शरण में आया है, अब इंद्र का भी इसे मारना संदेहास्पद है तो दूसरे की तो बात ही क्या? ऐसा सुनने पर वे आरक्षक क्रोध से उन पर प्रहार करने लगे। तब मृगों को जैसे सिंह मार डालता है, उसी भांति कुमार खड्ग उठाकर मारने को दौड़ा। आरक्षकों ने कौशल पति को कहा। कौशलेश ने चोर के रक्षक को मारने की इच्छा से एक बड़ी सेना भेजी। अपराजित कुमार ने क्षणभर में उसे जीत लिया। तब राजा घोड़े, हाथी आदि असवारों के साथ वहाँ आया। उनको देखकर अपराजित कुमार ने चोर को मंत्रीपुत्र के सुपुर्द कर दृढ़ परिकर बद्ध होकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हुआ। सिहं की तरह एक हाथी के दांत पर पैर रखकर उसके कुंभस्थल पर चढ़ गया, तथा उसके गजस्वार को मार डाला और उस हाथी पर बैठकर अपराजित कुमार युद्ध करने लगा। इतने में एक मंत्री ने उसे पहचान कर राजा को बताया। तब कौशलेश्वर सभी सैनिकों को युद्ध करने का निषेध करते हुए बोले, अरे यह कुमार तो मेरे मित्र हरिणंदी का पुत्र है, ऐसा कहकर कुमार को सम्बोधित करके कहा– शाबास! तेरे अद्भुत पराक्रम को धन्य है। वास्तव में तू मेरे मित्र का पुत्र है, क्योंकि सिंह के बालक के बिना हाथी को मारने में कौन समर्थ है? हे महाभुज। 'अपने घर से दूसरे घर जैसे कोई जाता है, उसी प्रकार भाग्ययोग से तूं मेरे घर आया है, यह बहुत अच्छी बात है।' इस प्रकार कहकर उन्होंने हाथी पर बैठे–बैठे ही उसको आलिंगन किया। पश्चात् लज्जा से जिसका मुखकमल नम्र हो गया ऐसे कुमार को अपने हाथी पर बिठाकर पुत्र की भांति वात्सल्य भाव से अपने घर ले आया। उस चोर को विदा करके मंत्री पुत्र भी अपराजित कुमार के पीछे–पीछे वहाँ आया। दोनों मित्र कौशलराजा के घर आनंद से रहने लगे। आनंदित हुए कौशलपति ने अपनी एक कन्या कनकमाला का विवाह अपराजित कुमार से किया। अनेक दिन वहाँ व्यतीत करके एक दिन अपने देशांतर जाने में विघ्नरूप न हो इसलिए किसी को भी कहे बिना अपराजित कुमार अपने मित्र सहित रात्रि के गुप्त रीति में निकल गया।

(गा. 277 से 293)

आगे जाते–जाते एक कालिकादेवी मंदिर के निकट पहुँचा। अरे! यह पृथ्वी पुरुष बिना की हो गई क्या? रात्रि में किसी का रुदन और कथन उनको सुनाई दिया। स्वर को पहचान कर, अरे! यह तो कोई स्त्री रो रही है। ऐसा निश्चय करके कृपालु कुमार शब्दपति बाण की तरह शब्द का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ा। वहाँ प्रज्वलित अग्नि के पास बैठी हुई एक स्त्री और तीक्ष्ण खड्ग को खींचकर खड़ा हुआ पुरुष दिखाई दिया। उन्होंने सुना, जो पुरुष हो इस अधम विद्याधर से मेरी रक्षा करे। ऐसे बोलती हुई कसाई के घर में रही भेड़ की तरह वह स्त्री पुनः क्रंदन करने लगी। यह देख कुमार ने उस पुरुष को आक्षेप पूर्वक कहा, 'अरे! पुरुषाधम! मेरे साथ युद्ध करने के लिए तैयार हो जा। इस अबला पर अपना क्या पराक्रम दिखला रहा है? यह सुनकर इस स्त्री की भांति तुम पर भी मेरा पराक्रम होगा, ऐसा बोलता हुआ वह खेचर खड्ग खींच कर युद्ध करने के लिए कुमार के नजदीक आया। वे दोनों ही कुशल पुरुष परस्पर आघात को बचाते हुए बहुत देर तक खड्गाखड्गी युद्ध करने लगे। उसके बाद भुजा युद्ध करने लगे। बाहुयुद्ध में भी अपराजित को अजेय जानकर उस विद्याधर ने उसे नागपाश में बांध लिया कुमार तब कोप करके उन्मत्त हाथी की तरह जैसे बांधी हुई रस्सी को तोड़ देते हैं, वैसे उसने पाश को तोड़ दिया। फिर उस विद्याधर ने असुरकुमार की तरह क्रोध करके विद्या के प्रभाव से विविधि प्रकार के आयुधों से कुमार पर प्रहार किया, परंतु पूर्वपुण्य के प्रभाव से और देह के सामर्थ्य से वे प्रहार कुमार को हराने में जरा भी समर्थ नहीं हुए। उस समय सूर्य उदयाचल पर चढ़ा, अतः कुमार ने खड्ग के द्वारा खेचर के मस्तक पर प्रहार किया, जिससे मूर्च्छित होकर वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसी समय मानों कुमार की स्पर्धा कर रहा हो वैसे कामदेव ने भी अपने बाणों के द्वारा उस स्त्री पर प्रहार किया। फिर कितनेक उपचारों द्वारा उस खेचर को सचेतन करके कुमार ने कहा कि, 'अभी भी तू समर्थ हो तो पुनः युद्ध कर।' विद्याधर बोला, हे वीर! तुमने मुझे अच्छी तरह से जीत लिया है, इतना ही नहीं परंतु इस स्त्री के वध से और फलस्वरूप उससे प्राप्त होने वाले नरक से भी मुझे अच्छी तरह बचा लिया है। हे बंधु! मेरे वस्त्र के पल्ले की बांठ में एक मणि और मूलिका बंधी हुई है। उस मणि के जल द्वारा मूलिका को घिसकर उसे मेरे व्रण पर लगा। कुमार ने वैसा ही किया तो वह तत्काल सज्ञ हो गया। फिर कुमार के पूछने पर वह अपना वृत्तान्त कहने लगा।

(गा. 294 से 310)

वैताढ्य पर्वत पर रथनुपूर नामक नगर के खेचरपति अमृतसेन की यह दुहिता है। उसके वर के लिए पूछने पर गुणरत्न का सागर हरिनंदी राजा का पुत्र अपराजित नामक युवा पुत्र इस कन्या का वर होगा, 'ऐसा किसी ज्ञानी ने कहा था। तभी ये यह बाला उस पर अनुरक्त थी। जिससे अन्य किसी पर अपना मन नहीं लगाती थी। एक बार यह बाला मेरे देखने में आई, जिससे मैंने वरण की मांगी की। उसने कहा कि कुमार अपराजित मेरा पाणिग्रहण करे अथवा मेरे अंगों को अग्नि दहन करे उसके सिवा मेरी कोई गति नहीं है। उसके ऐसे वचन से मुझे बहुत गुस्सा आया। मैं श्रीषेण विद्याधर का सूरकांत नामक पुत्र हूँ। उसी दिन से मुझे उससे पाणिग्रहण का आग्रह बंध गया। उसके बाद नगर से निकलकर मैंने अनन्त दुःसाध्य विद्याओं को भी साधित किया। फिर पुनः विविध उपायों से मैंने उससे प्रार्थना की। तथापि इस बाला ने जब मेरी इच्छा को स्वीकारा नहीं, तब मैं उसका हरण करके यहाँ ले आया क्योंकि 'कामांध पुरुष क्या नहीं करता?' जब इस स्त्री ने मेरी प्रार्थना को स्वीकारा नहीं, तब इसके शरीर को अग्नि से दहन करके इस रूप की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए खड्ग द्वारा खंडित करके मैं इसे अग्नि में डालने को तत्पर हुआ था कि इतने में आकर आपने इसे मौत के मुँह से बचा लिया। इसलिए तुम हम दोनों के उपकारी हो। हे महाभुज! अब कहो, तुम कौन हो? तब मंत्रीपुत्र ने उसे कुमार का कुल, नाम आदि कह सुनाया, यह सुनकर अकस्मात् प्राप्त हुए इष्ट समागम से रत्नमाला अत्यन्त खुश हुई। उस समय उसके पीछे शोध के लिए निकले हुए कीर्तिमति और अमृतसेन नाम के उसके माता-पिता वहाँ आ पहुँचे। उनके पूछने पर मंत्री पुत्र ने उनको भी सर्व वृत्तांत कह सुनाया। अतः जो त्राता था वही उसका पाणिग्रहण करने वाला हुआ, यह जानकर वे बहुत खुश हुए। पश्चात् उनके कहने पर रत्नमाला से विवाह किया और उसके कहने से सूरकांत विद्याधर को अभयदान दिया। सूरकांत विद्याधर ने उस निस्पृह कुमार अपराजित को मणि और मूलिका दी और मंत्रीपुत्र को दूसरा वेष कर सके, ऐसी गुटिका दी। पश्चात् जब मैं अपने स्थान पर जाऊँ, तब आपकी पुत्री को वहाँ भेज देना, ऐसा अमृतसेन को कहकर अपराजित कुमार आगे चल दिया। पुत्री सहित अमृतसेन तथा सूरकांत विद्याधर अपराजित को याद करते करते अपने-अपने स्थान पर गये।

(गा. 311 से 326)

आगे जाने पर कुमार एक महाअटवी में पहुँचें, वहाँ उसे अत्यन्त तृषा लगने से वह एक आम्रवृक्ष के नीचे बैठ गया और मंत्रीपुत्र जल की शोध करने के लिए गया। कुछ दूर जाकर जल लेकर मंत्रीपुत्र लौट आया, तो आम्रवृक्ष के नीचे अपराजित कुमार दिखाई नहीं दिया। तब वह सोचने लगा, 'लगता है भ्रांति से मैं वह स्थान भूल कर दूसरे स्थान पर आ गया हूँ! अथवा क्या अति तृषा के कारण कुमार स्वयं ही जल लेने गये हैं।' ऐसा सोचता हुआ कुमार को ढूंढने के लिए वह एक–एक वृक्ष के पास घूमने लगा। परंतु किसी भी स्थान पर उसका पता न मिलने से वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। कुछ समय पश्चात् सचेत होने पर करुण स्वर में रोने लगा और बोलने लगा, हे कुमार! तेरी आत्मा को बता, तू क्यों वृथा मुझे व्यथित कर रहा है? हे मित्र! कोई भी मनुष्य तेरा अपकार या प्रहार करने में समर्थ नहीं है, तेरे दर्शन में कुछ मंगलमय हेतु भी संभव नहीं है। इस प्रकार अनेक प्रकार से विलाप करता हुआ उसे ढूंढता, गांव–गांव में घूमता–घूमता– नंदिपुर नगर में आया। उस नगरी के बाहर उद्यान में मंत्रीपुत्र दुःखी मन से खड़ा रहा। इतने में दो विद्याधर वहाँ आकर उसे इस प्रकार कहने लगे, 'एक महावन में भुवनभानु नामका एक विद्याधन राजा है जो कि महाबलवान और परम ऋद्धिवाला है। वह एक महल की विकुर्वणा करके वन में ही रहता है। उसके कमलिनी और कुमुदनी नामकी दो पुत्रियाँ है। उनका वर तुम्हारा प्रिय मित्र होगा, ऐसा किसी ज्ञानी पुरुष ने कहा था। इसलिए हमारे स्वामी ने उनको लाने के लिए हमको भेजा था। हम उस वन में आए, तब तुम दोनों मित्रों को हमने देखा। तुम जल लेने गए तब हमने अपराजित कुमार का हरण करके उनको हमारे स्वामी भुवनभानु के पास ले गए। उदय प्रताप भानु के समान तेजस्वी कुमार को देखकर हमारे स्वामी भुवनभानु खड़े हो गए और संभ्रमपूर्वक एक उत्तम रत्नसिंहासन पर उनको बिठलाया। पश्चात् हमारे स्वामी ने उनकी सत्य स्वरूप गुण स्तुति की। तुम्हारे मित्र लज्जित हुए। हमारे स्वामी ने अपनी पुत्रियों के विवाह के लिए याचना की। परंतु तुम्हारे वियोग से दुःखी कुमार ने कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया। मात्र तुम्हारा ही चिंतन करते मुनि की तरह मौन धारण करके बैठे रहे। अतः हमारे स्वामी ने तुमको लाने की आज्ञा दी। तब हम तुम्हारी खोज करने निकले। तुमको खोजते–खोजते हम यहाँ आए। पुण्ययोग से तुम्हारे यहाँ दर्शन हुए। हे महाभाग्य! चलो उठो, शीघ्र वहाँ चलो। क्योंकि दोनों राजकुमारी और राजकुमार

का विवाह तुम्हारे अधीन है।' ऐसे उनके वचन सुनकर मंत्रीकुमार मानो मूर्तिमान हर्ष हो वैसे हर्षित होता हुआ शीघ्र ही उनके साथ कुमार के पास आया। शुभ दिन में उन दोनों राजकुमारियों के साथ कुमार का पाणिग्रहण हुआ। कुछेक दिन वहाँ रहकर पूर्व की तरह दोनों राजकुमारियों को वहाँ छोड़ देशान्तर रवाना हो गया।

(गा. 327 से 345)

सूरकांत विद्याधर द्वारा दी गई मणि से जिनका इच्छित सदा पूर्ण हैं, ऐसे राजपुत्र और मंत्रीपुत्र चलते–चलते श्रीमंदिरपुर आए। कुछ दिन वहाँ रहने के पश्चात् एक दिन नगर में अतुल कोलाहल उत्पन्न हुआ। कवचधारी एवं शस्त्र उठाये अनेक सुभटों को उन्होंने देखा। राजपुत्र ने मंत्रीपुत्र को पूछा 'यह क्या हुआ है?' तब मंत्रीपुत्र ने लोगों से जानकारी लेकर कहा कि – इस नगर में सुप्रभ नामक राजा है। उनपर किसी पुरुष ने छलपूर्वक राजमहल में प्रवेश करके छुरी द्वारा सख्त प्रहार किया है। उस राजा के उत्तराधिकारी कोई पुत्र नहीं है। अतः अपनी आत्मरक्षा करने के लिए सभी लोग आकुलव्याकुल होकर नगर में घूम रहे हैं। उसी का यह महान् कोलाहल हो रहा है। इस प्रकार मंत्रीपुत्र का वचन सुनकर राजा का छलपूर्वक घात करने वाले दुष्ट क्षत्रिय को धिक्कार है। ऐसा कहता हुआ कुमार अपराजित का मुख करुणा, ग्लानि से भर गया।

(गा. 346 से 351)

इसी समय कामलता नामकी एक प्रधान गणिका ने आकर राजमंत्री से कहा कि 'राजा का घाव संरोहण औषधी से ठीक हो जाएगा। अपने नगर में मित्र सहित कोई विदेशी पुरुष आये हुए हैं। वे उदार, धार्मिक, सतवंत और देवमूर्ति जैसे हैं। वस्तुतः वे कुछ भी उद्योग नहीं करता है, फिर भी वे सर्व अर्थ सम्पन्न है। उस महापुरुष के पास कोई चमत्कारी औषधी होनी चाहिए। यह सुनकर मंत्रिगण कुमार के पास आए और उसको विनतिपूर्वक राजा के पास ले गए। राजा उसके दर्शन से ही अपने आपको स्वस्थ हुआ मानने लगा। कृपालु कुमार ने राजा का घाव देखा। तब पहले से भी अधिक दया आ गई। उसने मित्र के पास से वह मणि और मूलिका लेकर, मणि को धोकर उस पानी में मूलिका को घिस कर घाव पर लगाया और मणि को धोकर उसका पानी राजा को पिलाया तो तत्काल ही राजा स्वस्थ हो गए। कुमार ने राजा से पूछा– हे

कृपानिधि! निष्कारण बंधु तुम यहाँ कैसे आ गए? मंत्रीपुत्र ने सर्व वृत्तान्त निवेदन किया? राजा ने कहा, ओह! यह तो मेरे मित्र हरिनंदी का पुत्र है। अहो! मेरा कैसा प्रमाद कि जिससे मैं अपने मित्रपुत्र को पहचान भी नहीं पाया अथवा मुझ पर जो प्रहार हुआ वह भी मेरे प्रमाद का ही फल है। पश्चात् उसके सद्गुणों से आकर्षित अपनी कन्या का अति आग्रह से विवाह किया।

(गा. 352 से 361)

रंभा के साथ क्रीड़ा करते हुए दीर्घकाल तक वहाँ निवास कर राजपुत्र पूर्व की भांति मंत्रीपुत्र के साथ गुप्तरीति से उस नगर से निकल गया। वहाँ कुंडपुर के समीप आया। वहाँ दिव्य सुवर्णकाल पर स्थित एक केवलज्ञानी मुनि दृष्टिगत हुए। उनको तीन प्रदक्षिणा देकर नमन करके उनके समीप बैठकर अमृत की वृष्टि करती धर्मदेशना सुनी। देशना सम्पन्न होने पर नमस्कार करके अपराजित ने पूछा– 'हे भगवान्! मैं भव्य हूँ, या अभव्य? केवली भगवन्त ने फरमाया, हे भद्र! तू भव्य है। इसी जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में बाइसवां तीर्थंकर होगा और वह तेरा मित्र तेरा मुख्य गणधर होगा। यह सुनकर दोनों खुश हुए। वहाँ मुनि की सेवा करते हुए स्वस्थता से धर्मपालन करते हुए कुछ दिन वहाँ ही रहे केवली भगवन्त के विहार करने के पश्चात् दोनों स्थान–स्थान पर जिनचैत्यों को वंदन करते हुए घूमने लगे।

(गा. 362 से 368)

जनानंद नामक नगर में जितशत्रु नाम का राजा था, उसके धारिणी नाम की शीलवती रानी थी। रत्नवती स्वर्ग से च्यव कर उनकी कुक्षि में अवतरी। समय पूर्ण होने पर एक पुत्री को जन्म दिया जिसका नाम प्रीतिमती रखा। अनुक्रम से वह बड़ी हुई और सर्व कलाएं संपादन की। उसी प्रकार स्मृत जीवन रूप यौवन वय को प्राप्त किया। सर्वकलाओं में निपुण उस बाला के समक्ष सुज्ञ पुरुष भी अज्ञ हो जाता। इससे उसकी दृष्टि किसी भी पुरुष पर जरा भी नहीं जाती थी। उसके पिता जितशत्रु राजा विचार करने लगे कि, यदि इस चतुर कन्या का मैं जैसे तैसे वर के साथ शादी कर दूँगा तो निश्चय ही यह प्राणों का त्याग कर देगी। इस प्रकार सोचकर राजा ने एकांत में पूछा– हे पुत्री! तुझे कैसा वर मान्य है? प्रीतिमती बोली, जो पुरुष मुझे कलाओं में जीत लेगा, उसी के साथ मेरा संबंध होगा। राजा ने यह स्वीकार कर लिया। उसकी इस प्रतिज्ञा की

प्रसिद्धि पृथ्वी पर सर्वत्र होने लगी। अतः अनेक राजा एवं राजपुत्र कलाभ्यास करने लगे।

(गा. 369 से 375)

अन्यथा जितशत्रु राजा ने प्रीतिमती का स्वयंवर रचा। नगर के बाहर मंडप बनवा कर उनमें अनेक मंच स्थापित किये। बड़े–बड़े राजा एवं राजपुत्रों को आमंत्रित किया गया। अपने पुत्र के वियोग से पीड़ित मात्र एक राजा हरिणंदी को छोड़कर सर्व भूचर और खेचर राजा अपने–अपने कुमारों को लेकर वहाँ आये। विमानों में देवताओं की तरह सर्व राजा–राजपुत्र मंच पर आरुढ़ हुए। उस समय दैवयोग से कुमार अपराजित भी घूमता–घूमता वहाँ आ पहुँचा। उसने मंत्रीपुत्र से कहा– हम यहाँ पर ठीक समय पर आ पहुँचे। तो अब कलाओं का विचार, उसका ज्ञान और उस कन्या का अवलोकन हम भी करें। परन्तु कोई परिचित व्यक्ति अपने को पहचाने नहीं, वैसे अपने को रहना चाहिए। ऐसा विचार कर उसने गुटिका का प्रयोग से अपना तथा मंत्रीपुत्र का रूप सामान्य मनुष्यों जैसा कर लिया। फिर दोनों देवताओं के सद्‌श गुटिका से विकृत आकृति धारण करके स्वयंवर मंडप में आए। उस समय पृथ्वी पर मानो कोई देवी हो, अमूल्य वेश धारण करके, दोनों ओर जिसके चंवर दुलाएँ जा रहे, ऐसी सखियों एवं दासियों से परिवृत दूसरी लक्ष्मी के समान राजकुमारी प्रीतिमती वहाँ आई। अतः आगे चलने वाले आत्मरक्षक और छड़ीदारों ने लोगों को दूर हटाया। जब वह स्वयंवर मंडप में आई तब उसकी मालती नामक दासी अंगुली से ईशारा करते हुए बोली– हे सखी! ये भूचर और खेचर राजा अपने को गुणवान् मानते हुए यहाँ आए हैं। ये कदम्ब देश के भुवनचंद्र राजा हैं। ये वीर पृथ्वी पर प्रख्यात और पूर्व दिशा के अलंकार जैसे हैं। यह समरकेतु नाम के राजा हैं, शरीर की शोभा में कामदेव जैसे, प्रकृति से दक्षिण और दक्षिण दिशा के तिलक रूप हैं। कुबेर के सदृश कुबेर नाम के राजा उत्तर दिशा के शत्रुओं की स्त्रियों में अश्रांत और विस्तृत कीर्तिरूप लतावन को धारण करते हैं। कीर्ति से सोमप्रभा (चंद्रकीर्ति) को जीतने वाले ये सोमप्रभ राजा हैं। ये दूसरे धवल, शूर और भीम आदि बड़े–बड़े राजा हैं। ये मणिचूड़ नाम के महापराक्रमी राजा हैं। ये रत्नचूड नाम के राजा हैं, प्रबल भुजा वाले मणिप्रभ नाम के राजा हैं और इधर सुमन, सोम तथा सूर आदि खेचर राजा हैं। हे सखी! इन सब को देख और इनकी परीक्षा कर। ये सर्व कलाओं में पारंगत हैं।

(गा. 376–390)

उसके ऐसे वचन से प्रीतिमती ने जिन–जिन राजाओं पर दृष्टि डाली वे तो सभी राजा कामाभिभूत होकर से रह गये। वे मोहित हो एक टक राजकन्या को देखते हुए रह गये। पश्चात् जैसे उसके पक्ष में साक्षात् सरस्वती हो वैसे वह प्रीतिमती ने मधुमत्त कोकिला जैसे स्वर से एक तर्क युक्त प्रश्न किया। जिसे सुनकर सभी की बुद्धि क्षीण हो गई हो ऐसे सर्व भूचर और खेचर का मानो गला ही रुंध गया हो इस प्रकार कोई भी उत्तर न दे सके। शर्म के मारे उनका मुख नीचे हो गया। वह राजा और राजपुत्र लज्जित होने पर परस्पर कहने लगे कि 'पूर्व में हम किसी से भी नहीं जीते गए, हमको इस स्त्री ने जीत लिया, इससे लगता है कि स्त्रीजाति का अवश्य ही वाग्देवी सरस्वती ने इसका पक्ष लिया है। उस वक्त राजा जितशत्रु सोचने लगा, 'क्या विधाता इस कन्या के निर्माण के पश्चात् खिन्न हो गया था कि जिससे इस कन्या के योग्य कोई पति की सृष्टि ही नहीं की। इतने राजा और राजपुत्रों में से मेरी पुत्री को कोई भी पसंद नहीं आया। यदि कोई हीनजाति का पति हो जाएगा तो उसकी क्या गति होगी।?' राजा के इस प्रकार की भाव भंगिमा को देखकर मंत्री बोला– हे प्रभु! खेद मत करो। अभी भी उत्कृष्ट से उत्कृष्ट पुरुष मिल जाएंगे, क्योंकि वसुंधरा बहुरत्ना है। आप अब वह घोषणा कराओ कि जो कोई भी राजा या राजपुत्र या अन्य कोई भी इस कन्या को जीत लेगा, वही इसका पति होगा। इस प्रकार का विचार जानकर राजा ने मंत्री को शाबासी दी और तत्काल ही वैसी घोषणा कराई। यह सुनकर अपराजित कुमार विचार करने लगा कि 'कभी भी स्त्री के साथ विवाद में विजय प्राप्त करने में कुछ उत्कर्ष नहीं है। परंतु उसको कोई न जीते तो उससे पुरुष जाति के पौरुषत्व का अपमान होता है। अतः उत्कर्ष हो या न हो परंतु इस स्त्री को जीत लेना ही योग्यता है।' ऐसा विचार करके अपराजित कुमार तत्काल प्रीतिमती के समीप पहुँच गया। बादलों से छिपे सूर्य की भांति वह दुर्वेष में छिपे होने पर भी पूर्वजन्म के स्नेह संबंध से प्रीतिमती के मन में प्रीति उत्पन्न हो गई। उसने अपराजित के समक्ष पूर्व प्रश्न किया, तो तत्काल अपराजित ने उसे निरुत्तर करके जीत लिया। प्रीतिमती ने तुरंत स्वयंवर माला अपराजित के कंठ में डाल दी। सर्व भूचर और खेचर राजा उस पर कोपायमान होकर कहने लगे, 'वाणी में वाचाल जैसा और आकड़े के तूल जैसा यह हल्का व्यक्ति कौन है, अरे यह कापड़ी हम जैसे राजाओं, राजकुमारों के होने पर भी राजकन्या का पाणिग्रहण करना चाहता है। सभी राजा घुड़सवार हो, गजसवार होकर

शस्त्र उठाकर, कवच पहनकर युद्धारम्भ की तैयारी करने लगे। तब अपराजित कुमार उछलकर किसी गजसवार को मारकर हाथी पर चढ़ गया और उसके ही अस्त्रों से युद्ध करने लगा। तत्क्षण किसी रथी को मारकर उसके रथ में बैठकर युद्ध करने लगा। कभी भूमि पर, कभी हस्ति पर चढ़कर युद्ध करने लगा। वह एक होने पर भी चपलता से अनेक की तरह इंद्र के वज्र की भांति अत्यन्त स्फुरणामान हुआ। उसने क्रोधातुर हो शत्रु के सैन्य को भग्न कर दिया। प्रथम तो स्त्री को शास्त्र से पश्चात् अनेकानेक राजाओं को शस्त्र से जीत लिया। लज्जा से सभी राजा युद्ध करने आए तो यकायक वह कुमार उछलकर सोमप्रभ राजा के हाथी पर चढ़ गया। उसी समय सोभप्रभ राजा ने कितनेक लक्षणों से युक्त और तिलकादिक चिह्नों से कुमार को पहचान लिया और तत्काल ही उस महाभुज का आलिंगन किया, और कहने लगा 'अरे अतुल' पराक्रमी भानज! पुण्ययोग्य से मैंने तुझे पहचान लिया। सभी राजाओं ने हर्षित होकर बधाई दी। सभी स्वजन की भांति हर्ष से विवाहमंडप में आए। शुभुहूर्त में जितशत्रु राजा ने अपराजित कुमार और प्रीतिमती का विवाह उत्सव किया। अपराजित कुमार ने अपना स्वाभाविक मनोज्ञ रूप प्रकट किया। सर्वजन उसके रूप और पराक्रम से अनुरक्त हुए। जितशत्रु राजा ने सर्व राजाओं का योग्य सत्कार करके उन्हें विदा किया। अपराजित कुमार प्रीतिमती के साथ क्रीड़ा करता हुआ अनेक दिन वहाँ रहा। जितशत्रु राजा के मंत्री ने अपनी रूपवती कन्या का मंत्रीपुत्र विमलबोध के साथ विवाह किया। इसलिए वह भी उसके साथ क्रीड़ा संलग्न हो आनंद से रहने लगा।

(गा. 391 से 418)

हरिणंदी राजा का एक दूत वहाँ आया। कुमार ने उसको देखकर सप्रेम उनका आलिंगन किया। कुमार ने माता–पिता की कुशलता पूछी। तब दूत नेत्र में अश्रुलाकर बोला– 'तुम्हारे माता–पिता तो शरीर धारण करने मात्र से ही कुशल हैं। क्योंकि तुम्हारे प्रवास दिन से लेकर आज तक उनके नेत्र अश्रुओं से पूर्ण हैं। तुम्हारा नया–नया चरित्र लोगों से श्रवण कर क्षणभर के लिए तो खुश हो जाते हैं, फिर तुम्हारा वियोग याद आने पर मूर्च्छा आ जाती है। हे प्रभो! तुम्हारा यहाँ का वृत्तांत सुनकर उसकी वास्तविकता जानने के लिए मुझे यहाँ भेजा है। तो अब तुम्हें माता–पिता को वियोग का संताप देना उचित नहीं। दूत के इस प्रकार के वचन सुनकर नेत्र में अश्रु लाकर गद्गद् स्वरों से कुमार

बोला– 'माता–पिता के इस प्रकार दुःख देने वाले मेरे जैसे पुत्र को धिक्कार है।' पश्चात् जितशत्रु राजा की आज्ञा लेकर अपराजित कुमार ने वहाँ से प्रस्थान किया। उस समय अपनी दोनों पुत्रियों को लेकर भुवनभानु राजा वहाँ आ गये। अभय प्राप्त करने वाला सूरकांत राजा भी आ पहुँचा। अतः प्रीतिमती तथा अन्य सर्व पत्नियों तथा भूचर और खेचर राजाओं से परिवृत्त, भूचर–खेचर सैन्य से भूमि और आकाश को आच्छादित करता हुआ कुमार थोड़े दिन में सिंहपुर नगर आ पहुँचा। हरिणंदी राजा सामने जाकर पृथ्वी पर लौटते हुए कुमार को आलिंगन करके उत्स में बिठाकर बारम्बार उसके मस्तक पर चुंबन करने लगे। पश्चात् माता ने नेत्र में आँसू लाकर प्रणाम करते हुए कुमार के पृष्ठ पर कर द्वारा स्पर्श किया और उसके मस्तक पर चुंबन किया। प्रीतिमती आदि सर्व वधुओं ने, भी अपने सास–श्वसुर के चरणों में झुककर प्रणाम किया। तब विमलबोध से उन सबके नाम ले लेकर सबका परिचय देकर विदा किया और स्वयं वहाँ रहकर अपने माता–पिता के नेत्रों को प्रसन्न करता हुआ, सुखपूर्वक क्रीड़ा करने लगा।

(गा. 419 से 432)

मनोगति और चपलगति जो महेन्द्र देवलोक में उत्पन्न हुए थे, वे वहाँ से च्यव कर सूर और सोम नामक अपराजित कुमार के अनुज बंधु हुए। एक समय राजा हरिणंदी ने अपराजित कुमार को राज्य सिंहसन पर बिठाकर स्वयं दीक्षा ली। उन राजर्षि ने तपस्या करके उत्तम चारित्र पालन करके परम पद प्राप्त किया। अपराजित राजा और प्रीतिमती पट्टराणी हुई और विमलबोध मंत्री हुआ। दोनों अनुज बंधु मंडलेश्वर हुए। अपराजित राजा ने पहले से ही अन्य राजाओं को आधीन कर लिया था, अतः वह सुखपूर्वक राज्य करने लगा और निर्विघ्न भोगों को भोगने लगा। पुरुषार्थ से अवंथित (यथायोग्य पुरुषार्थ को साधता) अपराजित राजा विचित्र चैत्यों और लाखों रथयात्राएँ करते हुए काल निर्गमन करने लगा।

(गा. 433 से 437)

एक बार अपराजित राजा उद्यान में गये थे, वहाँ उन्होंने मूर्तिमान कामदेव के समान अनंगदेव नामक सार्थवाह के समृद्धिवान् पुत्र को देखा। वह दिव्य वेष को धारण करके समानवय के मित्रों से घिरा हुआ था, बहुत सी

कमनीय रमणियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था। याचकों को दान दे रहा था, बंदीजन उसकी स्तुति कर रहे थे और वह गीत–गान सुनने में मस्त व आसक्त था। यह सब देखकर अपराजित राजा ने अपने व्यक्तियों से पूछा, यह कौन है? उन्होंने कहा 'यह समुद्रपाल नाम के सार्थवाह का अनंगदेव नाम का धनाढ्य पुत्र है।' यह सुनकर उन्होंने कहा मेरे नगर के व्यापारी भी ऐसे धनाढ्य व उदार हैं, ओह! मैं धन्य हो गया ऐसी प्रशंसा करता हुआ राजा स्वस्थान पर आ गया।

(गा. 438–442)

दूसरे दिन राजा बाहर जा रहे थे कि चारपुरुषों से उठाया हुआ और जिसके आगे वाद्य बज रहे थे, ऐसा एक मृतक उनको दिखाई दिया। उसके पीछे–पीछे छाती कूटती, जिनके केश बिखरे हुए रोती हुई, पग–पग कर मूर्च्छित होती हुई, ऐसी अनेक स्त्रियाँ जा रही थीं– ऐसा दृश्य देखकर राजा ने पूछा कि किसका निधन हुआ है? तब वे बोले वह सार्थवाह का पुत्र अनंगदेव है। अचानक विषूचिका (कॉलेरा) की व्याधि होने से उसका अवसान हो गया' यह सुनते ही अपराजित राजा चौंक उठा बोला– 'अहो! इस असार संसार को धिक्कार है।' और विश्वासु का घात करने वाले विधि को भी धिक्कार है। हा! हा! मोहनिद्रा में अंध चितवाले प्राणियों का कैसा प्रमाद है! 'इस प्रकार महान् संवेग को धारण करने वाले अपराजित राजा वापिस महलों में लौट आए और अनेकों दिन खेद में ही व्यतीत किए। किसी समय वे केवली भगवन्त जिनका पहले कुंडपुर में समागम हुआ था, वे केवली भगवन्त अपराजित राजा को प्रतिबोध देने का समय जानकर उस पर उपकार के लिए वहाँ पधारे। उनके सन्मुख धर्म श्रवण कर प्रीतिमति के पद्म नामक पुत्र का राज्याभिषेक करके अपराजित राजा ने दीक्षा ग्रहण की। साथ ही प्रिया प्रीतिमती पट्टराणी, अनुज बंधु सूर तथा सोम एवं विमलबोध मंत्री सभी ने दीक्षा ली। वे सभी उग्र तपस्या करके मृत्यु के पश्चात् आरण नामक ग्यारहवें देवलोक में परस्पर प्रीति वाले इन्द्र के सामानिक देव हुए।

(गा. 443 से 451)

इस जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में कुरुदेश के मंडन रूप हस्तिनापुर नाम का नगर है। उस नगर में चंद्र के जैसा आहलादकारी श्रीषेण नाम का राजा था।

उनके लक्ष्मी तुल्य श्रीमती नामकी पट्टरानी थी। एक समय रानी ने रात्रि के शेषभाग में स्वप्न में शंख जैसा उज्ज्वल पूर्णचंद्र अपने मुखकमल में प्रवेश करते देखा। प्रातःकाल में वह सर्व वृत्तांत उसने अपने पति श्रीषेण राजा को निवेदन किया। राजा ने स्वप्नवेत्ता को बुलाकर उसका निर्णय किया कि 'इस स्वप्न से चंद्र जैसा सर्व शत्रु रूप अंधकार का नाश करने वाला एक पुत्र देवी को होगा।' उसी रात्रि को अपराजित का जीव आरव देवलोक से च्यव कर श्रीमती देवी की कुक्षि में अवतरित होगा। उचित समय पर रानी ने सर्व लक्षणों से पवित्र एक सम्पन्न पुत्र को जन्म दिया। पिता ने पूर्वज के नाम से शंख नाम रखा। पांच धायमाता से लालित पालित होते हुए शंख कुमार बड़ा हुआ। गुरु को तो मात्र साक्षीभूत रखकर प्रतिजन्म में अभ्यस्त सर्व कलाएँ लीलामात्र में संपादन कर ली। विमलबोध मंत्री का जीव आरण देवलोक से चलकर श्रीषेण राजा का गुणनिधि नाम के मंत्री का मतिप्रभ नामक पुत्र हुआ। वह कामदेव के बसंत ऋतु की तरह शंखकुमार के साथ क्रीड़ा करने वाला सहध्यायी मित्र हुआ। मतिप्रभ मंत्रीपुत्र और अन्य राजकुमारों के साथ विविध प्रकार की क्रीड़ा करता हुआ शंखकुमार यौवनवय को प्राप्त हुआ।

(गा. 452 से 461)

एक समय उनके देश के लोग दूर से पुकार करते हुए आकर श्रीषेण राजा को विज्ञप्ति करने लगे– हे राजेन्द्र! आपके देश की सीमा पर अति विषम ऊँचा, विशाल शिखरों से युक्त, शशिरा नामकी नदी से अंकित चंद्र नामका पर्वत है। उस पर्वत के दुर्ग में समरकेतु नाम का पल्लिपति रहता है। वह निःशंक रूप से हमको लूटता है। हे प्रभो! उससे हमारी रक्षा करो। यह सुनकर उसके वध के प्रयोजन से प्रयाण करने के लिए राजा ने (रणभेरी) बजवाई। उसे सुनकर शंखकुमार ने पिताजी को नमस्कार करके नम्रतापूर्वक कहा, 'पिताजी! एक पल्लिपति के लिए आप इतना श्रम क्यों करते हैं? मसले को मारने के लिए हाथी और खरगोश को मारने के लिए सिंह को तैयार होने की जरूरत नहीं है। अतः तात! मुझे आज्ञा दो, मैं उसे बांधकर यहाँ ले आऊँगा। आप प्रयाण करने का विचार त्याग दें, क्योंकि यह आपके लिए लज्जास्पद है।' पुत्र के ऐसे वचन सुनकर तत्काल ही राजा ने ससैन्य उसे विदा किया। अनुक्रम से चलता हुआ कुमार उस पल्ली पती के पास आया। कुमार को आता हुआ जानकर कपटियों में श्रेष्ठ वह पल्लिपति दुर्ग को शून्य छोड़कर अन्य गृह में छिप गया। कुशाग्र बुद्धिवाले

शंखकुमार ने उस दुर्ग में एक सामन्त को सारभूत सैन्य के साथ प्रवेश कराया और स्वयं अनेक सैनिको को साथ लेकर एक लतागृह में छिपा रहा। पीछे से पल्लिपति ने छल से उस दुर्ग को घेर लिया। पश्चात् अरे कुमार तू अब कहाँ जाएगा? ऐसा कहता हुआ वह पल्लिपति जैसे ही गर्जा वैसे ही छिपा हुआ कुमार बाहर आया। अपने विपुल सैन्य से उसे घेर लिया। एक तरफ से दुर्ग के किले पर रहे हुए पहले से भेजे हुए सैन्य ने और दूसरी तरफ से कुमार के सैन्य ने बीच में रहे हुए पल्लिपति को दुतरफा मार मारने लगे। घबरा कर पल्लिपति कंठ पर कुल्हाड़ी धारण करके शंखकुमार की शरण में आया और बोला– 'हे राजकुमार! मेरे माया मंत्र का प्रयोग जानने वाले तुम ही एक हो। हे स्वामिन्! सिद्ध पुरुष के भूत की तरह मैं भी तुम्हारा दास हो गया हूँ। अतः मेरा सर्वस्व ग्रहण कर लो एवं प्रसन्न होकर मुझ पर अनुग्रह करो।' कुमार ने उसके पास जो चोरी का धन था, वह सब लेकर जिसका जो था, सबको दे दिया तथा स्वयं लेने योग्य दंड स्वयं ने ले लिया। पश्चात् पल्लिपति को साथ लेकर कुमार वापिस लौट चला। सायंकाल होने पर मार्ग में उन्होंने पड़ाव किया। अर्धरात्रि को कुमार शय्या पर स्थित थे कि इतने में कोई कठोर स्वर उसे सुनाई दिया, तब हाथ में खड्ग लेकर स्वर का अनुसरण करके कुमार चल दिया। आगे जाने पर अधेड़वय की एक स्त्री उनको रुदन करती हुई दिखाई दी। अतः कुमार ने मृदु स्वर में उससे कहा कि– हे भद्रे! रो मत। तेरे दुःख का जो भी कारण हो वह कह कुमार की मूर्ति और वाणी से आश्वस्त होकर वह स्त्री बोली अंगदेश की चंपा नगरी में जितारी नाम का राजा है उसके कीर्तिमती नाम की रानी के बहुत से पुत्रों के पश्चात यशोमती नामकी स्त्रियों में शिरोमणि पुत्री हुई। उसके योग्य किसी स्थान पर पुरूष नहीं है। ऐसा जान वह पुरूष के ऊपर अरूचिवाली हो गई अतः उसकी दृष्टि में कोई भी पुरूष रूचता नहीं है। किसी समय श्रीषेण राजा का पुत्र शंखकुमार उसके श्रवणमार्ग में आने पर एवं कामदेव ने भी एक साथ उसके हृदय में स्थान जमाया। उस समय यशोमती ने प्रतिज्ञा की कि वह शंखकुमार से ही शादी करेगी? पुत्री का अनुराग योग्य स्थान पर हुआ है ऐसा जानकर उसके पिता को भी इस बात से बहुत हर्ष हुआ। जितारी राजा ने श्रीषेण राजा के पास उसके पास विवाह का प्रस्ताव लेकर अपने व्यक्तियों को भेजा। इतने में विद्याधरपति मणिशेखर ने उसकी कन्या की मांग की। जितारी राजा ने उससे कहा कि मेरी कन्या शंखकुमार के सिवा किसी को भी नहीं चाहती। इससे

क्रोधित होकर उस अधम विद्याधर ने बलपूर्वक से उसका अपहरण किया। मैं उस यशोमति कन्या की धात्री हूं। जिसका अपहरण किया। तब मैं उसकी भुजा से लिपटी हुई थी पर उस दुष्ट खेचर ने बलपूर्वक मुझे उससे छुडा लिया संसार में सार रूप उस रमणी को वह दुष्ट न जाने कहाँ ले गया होगा?

(गा. 462 से 488)

उसकी यह हकीकत सुनकर भद्रे! तू धैर्य रख मैं उस दुष्ट को जीत कर चाहे जहाँ से भी उसको लेकर आऊँगा। ऐसा कहकर शंखकुमार उसको खोजने के लिए अटवी में घूमने लगा। उस समय सूर्य उदयाचल पर आरूढ़ हुआ और शंखकुमार भी किसी विशाल शृंगवाले गिरि पर आरूढ हुआ। वहाँ एक गुफा में यशोमती उसको दिखाई दी। वह विवाह के लिए प्रार्थना करते हुए उस खेचर को इस प्रकार कह रही थी– अरे अप्रार्थित मृत्यु की प्रार्थना करने वाले ! तू किस लिए व्यर्थ में खेद करता है? शंख जैसे उज्ज्वल गुण वाले शंख कुमार ही मेरा भर्ता है, कभी भी दूसरा मेरा भर्तार नहीं होगा। उसी समय उस विद्याधर और कुमारी ने शंखकुमार को देखा। इसलिए वह दुष्ट विद्याधर बोला– हे मूर्ख! यह तेरा प्रिय काल से खिंचकर यहाँ मेरे वश में आ गया है। हे बाले। अब तेरी आशा के साथ ही उसको भी मारकर मैं तुझसे विवाह करूंगा और अपने घर ले जाऊँगा।

(गा. 489 से 494)

इस प्रकार कहते हुए उस दुष्ट को शंखकुमार ने सुनकर कहा अरे परनारी का हरण करने वाले दुष्ट पापी खडा हो। अभी इस खड्ग से तेरे सिर का छेदन कर देता हूँ। पश्चात् दोनों ही आमने सामने खड्ग लेकर सुंदर चालाकी से और धरती को कंपाते हुए युद्ध करने लगे। जब वह विद्याधर भुजा के बल से कुमार को जीत न सका, तब विद्या से विकुर्वित तप्त लोहमय गोले आदि अस्त्रों से युद्ध करने लगा। परंतु पुण्य के उत्कर्ष से वे गोले कुमार को कुछ भी घाव लगाने में समर्थ न हो सके। कुमार ने अपने खड्ग से उसके बहुत से अस्त्रों को खंडित कर डाला। अस्त्रों के खंडन से खेदित हुए खेचर का धनुष कुमार ने छेद डाला और उसके ही बाण से उसकी छाती को बींध डाला। तत्काल छेदे हुए वृक्ष की तरह वह विद्याधर पृथ्वी पर पडा तब शंखकुमार पवन के उपचार से उसे सचेत करके पुनः युद्ध के लिए ललकारने लगा। खेचरपति ने कुमार को कहा– हे पराक्रमी! मैं

किसी से भी जीता नहीं गया था आज तूने जीत लिया। अतः तू सर्वथा मान्य पुरूष है। हे वीर! जैसे तुमने गुण से इस यशोमती को खरीद लिया है, उसी प्रकार मैं भी तेरे पराक्रम से तुम्हारा प्रीति दास हो गया हूं। अतः मेरे अपराध को तुम क्षमा करो। तब कुमार बोला– हे महाभाग! तेरे भुजबल से और विनय से मैं रंजित हुआ हूँ। इसलिए कहो मैं तुम्हारा क्या कार्य करूँ? विद्याधर बोला– यदि तुम प्रसन्न ही हुए हो तो वैताढ्यगिरी पर चलो, वहाँ सिद्धायतन की यात्रा होगी और मुझ पर अनुग्रह होगा। शंखकुमार ने उसे स्वीकार कर लिया। यशोमति इस श्रेष्ठ भर्तार को मैंने वरा है यह जानकर मन में अत्यंत खुशी हुई। उस समय मणिशेखर के खेचर यह वृतांत जानकार वहाँ आए और उपकारी शंखकुमार को नमस्कार किया। पश्चात् दो खेचरों को अपने सैन्य को शीघ्र ही हस्तिनापुर जाने का आदेश दिया।

(गा. 495 से 507)

यशोमती की धात्री को खेचरों के साथ वहाँ बुलाकर धात्री और यशोमती सहित शंखकुमार वैताढ्य गिरी पर आए। वहाँ सिद्धायतन में रहे हुए शाश्वत चैत्यों की वंदना की और यशोमती के साथ विविध प्रकार से पूजा की। बाद में मणिशेखर कुमार को कनकपुर में ले गया। अपने घर में कुसम को रखकर देवता की भांति उसकी पूजा भक्ति की। सभी वैताढ्य वासियों को यह बात सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ अतः आ आकर शंखकुमार और यशोमति को बार बार देखने लगे। शत्रुंजय आदि मूल्य से प्रसन्न हुए महर्दिक खेचर शंखकुमार के पदाति होकर रहे और अपनी अपनी पुत्रियाँ शंखकुमार को देने लगे तब कुमार ने उनको कहा कि यशोमति से विवाह करने के पश्चात इन कन्याओं के साथ विवाह करूँगा।

(गा. 508 से 513)

एक बार मणिशेखर आदि अपनी अपनी कन्याओं को लेकर यशोमती सहित शंखकुमार को चंपा नगरी ले गए। अपनी पुत्री के साथ अनेक खेचरेन्द्रों से परिकृत उसका वर आ रहा है यह समाचार सुनकर जितारी राजा अत्यंत खुश हुआ और सामने आया। प्रसन्न होकर शंखकुमार का आलिंगन करके राजा ने उन सबका नगरी में प्रवेश कराया। महोत्सव पूर्वक अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ किया। तत्पश्चात् शंखकुमार विद्याधरों की अन्य कन्याओं के

साथ भी विवाह बंधन में बंधा श्री वासुपूज्य स्वामी के चैत्य की भक्तिपूर्वक यात्रा की। सभी खेचरों को विदा करके कुछेक दिन वहाँ रहकर यशोमती आदि पत्नियों के साथ हस्तिनापुर आया।

(गा. 514 से 518)

अपराजित कुमार के पूर्व जन्म के अनुज बंधु सूर और सोम जो कि आरण देवलोक में उत्पन्न हुए थे वे वहाँ से च्यव कर यशोधर और गुणधर नाम से इस जन्म में शंखकुमार के अनुज बंधु हुए। राजा श्रीषेण ने शंखकुमार को राज्य देकर गुणधर गणधर के चरण में दीक्षा ली। जिस प्रकार श्रीषेण राजा मुनि होकर दुस्तर तप करने लगे उसी प्रकार शंख जैसे उज्ज्वल यश वाला शंखकुमार चिरकाल तक पृथ्वी का पालन करने लगे। जिनको केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है और देवता के सानिध्य से सुशोभित श्रीषेण राजर्षि विहार करते करते वहाँ पधारे। शंखराजा ये समाचार सुन कर सामने आए और भक्ति से उनकी वंदना करके संसार सागर में नाविक जैसी उनकी देशना श्रवण की।

(गा. 519 से 523)

देशना के अंत में शंख राजा बोले – हे सर्वज्ञ! आपके शासन से मैं जानता हूँ कि इस संसार में कोई किसी का संबंधी नहीं है। यह संबंध केवल स्वार्थ का है तथापि इस यशोमती पर मुझे अधिक ममता क्यों हुई ? वह मुझे कहिये और मुझ जैसे अनभिज्ञ को शिक्षा दीजिए। केवली भगवंत बोले, तुम्हारे धनकुमार के भव में धनवती नाम की यह तुम्हारी पत्नि थी। सौधर्म देवलोक में तुम्हारी मित्र रूप से उत्पन्न हुई, चित्रगति के भव में रत्नवती नाम की तुम्हारी प्रिया थी, महेंद्र देवलोक में तुम्हारी मित्र थी अपराजित के भव में यह प्रीतिमती नाम की तुम्हारी स्त्री हुई है। भवांतर के योग से तुम्हारा उस पर स्नेह संबंध हुआ है। अब यहाँ से अपराजित नाम के अनुत्तर विमान में जाकर वहाँ से च्यव कर इस भारतखंड में तुम नेमिनाथ नाम के बाइसवें तीर्थकर होआगे। यह यशोमती राजीमती नाम की अविवाहित रूप में अनुरक्त तुम्हारी पत्नी होगी जो तुम्हारे पास दीक्षा लेकर अंत में परम पद को प्राप्त करेगी। यशोधर और गुणधर नाम के तुम्हारे अनुज बंधु और मतिप्रभ मंत्री तुम्हारे गणधर पद को प्राप्त करके सिद्धिपद को पायेंगे।

(गा. 524 से 531)

इस प्रकार गुरू मुख से वचन सुनकर शंखराजा ने अपने पुंडरीक पुत्र को राज्य देकर दीक्षा अंगीकार की। उनके दोनों भाई मंत्री और यशोमती ने उनके पास दीक्षा ली। अनुक्रम से शंखमुनि ने गीतार्थ होकर महान कठिन तपस्या की। अर्हत् भक्ति आदि स्थानकों की आराधना से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया अंत में पादपोपगमन अनशन करके शंखमुनि अपराजित विमान में उत्पन्न हुए और यशोमती आदि भी उसी निधि से अपराजित विमान को प्राप्त हुए।

(गा. 532 से 534)

द्वितीय सर्ग

इस भरतक्षेत्र में मथुरा नामक श्रेष्ठ नगरी है। वह यमुना नदी से मानो नील वस्त्र को धारण करने वाली स्त्री हो, ऐसी शोभा दे रही है। उस नगरी में हरिवंश प्रख्यात राजा वसु के पुत्र बृहद्ध्वज और अनेक राजाओं के पश्चात् यदु नामका एक राजा हुआ। यदु के सूर्य के समान तेजस्वी शूर अभिधान वाला पुत्र था। शूर के शौरि और सुवीर नाम के दो वीर पुत्र हुए। शूर राजा ने संसार से विरक्त होकर शौरि को राज्य सिंहासन पर बिठाकर और सुवीर को युवराज पद देकर दीक्षा ग्रहण की। शौरि ने अपने अनुज बंधु सुवीर को मथुरा का राज्य देकर स्वयं कुशार्त देश में गया। वहाँ उसने शौर्यपुर नाम का एक नगर बसाया। शौरि राजा के अंधकवृष्णि आदि और सुवीर के भोजवृष्णि आदि पुत्र हुए। महाभुज सुवीर मथुरा का राज्य अपने पुत्र भोजवृष्णि को देकर स्वंय सिंधु देश में एक सवीरपुर नगर बसाकर वहाँ रहा। महावीर सौरि राजा के पुत्र अंधकवृष्णि को राज्य सौंप कर सुप्रतिष्ठ मुनि के पास दीक्षा लेकर मोक्ष में गये।

(गा. 1 से 8)

मथुरा में राज्य करते हुए भोजवृष्णि के उग्र पराक्रम वाला उग्रसेन नाम का पुत्र हुआ। अंधकवृष्णि के सुभद्रा रानी से दश पुत्र हुए। उनका समुद्र विजय, अक्षोभ्य, स्तिमित, सागर, हिमवान, अचल, धरण, पूरण, अभिचंद्र और वसुदेव ये नाम स्थापित किए। वे दसों दशार्ह इस नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके कुंती और भद्री नाम की दो अनुजा छोटी बहन हुई। उनके पिताने कुंती को पांडू राजा को और भद्री को दमघोष राजा को सौंपी। भद्री का विवाह भी पांडू ही से हुआ था।

(गा. 9 से 12)

एक बार अंधकवृष्णि राजा ने सुप्रतिष्ठ नाम के अवधि ज्ञानी मुनि को प्रणाम करके अंजलिबद्ध होकर पूछा स्वामिन्! मेरे वसुदेव नाम का दसवाँ पुत्र है वह अत्यंत रूपवान और सौभाग्यवाला है साथ ही कलावान और पराक्रमी भी है इसका क्या कारण? सुप्रतिष्ठ मुनि बोले– मगध देश में नंदीग्राम में एक गरीब ब्राहमण था। उसके सोमिला नाम की स्त्री थी। उनके नंदीषेण नाम का पुत्र हुआ। दुर्भाग्य से शिरोमणि रूपी माता–पिता बाल्यावस्था में ही चल बसे। वह मोटा पेट वाला लंबे दांत वाला विकृत नेत्र वाला और चौरस सिर वाला था। अन्य सभी अंग भी कुरूप व बेडौल थे। उसके स्वजनों ने भी उसे छोड़ दिया था। एक बार मृतप्रायः से नंदीषेण को उसके मामा ने स्वीकार किया। उसके मामा के सात पुत्रियां थी। मामा ने उससे कहा कि मैं तुझे मेरी एक कन्या दूंगा। कन्या के लोभ से वह मामा के घर का सब काम करता था। यह बात मामा की कन्याओं को विदित हुई। सबसे बडी यौवनवती कन्या ने कहा यदि पिताजी मुझे इस कुरूपी को देंगे तो मैं मृत्यु का वरण करूंगी। यह सुनकर नंदीषेण को दुख हुआ। तब मामा ने कहा कि दूसरी पुत्री दूँगा तू खेद मत कर। यह सुनकर दूसरी पुत्री ने भी वैसी ही प्रतिज्ञा की। अनुक्रम से सभी पुत्रियों ने वैसी ही प्रतिज्ञा की और उसका प्रतिशोध/विरोध किया। यह सुनकर मामा ने दुखी नंदीषेण को दिलासा देते हुए कहा कि मैं किसी अन्य से मांग करके तेरा किसी कन्या से विवाह करवा दूँगा। अतः हे वत्स! तू आकुल व्याकुल मत हो। परंतु नंदीषेण ने विचार किया कि जब मेरे मामा की कन्याएं भी मुझे चाहती नहीं हैं तो फिर मुझ जैसे कुरूपी को दूसरे की कन्या कैसे चाहेगी? ऐसा विचार करके वैराग्य वासित हो वह वहाँ से निकल कर रत्नपुर नगर आया। वहाँ क्रीडा करते हुए किसी स्त्री पुरूष को देखकर वह अपनी निंदा करने लगा। पश्चात् मरने की वांछा से वैराग्य युक्त हो उपवन में आया। वहाँ सुस्थित नाम के एक मुनि को देखकर उसने उनको वंदना की। ज्ञान से उसके मनोभावों को जानकर वे मुनि बोले अरे मनुष्य! तू मृत्यु का साहस मत कर क्योंकि यह सर्वअधर्म का फल है। सुख के अर्थी को तो धर्म करना चाहिए आत्मघात से कोई सुख मिलता है, दीक्षा लेकर किया हुआ धर्म ही भवभव में सुख के हेतुभूत होता है। यह प्रतिबोध प्राप्त कर, उसने तुरन्त ही मुनि श्री के पास व्रत ग्रहण किया। तत्पश्चात् कृतार्थ होकर उसने साधुओं की वैयावृत्य करने का अभिग्रह लिया।

(गा. 13 से 29)

बाल और ग्लान मुनियों की वैयावृति में कदापि प्रमाद और खेद न करने वाले उन नंदीषेण मुनि की इंद्र सभा में प्रशंसा की। इंद्र के वचनों पर श्रद्धा नहीं करने वाला कोई देव ग्लान मुनि का रूप बनाकर रत्नपुरी के समीपस्थ अरण्य में आया और अन्य साधु का वेश धारण कर नंदीषेण मुनि के स्थान में गया। जैसे ही नंदीषेण मुनि पारणा करने के लिए बैठे और कौर मुंह में ले रहे थे कि इतने में उस साधु ने आकर कहा कि अरे भद्र! साधुओं की वैयावृत करने की प्रतिज्ञा लेकर तू अभी कैसे खाने बैठा है? नगर के बाहर अतिसार रोग से ग्रसित एक मुनि क्षुधा और तृषा से पीड़ित है। यह सुनते ही नंदीषेण मुनि आहार करना छोड़, उन मुनि के लिए शुद्ध पानी की खोज में निकले। उस समय उस देव ने अपनी शक्ति से सर्वत्र आहार निषेध कर दिया। परंतु उन लब्धि वाले मुनि के प्रभाव से उसकी शक्ति ज्यादा चली नहीं। फिर किसी स्थान से नंदीषेण मुनि ने शुद्ध पानी संप्राप्त किया। जैसे ही नंदीषेण मुनि उन ग्लान मुनि के पास पहुँचे, कि उन कपटी मुनि ने कठोर वाक्यों द्वारा उन पर आक्रोश किया अरे अधमा। मैं ऐसी अवस्था में यहाँ पड़ा हूँ और तू भोजन करने में लिप्त रहा। यहाँ शीघ्र क्यों नहीं आया? तेरी वैयावृत्य की प्रतिज्ञा को धिक्कार हो। नंदीषेण मुनि ने विन्रम भाव से कहा हे मुनि! मेरे अपराध को क्षमा करो। अभी मैं आपको ठीक कर देता हूँ। आपके लिए मैं शुद्ध निर्दोष पानी भी ले आया हूँ। पश्चात उनको जल पान करा कर उनको कहा आहिस्ता से थोड़ा बैठ जाइये तब तपाक से मुनि बोले अरे मूढ़। मैं कितना अशक्त हूँ, निर्बल हूँ क्या तुझे यह दिखाई नहीं देता। उनके ऐसे वचन सुनकर उन मायावी मुनि को अपने स्कंध पर उठाकर नंदीषेण मुनि चले। तब भी वह उन पर पग पग पर आक्रोश करते रहे। अरे दुष्ट! जल्दी जल्दी चलकर मेरे शरीर को हिलाकर क्यों पीड़ा दे रहा है। वास्तव में साधु की वैयावृति करनी हो तो अहिस्ता अहिस्ता चल। वह धीरे धीरे चल रहे थे कि उसदेवता ने उन पर विष्टा कर दी तिस पर बोले कि तू वेग भंग क्यों कर रहा है? इतना करने पर भी ओह। इन मुनि की पीड़ा कैसे दूर होगी? ऐसा सोचते हुए नंदीषेण मुनि ने उनके कटु वचनों पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। उनकी इस प्रकार दृढ़ता देख उस देव ने विष्टा का हरण कर लिया, और दिव्य रूप से प्रकट होकर उनको तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया एवं इंद्र द्वारा की गई प्रशंसा की बात कही। उनको खमाकर कहा– हे महायोगी मैं तुमको क्या दूँ?

कहो। मुनि ने कहा – मैंने महादुर्लभ धर्म प्राप्त किया है उससे विशेष साररूप इस जगत में दूसरा कुछ भी नहीं है जो मैं तुमसे मांगू।

(गा. 30 से 46)

इस प्रकार मुनि के वचन सुनकर वह देव स्वर्ग में और मुनि अपने उपाश्रय में आए। अन्य मुनियों के पूछने पर गर्व रहित हो सब कह सुनाया। उसके पश्चात उन्होंने बारह हजार वर्ष तक दुस्तर तप किया और अंत समय में अनशन किया। इस दौरान उनको अपना दुर्भाग्य स्मरण हो आया। उस समय उन्होंने नियाणा किया कि इस तप के प्रभाव से मैं आगामीभव में रमणियों का अति वल्लभ अर्थात अति प्रिय स्वामी होऊँ। ऐसा निदान करके मृत्यु होने के पश्चात महाशुक्र देवलोक में देव बने। वहाँ से च्यवकर वह तुम्हारा पुत्र वासुदेव हुआ है। पूर्वभव में कृत नियाणो के कारण वह रमणियों को अतिवल्लभ है। यह सुन अंधकवृष्णि राजा ने समुद्र विजय को राज्य पर स्थापित कर स्वयं सुप्रतिष्ठत मुनि के पास दीक्षा लेकर मोक्ष में गये।

(गा. 47 से 51)

इधर राजा भोजवृष्णि ने भी दीक्षा ली तो मथुरा में उग्रसेन राजा हुए। उनके धारिणी नाम की पटरानी थी। एक बार उग्रसेन राजा बाहर जा रहे थे कि मार्ग में एकांत में बैठे हुए किसी मासोपवासी तापस को उन्होंने देखा। तापस को ऐसा अभिग्रह था कि, मासोपवास के पारणे पर पहले घर में से ही भिक्षा मिले तो मासक्षमण का पारणा करना, न मिले तो दूसरे घर से भिक्षा लेकर पारणा नहीं करना। इस प्रकार मास मास में एक घर की भिक्षा से पारणा करके एंकात प्रदेश में जाकर वह रहता था। किसी के गृह में नहीं रहता। यह हकीकत सुन उग्रसेन राजा ने उनको पारणे का निंमत्रण देकर राजमहल में बुलाया। तापस मुनि भी उनके पीछे पीछे आए। राजमहल में आकर राजा वह बात भूल गया। इसलिए उस तापस को भिक्षा ने मिलने से पारणा किये बिना वह पुनः अपने आश्रम में आ गया और दूसरे दिन में पुनः मासपक्षण अंगीकार कर लिया। अन्य किसी समय राजा फिर से उस स्थान की तरफ आये तब वहाँ वही तापस उनके नगर में आया। तब अपना पहले का निमंत्रण याद आने पर राजा ने खेद पूर्ण वचनों से उन्हें खमाया एवं पुनः उन्हें पारणे का निमंत्रण दिया। दैवयोग से फिर से पहले की जैसे भूल गये। अतः तापस क्रोधित हो उठा। फलस्वरूप इस तप के प्रभाव से

भवांतर में इसका वध करने वाला होऊँ, ऐसा नियाणा करके अनशन करके मृत्यु हुई। वहाँ से वह उग्रसेन की स्त्री धारिणी के उदर में उत्पन्न हुआ। उसके अनुभव से किसी दिन रानी को पति का मांस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। दोहद पूर्ण न होने की वजह से रानी दिन पर दिन दुर्बल होने लगी।

(गा. 52 से 63)

कहने में लज्जा आने पर बहु कष्ट पूर्वक एक दिन रानी ने वह दोहद अपने पति को बताया। कुछ दिन पश्चात मंत्रियों ने राजा को अंधकार में रखकर उसके उदर पर खरगोश का मांस रखकर उसमें से काट काट कर रानी को देने लगे। जब उसका दोहद पूर्ण हुआ तब वह अपनी मूल प्रकृति में आ गई। तब वह बोली कि अब पति के बिना यह गर्भ और जीवन भी किस काम का? अंत में जब वह पति के बिना मरने को तैयार हो गई तब मंत्रियों ने उसे कहा कि– हे देवी! आप मरो मत। हम अपने स्वामी को सात दिन के अंदर संजीवन कर दिखायेंगे इस प्रकार कहकर स्वस्थ हुई रानी को मंत्रियों ने सातवें दिन उग्रसेन राजा को बताया। इससे रानी ने एक बड़ा उत्सव किया। पोष महिने की कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को चंद्र का मूल नक्षत्र में आने पर भद्रा में देवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। प्रथम ही भंयकर दोहद से भयभीत रानी ने पहले से तैयार करवाई हुई एक कांसे की पेटी में जन्म होते ही उस बालक को उसमें रख दिया। उस पेटी में राजा और अपने नाम से अंकित दो मुद्रिका तथा पत्रिका डालकर रत्न भरकर उसने दासी के द्वारा वह पेटी यमुना नदी के जल में प्रवाहित कर दी और पुत्र की जन्मते ही मृत्यु हो गई ऐसा रानी ने राजा को कह दिया।

(गा. 64 से 70)

यमुना नदी उस पेटी को बहाती बहाती शौर्यपुर के द्वार पर ले गई। सुभद्र नाम का रस कारस वणिक घी आदि रस पदार्थों का व्यापारी प्रातःकाल शौचादि से निवृत होने के लिए नदी पर आया था, उसने उस काँसे की पेटी को आते हुए देखा। उसने उसे खींचकर जल से बाहर निकाल लिया। उस पेटी को खोलते ही उसमें पत्रिका और दो रत्नमुद्रा सहित बालचंद्र जैसा एक सुंदर बालक देखकर उसे अत्यंत विस्मय हुआ। वह वणिक उस पेटी आदि के साथ उस बालक को अपने घर ले आया, और हर्ष से अपनी इंदु नाम की पत्नी को पुत्र रूप से अपर्ण किया। दोनों दंपति ने उसका कंस नाम रखा और मधु क्षीर तथा घृत

आदि से उसे बड़ा किया। जैसे जैसे वह बड़ा हुआ वैसे वैसे कलहशील होकर लोगों के बालकों को मारने कूटने लगा। जिससे उस वणिक दंपति के पास प्रतिदिन लोगों के उपालंभ आने लगे। जब वह दस वर्ष का हुआ तब उस दंपतिने वसुदेव कुमार को उसे सेवक रूप से अर्पित किया। वह वसुदेव को अतिप्रिय हो गया। वहाँ वसुदेव के साथ रहकर सर्वकलाओं को सीखने लगा, साथ में ही खेलने लगा और साथ साथ यौवनवय को प्राप्त किया। इस प्रकार साथ रहते हुए वसुदेव और कंस एक राशि में आए हुए बुध और मंगल की भांति सुशोभित होने लगे।

(गा. 71 से 79)

इसी समय में शुक्तिमती नगरी के राजा वसु के सुवसु नामक पुत्र था जो कि भागकर नागपुर चला गया था उसके बृहद्रथ नाम का पुत्र हुआ और उसके जरासंध पुत्र हुआ। वह जरासंध प्रचंड शक्ति वाला और त्रिखंड भरत का स्वामी प्रतिवासुदेव हुआ। उन्होंने समुद्र विजय राजा को दूत भेजकर कहलाया कि वैताढ्यगिरी के पास सिंहपुर नामक नगर में सिंह जैसा दुःसह सिंहरथ नाम का राजा है, उसे बांधकर यहाँ ले आओ साथ ही कहलाया कि उसे बांधकर लाने वाले पुरूष को मैं अपनी जीवयशा नाम की पुत्री दूँगा और उसकी इच्छानुसार एक समृद्धिमान नगर दूँगा दूत के ऐसे वचन सुनकर वसुदेव कुमार ने जरासंध का वह दुष्कर शासन करने की समुद्रविजय के पास मांग की। कुमार की ऐसी मांग सुनकर राजा समुद्रविजय ने कहाकि हे कुमार! तुम जैसे सुकुमार बालक को अभी युद्ध करने जाने का अवसर नहीं है अतः ऐसी मांग करना उचित नहीं है। वसुदेव ने पुनः आग्रहभरी मांग की तब समुद्रविजय ने विपुल सेना के साथ उसे बडी मुश्किल से विदा किया।

(गा. 80 से 87)

वसुदेव शीघ्र ही वहाँ से चला। उसका ससैन्य आना सुनकर सिंहरथ भी सैन्य लेकर सन्मुख आया। उन दोनों के बीच भारी संग्राम हुआ। जब सिंहरथ ने वसुदेव की सेना को पराजित किया तब वसुदेव कंस को सारथि बनाकर स्वंय युद्ध करने हेतु उसके पास आया। सुर असुर की भांति क्रोध से परस्पर विजय की इच्छा से उन्होंने विविध प्रकार के आयुधों से चिरकाल तक भारी युद्ध किया। पश्चात महाभुज कंस ने सारथी पन को छोड़कर बडी परिधि से

सिंहरथ के दृढ़ रथ को चकनाचूर कर दिया। तब उसने कंस को मारने के लिए क्रोध से प्रज्वलित होकर म्यान में से खड्ग निकाला, उस समय वसुदेव ने क्षुरपु बाण से छलबल में उत्कट ऐसे कंस ने भेड को नाहर उठा ले वैसे हीं सिंहरथ को बांधा और उठाकर वसुदेव के रथ में फेंका। उस समय सिंहरथ की सेना वहाँ से भाग गई अतः वसुदेव विजयी हो सिंहरथ को पकड कर अनुक्रम से अपने नगर में आये।

(गा. 88 से 94)

राजा समुद्रविजय ने वसुदेव को एकांत में कहा कि क्रोष्टु की नाम के एक ज्ञानी महात्मा ने इस प्रकार के हित वचन कहे थे कि जरासंध की पुत्री जीवयशा कनिष्ट लक्षणवाली होने से वह पति और पिता दोनों कुलों का नाश करने वाली है इस सिंहरथ को पकड़कर लाने के बदले में जरासंध उस पुत्री को तुमको पारितोषिक रूप में देगा उस समय उसका त्याग करने का कोई उपाय पहले से ही सोच लेना तब वसुदेव ने कहा कि इस सिंहरथ को रज में युद्ध करके बांधकर लाने वाला कंस है अतः वह जीवयशा कंस को ही देना योग्य है तब समुद्रविजय ने कहा कि यह कंस वणिक पुत्र है तो उसे जीवयशा नहीं देगा, परंतु पराक्रम से तो वह क्षत्रिय जैसा ही लगता है। समुद्रविजय ने उस रसवणिक को बुलाकर धर्म को बीच में रखकर उसे कंस की उत्पति के विषय में पूछा। तब उसने कंस का सर्व वृत्तांत अथ से इति तक कंस के समक्ष ही कह सुनाया। सुभद्र वणिक ने उग्रसेन राजा और धारिणी रानी की मुद्रिका और पत्रिका समुद्रविजय राजा को दी। समुद्रविजय ने वह पत्रिक पढी, उसमें लिखा था कि राजा उग्रसेन की रानी धारिणी ने भंयकर दोहद से भयभीत होकर अपने पति की रक्षा के लिए इस प्राणप्रिय पुत्र का त्याग किया है और नाममुद्रा सहित सर्व आभूषणों से भूषित ऐसे इस बलपुत्र को कांसे की पेटी में डालकर यमुना नदी में प्रवाहित किया है इस प्रकार की पत्रिका पढकर राजा समुद्रविजय ने कहा कि यह महाभुज कंस यादव है और उग्रसेन का पुत्र है अन्यथा उसमें ऐसा वीर्य संभव नहीं हो सकता है। राजा समुद्रविजय कंस को साथ लेकर अर्धचिक्री जरासंध के पास गये और सिंहरथ राजा को उनको सौंपा। साथ ही कंस का पराक्रम भी बतलाया। जरासंध ने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री जीवयशा कंस को दी। उस समय कंस ने पिता के रोष से मथुरापुरी की मांग की। अतः मथुरा भी कंस को दी। जरासंध प्रदत सैन्य

को लेकर कंस मथुरा आया। वहाँ आकर क्रूर कंस ने अपने पिता उग्रसेन को बांधकर कारागृह में डाला और स्वंय मथुरा का राजा बना।

(गा. 95 से 107)

उग्रसेन के अतिमुक्त आदि पुत्र भी थे। अतिमुक्त ने पिता के दुःख से दुःखित होकर दीक्षा ले ली। अपनी आत्मा को कृतार्थ मानने वाले कंस ने शौर्य नगर से सुमद्र वणिक को बुलाकर सुवर्णादिक के दान से उनका बहुत सत्कार किया। कंस की माता धारिणी ने अपने पति को छोड देने के लिए कंस को विनती की तथापि उसने किसी भी हिसाब से अपने पिता उग्रसेन को छोड़ा नहीं। धारिणी कंस के मान्य पुरूषों के घर जाकर प्रतिदिन कहती की कांसे की पेटी में डालकर कंस को यमुना नदी में मैंने जो बहा दिया था, उस बात की तो मेरे पति उग्रसेन को तो पता भी नहीं है, वे तो सर्वथा निरपराधी हैं, अपराधी तो मैं हूं, अतः मेरे पति देव को तुम छुडा दो। वे जब आकर कंस को कहते तो भी कंस ने उग्रसेन को छोड़ा नहीं, क्योंकि पूर्वजन्म में किया हुआ नियाणा कभी निष्फल नहीं होता।

(गा. 108 से 113)

जरासंध ने समुद्रविजय का सत्कार करके विदा किया, वहाँ से वे शौर्यपुर नगर में आए। वसुदेव शौर्यपुर में स्वेच्छा से भ्रमण करने लगे। उनके सौंदर्य से मोहित होकर नगर की स्त्रियां मानो मंत्रमुग्ध हो वैसे उनके पीछे घूमने लगी। इस प्रकार स्त्रियों के लिए काम रूप जिनका सौंदर्य है ऐसे समुद्र विजय के अनुज बंधु वसुदेव कुमार इधर–उधर घूमते हुए अनंत काल तक निर्गमन करते रहे। एक बार नगर के महाजन लोगों ने आकर एकांत में कहा कि तुम्हारे लघु बंधु वसुदेव के रूप से नगर की सर्व स्त्रियां मर्यादा रहित हो रही हैं। जो कोई भी स्त्री वसुदेव को एक बार भी देख लेती है, तो वह परवश हो जाती है और कुमार को बार–बार नगर घूमते देखती हैं, तो उसकी तो बात ही क्या करनी? राजा ने महाजनों से कहा, मैं तुम्हारी इच्छानुसार बंदोबस्त करूँगा। ऐसा कहकर उसको बिदा किया। पश्चात् उन्होंने वहाँ स्थित लोगों में कहा कि यह बात कोई भी वसुदेव को मत कहना। एक दिन वसुदेव समुद्रविजय को प्रणाम करने आए तब वसुदेव को अपने उत्संग में बिठाकर राजा ने कहा हे कुमार! पूरे दिन नगर में बाहर पर्यटन करने से तुम कृश हो गये हो अतः दिन में बाहर न जाकर महलों में

ही रहो और हे वत्स! यहाँ रहकर नवीन कलाएं सीखो और जो कुछ सीखा है उसे याद करो। कलाकारों की गोष्ठी मे तुमको विनोद उत्पन्न होगा। इस प्रकार अग्रज बंधु के वचनों को सुनकर विनीत वसुदेव ने स्वीकार किया और तब से महलों में रहकर गीत नृत्यादि में विनोद करते हुए दिन व्यतीत करने लगे।

(गा. 114 से 123)

एक दिन गंध लेकर कुब्जा नामक एक गंधधारिणी दासी जा रही थी। उससे कुमार ने पूछा, यह गंध किसके लिए ले जा रही हो? कुब्जा बोली, यह गंधद्रव्य राजा समुद्रविजय के लिए शिवादेवी ने स्वयं भेजा है। वसुदेव ने कहा, यह गंधद्रव्य मेरे भी काम आएगा। ऐसा कह मजाक में उन्होंने वह गंधद्रव्य उसके पास से ले लिया। इसलिए वह कुपित होकर बोली, तुम्हारे ऐसे कृत्य से ही तो तुमको नियंत्रित करके यहाँ रखा है। कुमार ने कहा, यह क्या कहते हो? तब भयभीत हुई कुब्जा ने नगर जनों का सर्व वृतांत अथ से इति तक कह सुनाया। क्योंकि स्त्रियों के हृदय में कोई बात दीर्घ काल तक रहती ही नहीं है। दासी द्वारा कही बात जानकर वसुदेव ने विचार किया कि नगर की स्त्रियों की अपने ऊपर अनुरक्ती जाग्रत करने के लिए मैं नगर में घूमता हूँ इस प्रकार यदि समुद्रविजय मानते हों तो मुझे वहाँ निवास करने की कोई आवश्यकता नहीं है ऐसा विचार करके कुब्जा को विदाकर उसी रात्रि में गुटिका से वेश परिवर्तन करके वसुदेव कुमार नगर से बाहर निकल गए।

(गा. 124 से 130)

वहाँ से शमशान में आकर निकट पड़े काष्ठ की चिता बनाकर उसमें किसी अनाथ शव को रखकर वसुदेव ने उसे जला डाला। गुरूजनों को क्षमाते हुए वसुदेव ने अपने हस्ताक्षर से पत्र लिखकर एक स्तंभ के ऊपर लटका कर उसमें इस प्रकार लिखा कि लोगों ने गुरूजन के समक्ष गुण को दोष रूप स्थापित किया, अतः अपनी आत्मा को जिंदा ही मरा जैसे समझ वसुदेव ने अग्नि में प्रवेश किया है। इसलिए अपने तर्क–वितर्क से कल्पित मेरा हुआ या न हुआ दोष सर्व गुरूजन और नगरजन मुझे क्षमा करें। ऐसा करके ब्राह्मण का वेश बनाकर वसुदेव उन्मार्ग पर चल दिये। अनुक्रम से बहुत समय तक चल लेने पर सन्मार्ग आया। वहाँ किसी रूप में बैठी हुई स्त्री ने उसको देखा। वह स्त्री अपने पिता के घर जा रही थी। उसने अपनी माता को कहा कि इस श्रांत थके हारे ब्राह्मण को

रथ में बिठा दो। उसने उसे रथ में बिठा लिया। अनुक्रम से चलते हुए उनका गांव आया। वहाँ वसुदेव स्नानादि से निवृत हो भोजन करके सांयकाल किसी यक्ष के मंदिर में जाकर रहे।

(गा. 131 से 136)

यहाँ मथुरा में वसुदेव कुमार ने अग्नि में प्रवेश किया यह खबर सुन परिवार सहित यादव रूदन करने लगे। उन्होंने वसुदेव की उत्तरक्रिया की। यह बात सुन वसुदेव निश्चिंत हो गए। चलते चलते वे विजय खेट नामक नगर में पहुंचे। वहाँ सुग्रीव नामक राजा था। उनके श्यामा और विजय सेना नामक दो कलाविद कन्याएं थी। वसुदेव में कला विजय के प्रण से दोनों कन्याओं के साथ विवाह किया। उनके साथ क्रीडा करते हुए वहाँ ही रहे। वहाँ विजय सेना के अक्रूर नाम का पुत्र हुआ। मानो दूसरा वसुदेव हो ऐसा वह लगता था। उन सबको वहीं छोड अकेले ही वहाँ से निकलकर एक घोर अटवी में आए। वहाँ तृषा से अभिभूत होकर जलावर्त नाम के एक सरोवर के पास आए। उसी समय एक जंगम विंध्याद्रि जैसा हाथी उनके सामने दौड़ता हुआ आया। वहाँ उसको खूब हैरान करके कुमार सिहं की भांति उस पर चढ बैठा। उनको हाथी पर बैठा देख अर्चिमाली और पवनंजय नाम के दो खेचर उनको कुंजरावर्त नाम के उद्यान में ले गए। वहाँ अशनिवेग नामक एक विद्याधर राजा था उन्होंने श्यामा नामकी अपनी कन्या को वसुदेव को दी वे उसके साथ वहाँ क्रीडा करने लगे। एक बार श्यामा ने ऐसी वीणा बजाई कि वसुदेव ने उससे संतुष्ट होकर वरदान मांगने को कहा। तब उसने वरदान मांगा कि मुझे तुम्हारा वियोग न हो वसुदेव ने पूछा कि ऐसा वरदान मांगने का क्या कारण है? तब श्यामा बोली वैताढ्यगिरी पर किन्नरगीत नामक नगर में अर्चिमाली नामक राजा था। उनके ज्वलनवेग और अशनिवेग नामक दो पुत्र हुए। अर्चिमाली ने ज्वलनवेग को राज्य देकर व्रत ग्रहण किया। ज्वलनवेग के अर्चिमाला नामक स्त्री से अंगाकर नामक का पुत्र हुआ। और अशनिवेय के सुप्रभा रानी के उदर से श्यामा नाम की पुत्री हुई। ज्वलनवेग अशनिवेग को राज्य देकर स्वर्ग सिधाया। ज्वलनवेग के पुत्र अंगारक ने विद्या के बल से मेरे पिता अशनिवेग को निकालकर राज्य ले लिया। मेरे पिता अष्टापद पर गये, वहाँ एक अंगिरस नाम के चरणमुनि से उन्होंने पूछा कि मुझे राज्य मिलेगा या नहीं? मुनि बोले– तेरी पुत्री श्यामा के पति के प्रभाव से तुझे

राज्य मिलेगा और जलावर्त सरोवर के पास जो हाथी को जीत लेगा, वह तेरी पुत्री का पति होगा, ऐसा जान लेना। मुनि की वाणी की प्रतीती से मेरे पिता यहाँ एक नगर बसा कर रहे और हमेशा वे जलावर्त सरोवर के पास तुम्हारी शोध के लिए दो खेचरों केा भेजने लगे। वहाँ तुम हाथी को जीतकर उसपर चढ बैठे।

(गा. 137 से 154)

ऐसा देख खेचर तुमको यहाँ ले आए। पश्चात मेरे पिता अशनिवेग ने मेरी तुम्हारे साथ शादी की। पूर्व में किसी समय महात्मा धरणेंद्र नागेंद्र और विद्याधरों ने ऐसा तय किया कि जो पुरूष अर्हत चैत्य के पास रहा हो जिसके साथ स्त्री हो अथवा जो साधु के समीप बैठा हो, ऐसे पुरूष को जो मारेगा वह विद्यावान होगा तो भी विद्यारहित हो जाएगा। हे स्वामिन! इसी कारण से मैंने आपसे वियोग न हो ऐसा वरदान माँगा है जिससे एकाकी देख तुमको वह पापी अंगारक मार न डाले। इस प्रकार उसकी वाणी को स्वीकार कर अंधकवृष्णि के दसवें पुत्र वसुदेव कुमार कलाभ्यास के विनोद द्वारा उसके साथ काल निर्गमन करने लगे। एक समय वसुदेव श्यामा के साथ रात्रि में सो रहे थे कि उस समय अंगारक विद्याधर उनका हरण कर गया। वसुदेव ने जागने पर देखा कि मेरा कौन हरण कर रहा है। वहाँ तो श्यामा के मुख वाला अंगारक खड़ा रहा, खडा रहा ऐसा बोलती हुई खड्ग धारिणी श्यामा उसे दिखाई दी। अंगारक ने श्यामा के शरीर के दो भाग कर दिये। यह देख वासुदेव बहुत पीडित हुए। इतने में तो अंगारक के सामने दो श्यामा युद्ध करती दिखाई दी। तो वसुदेव ने यह मायाजाल है ऐसा निश्चय करके इंद्र जैसा वज्र द्वारा पर्वत पर प्रहार करते हैं, वैसे सृष्टि मुष्टि द्वारा अंगारक पर प्रहार किया। उस प्रहार से पीडित अंगारक ने वसुदेव को आकाश में से नीचे फेंक दिया। वे चंपानगरी के बाहर विशाल सरोवर में आकर गिरे। हंस की तरह उस सरोवर को तैर कर वसुदेव उस सरोवर के तीर पर आए हुए उपवन में स्थित श्रीवासुपूज्य प्रभु के चैत्य में गए। श्री वासुपूज्य प्रभु को वंदन करके अवशेष रात्रि वहीं पर व्यतीत की। प्रातःकाल किसी ब्राहमण के साथ चंपानगरी में आए।

(गा. 155 से 165)

उस नगरी में स्थान स्थान पर हाथ में वीणा लेकर घूमते हुए युवा वर्ग को देखकर एक ब्राह्मण को उसका कारण पूछा। तब ब्राह्मण ने कहा, इस नगर में

चारूदत्त नाम का एक श्रेष्ठी रहता है। उसके गंधर्व सेना नाम की कला के एक स्थान जैसी रूपवती कन्या है। उसने ऐसी प्रतिज्ञा की है कि जो गायनकला में मुझे जीत लेगा वही मेरा भर्तार होगा। इसलिए उसको वरने के लिए ये सर्व जन गायन कला सीखने में प्रवृत हुए हैं। प्रत्येक महिने में सुग्रीव और यशोग्रीव नाम के दो गंधर्वाचार्यों के समक्ष गायन प्रयोग होता है। यह सुनकर वसुदेव उन दोनों में उन्नत ऐसे सुग्रीव पंडित के पास ब्राह्मण के रूप में गये और जाकर कहा कि मैं गौतम गोत्री स्कंदिल नाम का ब्राह्मण हूँ। चारूदत्त श्रेष्ठी की पुत्री गंधर्वसेना को वरने के लिए मैं तुम्हारे पास गंधर्व कला का अभ्यास करना चाहता हूँ। अतः मुझ जैसे विदेशी को आप शिष्य रूप से अंगीकार करो। धूल में ढंके रत्न को नहीं पहचानने वाले मूढ़ की तरह गायनाचार्य सुग्रीव उसे मूर्ख समझकर आदरपूर्वक अपने पास रहने को भी नहीं कहा। तो भी वासुदेव कुमार ग्राम्य वचन से लोगों को हंसाता अपने मूल स्वरूप को गुप्त रखता गायन विद्या के बहाने सुग्रीव के पास रहे। एक बार गायनकला के बाद सुग्रीव की स्त्री ने पुत्रवत स्नेह से वसुदेव को एक सुंदर वस्त्र का जोड़ा दिया। पहले श्यामा ने भी एक वेश दिया था उस वस्त्र के जोड़े को भी धारण करके वसुदेव लोगों को कौतुक उत्पन्न करता हुआ चला।

(गा. 166 से 175)

तब नगर के लोग चल, चल तू ही गायन विद्या जानता है, इससे हम मानते हैं कि आज तू गंधर्व सेना को जीत ही लेगा ऐसा कहते हुए उसका उपहास करने लगे। उस उपहास से प्रसन्न होते हुए वसुदेव गायकों की सभा में गये। वहाँ लोगों ने भी उपहास में उसे ऊँचे आसन पर बिठाया। उस समय मानो कोई देवांगना पृथ्वी पर आई हो, ऐसी गंधर्वसेना सभामंडप में आई। उसने क्षणभर में ही स्वदेशी विदेशी बहुत से गायकों को जीत लिया। जब वसुदेव का बात करने का समय आया, तब उसने अपना रूप प्रकट किया। जिससे कामरूपी देव के समान शोभने लगा। उसका रूप देखते ही गंधर्वसेना भी मोहित हो गई। यह कौन होगा ऐसा तर्क वितर्क करते हुए सब लोग भी विस्मित हो गए। पश्चात् लोगों ने जो जो वीणा बजाने को दी, उन सबमें दोष बताकर छोड़ दी। पश्चात गंधर्व सेना ने स्वंय की वीणा बजाने को दी तब उसे सज्ज करके वसुदेव ने पूछा कि हे सुभ्रु! क्या इस वीणा द्वारा मुझे गायन करना है? गंधर्व सेना बोली, हे गीतज्ञ। पद चक्रवर्ती के ज्येष्ठ बंधु विष्णु कुमार मुनि का त्रिविक्रम संबंधी गीत इस वीणा में बजाओ। पीछे मानो पुरूषवेषी सरस्वती की सम्मति पूर्वक गंधर्व सेना को जीत

लिया। तत्पश्चात् चारूदत्त श्रेष्ठी अन्य सभी वादियों को विदा करके वसुदेव को बहुत मान सम्मान के साथ स्वस्थान लाया। विवाह के समय सेठ ने कहा कि वत्स! किस गोत्र को उद्देश्य करके तुमको दान दूँ, वह कहो। वसुदेव ने हंसकर कहा– जो तुमको योग्य लगे वही कह डालो। श्रेष्ठी ने कहा यह वणिक पुत्री है, यह जान तुमको हंसी आ रही है परंतु किसी समय मैं तुमको इस पुत्री का वृतांत आरंभ से कहूंगा। ऐसा कह चारूदत्त सेठ ने वर कन्या का विवाह किया। सुग्रीव और यशोग्रीव ने भी अपनी श्यामा और विजया नामक कन्या जो वसुदेव के गुणों से रंजित हुई थी, वसुदेव को दी।

(गा. 176 से 189)

एक दिन चारूदत ने वसुदेव से कहा कि इस गंधर्व कन्या का कुल आदि वृतांत सुनो। इस नगरी में भानु नामक एक धनाढ्य सेठ था। उसके सुनयन नाम की पत्नि थी। दोनों निःसंतान होने के कारण दुखी थे। एक वक्त उन्होंने एक चारण मुनि से पुत्र के विषय में पूछा। उन्होंने कहा कि पुत्र होगा, तब अनुक्रम से में उनका पुत्र हुआ। एक दिन मैं मित्रों के साथ क्रीड़ा करने गया था, तब समुद्र के किनारे पर किसी आकाशगामी पुरूष के मनोहर पदचिह्न मुझे दिखाई दिए। उन चिह्नों के साथ स्त्री के भी पदचिह्न थे। जिससे ऐसा ज्ञात हुआ कि कोई पुरूष प्रिया के साथ यहाँ से गया है। आगे जाने पर एक कदलीग्रह में पुष्प की शय्या और ढाल तलवार मुझे दिखाई दिये। उसके समीप एक वृक्ष के साथ लोहे के कीलों के साथ ठोंका हुआ एक खेचर दिखाई दिया और उस तलवार की म्यान के साथ औषधि द्वारा उस खेचर को कीलों से मुक्त किया। दूसरी औषधि से उसके घाव पर लगाकर ठीक किया और तीसरी औषधि से उसे सचेत किया। पश्चात वह बोला, वैताढयगिरी पर शिव मंदिर नगर के राजा महेंद्र विक्रम का मैं अमित गति पुत्र हूं। एक बार धूमशिख और गौरमुंड नाम के दो मित्रों के साथ क्रीडा करता हुआ मैं हिमवान पवर्त पर गया।

(गा. 190 से 198)

वहाँ हिरण्यरोम नाम के मेरे एक तपस्वी मामा की सुकुमालिका नाम की रमणीय कुमारी मुझे दिखाई दी। उसे देखते ही कामार्त हो स्वस्थान पर गया। बाद में मेरे मित्र ने मेरी स्थिति जानकर तत्काल ही मेरे पिता ने मुझे बुलाकर उसके साथ मेरा विवाह करा दिया उसके साथ क्रीडा करता हुआ रहता था कि

एक बार मेरा मित्र धूमशिख मेरी स्त्री का अभिलाषी हुआ है, ऐसी उसकी चेष्टाओं से मैंने जाना। तथापि उसके साथ विहार करता मैं यहाँ आया। वहीं उसने मुझ प्रमादी को कीलों से जड दिया और सुकुमालिका का हरण कर दिया। इस महाकाष्ट में से तुमने मुझे छुड़ाया है तो वहाँ अब मैं तुम्हारा क्या काम करूं कि जिससे हे मित्र! तुम जैसे अकारण मित्र से मैं उऋण हो सकूँ।

(गा. 199 से 203)

मैनें कहा, हे सुंदर! तुम्हारे दर्शन से मैं तो कृतार्थ हो गया हूँ यह सुनकर तत्काल ही वह खेचर उड़कर चला गया और मैं वहाँ से घर आ गया मित्रों के साथ क्रीड़ा करने लगा। अनुक्रम से माता पिता के नेत्रों को प्रसन्नता प्रदान करता मैंने यौवन वय में पदार्पण किया। माता पिता की आज्ञा से मैं शुभ दिन में सर्वार्थ नामक मेरे मामा की मित्रवती पुत्री से विवाह किया। कला की असाक्ति से मैं उस स्त्री से भोगासक्त नहीं हुआ, जिससे मेरे माता पिता मुझे मुग्ध जानने लगे। उन्होंने मुझे चातुर्य प्राप्ति के लिए श्रृंगार की ललित चेष्टा में जोड़ दिया। फलस्वरूप में उपवनों में स्वेच्छा से भ्रमण करने लग गया। ऐसे करते करते मैं कलिंग सेना की पुत्री वसंत सेना नाम की वेश्या के साथ उसके घर पर बारह वर्ष तक रहा। वहाँ रहकर मैंने अज्ञानता से सोलह करोड़ सुवर्ण द्रव्य उड़ा दिये। अंत में कलिंग सेना ने मुझे निर्धन जानकर उसके घर से बाहर निकाल दिया। वहाँ से घर आने पर माता–पिता का निधन हुआ जानकर धैर्य से व्यापार करने के लिए मेरे स्त्री के आभूषण ग्रहण किये एवं मेरे मामा के साथ व्यापार के लिए चलकर मैं उशीरवर्ती नगर में आया।

(गा. 204 से 212)

वहाँ आभूषणों को बेचकर मैंने कपास खरीदा। वह लेकर मैं ताम्रलिप्ती नगर में जा रहा था कि मार्ग में दावानल में वह कपास भी जल गया। जिससे मेरे मामा ने मुझे निर्भागी जानकर छोड़ दिया। वहाँ से अश्व पर बैठकर में अकेला ही पश्चिम दिशा की ओर चल दिया। मार्ग में मेरा अश्व भी मर गया, अतः मैं पदचारी हो गया। लंबी मंजिल से ग्लानि पाता हुआ भूख और तृष्णा से पीडित हुआ मैं वणिक लोगों से आकुल होकर प्रियंगु नगर में आया वहाँ मेरे पिता के मित्र सुरेंद्रदत ने मुझे देखा। वह मुझे अपने घर ले गया। वहाँ वस्त्र और भोजन से सत्कार प्राप्त कर पुत्र की तरह मैं सूखपूर्वक रहने लगा। उनके पास से एक लक्ष

द्रव्य मैंने ब्याज पर लिया। उन्होंने मुझे बहुत रोका तो भी मैं उससे किराने का सामान वाहन में भरकर समुद्रमार्ग से चल दिया। अनुक्रम से यमुना द्वीप में आकर दूसरे अंतर्दीप और नगरों में गमना गमना करके मैंने आठ कोटि सुवर्ण उपार्जन किया। वह द्रव्य लेकर मैं जलमार्ग से ही स्वदेश की ओर चल दिया। मार्ग में मेरा जहाज टूट गया और मात्र एक पाटिया मेरे हाथ में आया। सात दिन में समुद्र को तैर कर मैं उदुंबरावती कुल नाम के समुद्र किनारे पहुँचा। वहाँ राजपुर नाम का एक नगर था। बडी मुश्किल से मैं वहाँ गया। उस नगर के बाहर एक बहुत झाड़ियों वाला उद्यान था, वहाँ जाकर मैं रहने लगा। वहाँ दिनकरप्रभ नाम का एक त्रिदंडी संन्यासी मुझे दिखाई दिया। उनके समक्ष मैंने अपना गौत्र आदि ज्ञापित किया, जिससे वह मुझ पर प्रसन्न हुये और मुझे पुत्रवत रखने लगे।

(गा. 213 से 222)

एक दिन उस त्रिदंडी ने मुझे कहा कि तू द्रव्य का अर्थी लगता है, अतः हे वत्स! चल हम इस पर्वत के ऊपर चलें। वहाँ मैं तुझे एक ऐसा रस दूंगा कि जिससे तुझे इच्छा के अनुसाार कोटि गम सुवर्ण की प्राप्ति हो सकेगी। उसके ऐसे वचन सुनकर मैं खुश होकर उसके साथ चला। दूसरे दिन अनेक साधकों से परिकृत एक महान अटवी में हम आ पहुँचे। उस गिरी के नितंब पर चढ गये। वहाँ बहुत यंत्रमय शिलाओं से व्याप्त और यमराज के मुख जैसा बड़ा गहरा दिखाई दिया। वह महागहरा गढ्ढा दुर्गापताल नाम से प्रसिद्ध था। त्रिदंडी ने मंत्रोच्चार द्वारा उसका द्वार खोला। हमने उसमें प्रवेश किया। उसमें खूब घूमे तब एक रसकूप हमें दिखाई दिया। वह कूप चार हाथ लंबा चौडा था और नरक के द्वार तुल्य भंयकर दिखाई देता था। त्रिदंडी ने मुझ से कहा कि इस कूप में उतरकर तू तुबंड़ी में उसका रस भर ले। उसने रस्सी का एक छोर पकड लिया और दूसरे छोर पर बंधी मंचिका पर बिठाकर मुझे कूप में उतारा। चार पुरूष प्रमाण मैं नीचे उतरा। उसके अंदर घूमती हुई मेखला और मध्य में रहा हुआ रस मुझे दिखाई दिया । उस समय किसी ने मुझे रस लेने का निषेध किया। मैंने कहा कि मैं चारूदत नामक वणिक हूं और भगवान त्रिदंडी ने मुझे रस लेने के लिए नीचे उतारा है, तो तुम मुझे क्यों रोकते हो। तब वह बोला कि मैं भी धनार्थी वणिक हूं और बलिदान के लिए पशु के मांस की तरह मुझे भी उस त्रिदंडी ने रस लेने के लिए रसकूप में डाल दिया और फिर वह पापी चला गया। मेरी सर्व काया का इस रस से नाश हो गया है। इसलिए इस रस में तू हाथ डालना मत। मैं तुझे

तेरे तुबंडी में रस भरकर दे दूंगा। पश्चात मैंने उसे तुंबी दे दी, तब उसने उसे भर दी और मेरी मंचिका के नीचे बांध दी। जब मैंने वह रज्जु हिलाई तब उस त्रिदंडी ने वह रस्सी खींची, अतः मैं कुएं के पाल के पास आया।

(गा. 223 से 236)

उसने मुझे बाहर निकालकर मुझसे वह तुंबी मांगी। उस संन्यासी को परद्रोही और लुब्ध जानकर मैंने वह रस कुंए में ही डाल दिया। इससे उसने मंचिका सहित ही मुझे कुएं में ही डाल दिया। भाग्ययोग से मैं उस वेदी पर जा गिरा। तब उस निष्कारण बंधु ने कहा कि भाई! तू दुखी मत हो। तू रस के अंदर गिरा नहीं है, वेदी पर ही गिरा है यह भी ठीक हुआ। अब जब भी यहाँ गोह आएगी तब तू पूँछ के अवलंबन से कुए से बाहर निकल सकेगा। इसलिए उसके आने तक की राह देख। उसके वचनों से स्वस्थ होकर बारंबार नवकार मंत्र गिनता हुआ अनेक समय तक मैं वहाँ पर रहा। कुछ समय पश्चात उस पुरूष की मृत्यु हो गई। एक बार भंयकर शब्द मुझे सुनाई दिया, जिससे मैं चकित हो गया। परंतु उसे वचन याद आने से ख्याल आ गया कि यह शब्द गोह का होना चाहिए, वह इधर आ रही लगती है। क्षणभर में तो वह पराक्रमी गोह रस पीने को यहाँ आई, तब मैंने कसकर उसकी पूँछ दोनों हाथों से पकड़ ली। गाय के पूँछ के साथ लिपटा गोपाल जैसे नदी में से निकलता है उसी तरह मैं भी उस गोह की पूँछ को चिपकने से कुंए से बाहर निकल गया। बाहर आने पर मैंने उसकी पूँछ छोड़ दी, उस समय मैं मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। कुछ समय बाद होश में आने पर इधर उधर घूमने लगा। इतने में एक अरण्य जंगली महिष वहाँ आया, उसे देखकर मैं एक शिला के ऊपर चढ गया। वह महिष अपने उग्र सींगों से उस शिला को हिलाने लगा। इधर यमराज की बाहु जैसा एक सर्प वहाँ निकला। उसने उस महिष को पकडा। दोनों युद्ध में व्यस्त हो गए, तब मैं उस शिला से उतरकर भागा और दौड़ता दौड़ता अरवी के प्रांत भाग में आए हुए एक गांव में आया। वहाँ मेरे मामा के मित्र रूद्रदत ने मुझे देखा और मेरा पालन किया, फलस्वरूप मैं पुनः नवीन शरीर वाला हो गया।

(गा. 237 से 246)

वहाँ से थोड़ा द्रव्य लेकर उससे अलता जैसा तुच्छ किराना लेकर मैं मातुल के मित्र के साथ सुवर्णभूमि की ओर चला। मार्ग में ईषुवेगवती नामक नदी आई।

उसे पार कर हम दोनों गिरिकूट गए और वहाँ से बरू के वन में आए। वहाँ से टंकण देश में आकर हमने दो मेढे लिए। उस पर बैठकर हमने अजमार्ग का उल्लंघन किया। वहाँ मुझे रूद्रदत ने कहा कि अब यहाँ से पैदल चल सकें ऐसा प्रदेश नहीं है, इसलिए इन दोनों मेढों को मारकर उनके अंतरभाग को बाहर लाकर उनकी दो धमण बनावें। वह ओढकर अपन इस प्रदेश में बैठ जायेंगे, तब मांस के भ्रम से भारंड पक्षी हम को उठाकर ले जायेंगे तो हम शीघ्र ही सुवर्ण भूमि में पहुंच जायेंगे। यह सुनकर मैंने कहा कि जिसकी सहायता से अपन ने इतनी महाकठिन भूमि को पार किया ऐसे बंधु समान इस मेंढे को कैसे मारा जाय? यह सुनकर रुद्रदत्त ने कहा कि ये दोनों मेढे कोई तेरे नहीं है, तो मुझे तू उसे मारने से क्यों रोकता है? ऐसा कहकर उसने क्रोधित होकर तुरंत अपने एक मेढे को मार दिया। तब वह दूसरा मेंढा भयभीत दृष्टि से मेरे सामने देखने लगा। तब मैंने उसको मारते हुए कहा कि, मैं तेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हूं, अतः क्या करूँ? तथापि महाफल देने वाले जैन धर्म की तुझे शरण हो, कारण कि विपति में यह धर्म पिता माता और स्वामी तुल्य है। उस मेंढे ने मेरे द्वारा काटा हुआ अपना मस्तक हिलाकर स्वीकार किया और मेरा सुनाया हुआ नवकार मंत्र समाहित मन से उसने सुना। रूद्रदत ने उसे भी मार डाला। वह देवयोनि में गया। हम दोनों छुरी लेकर उस खोल में बैठ गये। वहाँ दो भारंड पक्षियों ने हमको मांस की इच्छा से उठा लिया। मार्ग में दोनों भारंड पक्षियों में परस्पर युद्ध हुआ। उसके पैरों में से मैं छूट गया और एक सरोवर में आ गिरा। वहाँ छूरी से उस धमण को काटकर मैं बाहर निकला और सरोवर को तैर कर बाहर आया और आगे चल दिया।

(गा. 247 से 258)

वहाँ एक बहुत बड़ा पर्वत मुझे दिखाई दिया। मैं उस पर्वत पर चढा, वहाँ मुझे कायोत्सर्ग में स्थित मुनि दृष्टिगोचर हुए। मैंने उनकी वंदना की तब धर्मलाभ रूपी आशीष देकर मुनि बोले अरे चारुदत्त? तू इस दुर्गभूमि में कहाँ से आ गया? देव विद्याधर या पक्षी के बिना यहाँ कोई नहीं आ सकता। पूर्व में जो तूने मुझे छुड़ाया था वह मैं अमितगति विद्याधारक हूं। उस समय मैं वहाँ से उड़कर मेरे शत्रु के पीछे अष्टापद गिरी के समीप गया था। वहाँ वह मेरी स्त्री को छोडकर अष्टापद गिरी के उपर चला गया। वहाँ पर जौहर करने को तैयार हुई मेरी स्त्री को लेकर मैं मेरे स्थान पर गया। मेरे पिता ने मुझे राज्य देकर स्वयं ने हिरण्यकुभ

और सुवर्ण कुंभ नाम के दो चारण मुनियों के पास व्रत ग्रहण किया। मेरी मनोरमा स्त्री ने मुझे सिंहयशा और वराहग्रीव दो पुत्र हुए। वे भी मेरे जैसे ही पराक्रमी थे विजय सेना नामक दूसरी स्त्री से मेरे गायन विद्या में निपुण ऐसी गंधर्वसेना नाम की एक रूपवती पुत्री हुई। दोनों पुत्रों को राज्य, युवराज पद देकर मैंने भी उन्हीं पिता के गुरू के पास व्रत ग्रहण कर लिया। पश्चात् लवणसमुद्र के मध्य में रहा हुआ यह कुंभकंठक नामक द्वीप है और द्वीप में यह कर्के टक नाम का गिरी है। यहाँ रहकर मैं तपस्या करता हूँ। अब तू बता चारूदत! तू यहाँ कैसे आ गया? मैंने मेरा महाविषम वृत्तांत कह सुनाया।

इतने में रूपसंपति में उनके समान ही दो विद्याधर आकाशमार्ग से वहाँ आए। उन्होंने मुनि को प्रणाम किया। उनके रूप सादृश्य से ये दोनों इनके ही पुत्र हैं, ऐसा जाना। तब वे महामुनि बोले इस चारूदत को प्रणाम करो। वे हे पिता! हे पिता! कहकर मेरे चरणों में झुक गये और मेरे पास बैठे। इतने में वहाँ एक विमान आकाश से उतरा। उसमें से एक देव ने उतर कर प्रथम मुझे नमस्कार किया और बाद में मुनि को प्रदक्षिणा पूर्वक वंदना की। उन दोनों ने उस देव से पूछा कि तुमने वंदना में उल्टाक्रम कैसे किया? देवता ने कहा कि ये चारूदत मेरे धर्माचार्य हैं इसी से मैंने इनको प्रथम नमस्कार किया है। अब मैं अपना वृत्तात तुमको कहता हूं, वह सुनो।

(गा. 270 से 274)

काशीपुर में दो संन्यासी रहते थे, उनके सुभद्रा ओर सुलसा नामकी दो बहनें थी। वे वेद वेदांग में पारगामी थीं। उन्होंने बहुत से वादियों को पराजित किया था। एक बार याज्ञवल्क्य नाम का कोई संन्यासी उनके साथ वाद करने को आया। जो हार जाए, वह जीतने वाले का सेवक होकर रहेगा ऐसी प्रतिज्ञा करके वाद करने पर याज्ञवल्क्य ने सुलसा को जीत कर उन्होंने उसे अपनी दासी बनाया। जब वह तरूणी सुलसा उनकी दासी होकर सेवा करने लगी तब नवीन तारूण्य वाला वह याज्ञवल्क्य काम के वश में हो गया। नगर के समीप रहकर वह हमेशा उसके साथ क्रीड़ा करने लगा। अनेक दिन के पश्चात त्रिंदडी से उसे एक पुत्र हुआ जो कि याज्ञवल्क्य से होना चाहिए। लोगों के उपहास से भयभीत होकर याज्ञवल्क्य और सुलसा उस पुत्र को पीपल के वृक्ष के नीचे रख कर चले गये। यह समाचार जानकर समुद्रा वहाँ आई ओर वहाँ अनायास ही पीपल के

वृक्ष के फल को मुख में लेकर स्वंयमेव खाते हुए ऐसे एक बालक को गोद में ले लिया। उसकी इस पीपल के फल को खाने की चेष्टा से उनको पिपलाद ऐसा यथार्थ नाम रखा। उसे यत्न से बडा किया। और वेदविद्या का अभ्यास कराया। विपुल बुद्धिवाला वह अति विद्वान और वादी के गर्व को तोडने वाला हुआ। उसकी ख्याति सुनकर सुलसा और याज्ञवल्क्य उसके साथ वाद करने आए। उसने दोनों को वाद में जीत लिया। बाद में जब उसे विदित हुआ कि ये दोनों मेरे माता पिता हैं और उन्होंने जन्म से ही मेरा त्याग कर दिया था इससे उसके बहुत क्रोध आया। उसने मातृमेघ और पितृमेघ यज्ञ में उसके पिता माता को मार डाला। बाद में मैं टंकण देश में मेंढा हुआ, जहाँ रूद्रदत ने मुझे मार डाला। उस समय चारूदत ने मुझे धर्म सुनाया जिसके फलस्वरूप मैं सौधर्म देवलोक में देवता हुआ। इसलिए यह कृपानिधि चारूदत मेरे धर्माचार्य हैं। इस कारण प्रथम मैंने उनको प्रथम नमस्कार करके किसी भी क्रम का उल्लंघन नहीं किया।

(गा. 275 से 289)

देव के इस प्रकार कहने पर दोनों खेचर भी बोले कि हमारे पिता को जीवन देने से यह तुम्हारी तरह हमारे भी उपकारी हैं। उस देव ने मुझे कहा कि हे निर्दोष चारूदत्त! कहो, मैं तुम्हारा इहलौकिक में क्या प्रत्युपकार करूँ? मैंने उसे कहा कि तुम योग्य समय पर आना। तब वह देव अंतर्ध्यान हो गया। वे दोनों खेचर मुझे शिवमंदिर नगर में ले गए। उन्होंने और उनकी माता ने जिनका गौरव शाली हुआ है, वे और उनके बंधुओं से अधिकाधिक सेवा लेता हुआ मैं बहुत काल पर्यंत वहाँ ही रहा। एक बार उनकी बहन गंधर्वसेना को मुझे बताकर कहा कि दीक्षा लेते समय हमारे पिता ने हमको कहा कि किसी ज्ञानी ने मुझे कहा है कि कलाओं से जीतकर इस गंधर्वसेना का वसुदेव कुमार के साथ विवाह होगा अतः मेरे भूचरबंधु चारूदत को तुम इस तुम्हारी बहन को दे देना ताकि भूचर वसुदेव कुमार सुखपूर्वक उससे विवाह कर सके। अतः इस पुत्री को तुम्हारी ही पुत्री मानकर तुम इसे ले जाओ। इस प्रकार उनके वचनों को अंगीकार करके मैं गंधर्व सेना को लेकर मेरे स्थानक पर जाने को तैयार हुआ, इतने में वहाँ वह देव आ पहुंचा। पश्चात वह देव वे दोनों खेचर और उनके पक्ष के दूसरे खेचर शीघ्रता से कुशलक्षेम लीलापूर्वक मुझे आकाशमार्ग से यहाँ ले आये। और वह देव तथा विद्याधर मुझे कोटि–कोटि सुवर्ण माणक और मोती देकर अपने अपने स्थान पर गये।

(गा. 290 से 299)

प्रातः काल में मेरे स्वार्थ नाम के मामा मित्रवती नामकी मेरी स्त्री और अखंड वेणी बंध वाली जिसने चारूदत के वियोग से बारह वर्ष पर्यंत वेणी खोलकर गूंथी नहीं। वसंत सेना वेश्या आदि को मैं मिला और सुखी हुआ। हे वसुदेव कुमार! इस प्रकार गंधर्वसेना की उत्पति मैंने तुमको कह सुनायी अतः वह वणिक पुत्री है, ऐसा समझ कर कभी भी उसकी अवज्ञा मत करना।

(गा. 300 से 303)

इस प्रकार चारूदत से गंधर्वसेना का वृतांत सुनकर वसुदेव अति हर्षित होकर उसके साथ रमण करने लगे। एक वक्त वसंत ऋतु में रथ में बैठकर उसके साथ वसुदेव कुमार उद्यान में गए। वहाँ मांतगों से परिवृत और मातंग का वेष धारण की हुई एक कन्या उसको दिखाई दी। उसे देखते ही दोनों को परस्पर राग उत्पन्न हुआ। उस समय उन दोनों को परस्पर विकार सहित देखकर गंधर्वसेना ने लाल आँख करके सारथि को कहा कि रथ के घोड़ो को त्वरित गति से चला, ऐसा कह शीघ्र ही उपवन में जाकर वसुदेव कुमार क्रीड़ा करके चंपानगरी में आए। एक बार उस मातंग यूथ में से एक वृद्ध मांतगी आकर आशीष देकर वसुदेव को बोलती है।

पूर्व में श्री ऋषभदेव प्रभु ने सब को राज्य बांट कर दिया था। उस समय देवयोग से नमि विनमि वहाँ नहीं थे बाद में वे व्रतधारी प्रभु की सेवा करने लगे। इससे प्रसन्न होकर धरणेंद्र ने वैताढ्य की दोनों को श्रेणी का अलग अलग राज्य दिया। अनेक समय के बाद दोनों पुत्रों को राज्य देकर प्रभु के समीप दीक्षा ले ली तथा जैसे भक्त मुग्ध हुए प्रभु को देखने के अभिलाषी हो वैसे वे मोक्ष गए। नमि का पुत्र मांतग नाम का था, वह भी दीक्षा लेकर स्वर्ग में गया उनके वंश में अभी प्रहसित नाम का खेचरपति है। उनकी हिरण्यवती नाम की मैं स्त्री हूं। मेरे सिंहदृष्ट नामक पुत्र और नीलयशा नाम की पुत्री है। जिसे तुमने उद्यान मार्ग में आज ही देखा है। हे कुमार! उस कन्या ने जब से तुमको देखा है, वह कामपीड़ित हुई है अतः तुम उसका वरण करो कुमार। अभी शुभ मुहुर्त है और विलंब वह सहन नहीं कर सकेगी। वसुदेव ने कहा कि मैं विचार करके जवाब दूंगा अतः तुम पुनः आना। हिरण्यवती बोली, कि मैं यहाँ आँउगी या तुम वहाँ आओगे, यह तो कौन जाने ? ऐसा कहकर वह किसी स्थान पर चली गई।

(गा. 307 से 311)

एक बार वसुदेव कुमार ग्रीष्म ऋतु में जल क्रीड़ा करके गंधर्व सेना के साथ सो रहे थे इतने में गाढ रूप से हाथ पकड़ कर उठो ऐसा बार बार कहता हुआ कोई प्रेत वसुदेव को बार–बार मुट्ठी से मारने पर भी उसका हरण करके ले गए। वह वसुदेव को एक चिता के पास ले गया। वहाँ प्रज्वलित अग्नि और अत्यंत रूपवाली वह हिरण्यवती खेचरी वसुदेव को दिखाई दी। हिरण्यवती ने उस प्रेत को आदर से कहा कि हे चंद्रवदन! अच्छा आजा। उस वसुदेव को उसके सौंप कर क्षणभर में अंतर्ध्यांप हो गया। तब हिरण्यवती ने हंसते हुए वसुदेव कुमार को कहा, हे कुमार! तुमने क्या सोचा ? हे सुंदर! हमारे आग्रह से अभी भी इससे विवाह करने का विचार करो। उसी समय अपसराओं से घिरी हुई मानो लक्ष्मी देवी हो ऐसी प्रथम देखी हुई वह नीलयशा सखियों से घिरी हुई वहाँ आई। उस समय उसकी पितामही हिरण्यवती ने उससे कहा हे पौत्री। इस तेरे वर को ग्रहण कर। तब वह नीलयशा वसुदेव को लेकर तत्काल ही आकाश मार्ग से चल दी। प्रातः काल हिरण्यवती ने वसुदेव को कहा कि मेघप्रभ नाम के वन से व्याप्त यह हीमान पर्वत है। चारण मुनियों से अधिष्ठित ऐसे इस गिरी में ज्वलन विद्याधर का पुत्र अंगारक विद्याभ्रष्ट होकर रहता है। वह पुनः खेचरेंद्र होने के लिए विद्याओं की साधना कर रहा है। उसको बहुत समय के पश्चात विद्या सिद्ध होगी परंतु यदि तुम्हारा दर्शन उसे होगा तो उसे तत्काल ही विद्या सिद्ध हो जायेगी। उस पर उपकार करने में तुम योग्य हो तब वसुदेव कुमार ने कहा कि उस अंगारक को देखने की जरूरत नहीं है। हिरण्यवती उनको वैताढ्यगिरि पर शिवमंदिर नगर में ले गई। वहाँ से सिंहदृष्ट राजा उनको अपने घर ले गये। वहाँ प्रार्थना की तब वसुदेव कुमार ने नीलयशा कन्या से विवाह किया।

(गा. 312 से 325)

उस समय बाहर कोलाहल होने लगा, वह सुन वसुदेव ने उसका कारण पूछा। तब द्वारपाल ने कहा कि यहाँ शकरमुख नामक एक नगर है जिसका नीलवान राजा है। उनके नीलवती नामकी प्रिया है। उनके नीलांजना नामक पुत्री और नील नाम का पुत्र है। उस नील ने पहले अपनी बहन को संकेत किया था कि अपने दोनों को जो संतति हो, उसमें पुत्री के साथ पुत्र का पाणिग्रहण कराना। उस नीलांजना के तुम्हारी प्रिया यह नीलयशा पुत्री हुई है और नीलकुमार को नीलकंठ नाम का पुत्र हुआ है। उस नील ने पूर्व के संकेत के अनुसार अपने पुत्र नीलकंठ के लिए बहन की पुत्री नीलयशा की मांग की। परंतु इसके पिता ने

उसके विषय में एक बृहस्पति नाम के मुनि को पूछा। तब उन्होंने निर्देश किया कि अर्ध भारतवर्ष के पति विष्णु के पिता यादवों में उत्तम और सौभाग्य में कामदेव जैसे वसुदेव कुमार इस नीलयशा के पति होंगे। तब राजा विद्याशक्ति द्वारा तुमको यहाँ लाए और तुमने नीलयशा से विवाह किया। यह सुनकर वह नील युद्ध करने यहाँ आया है परंतु उसे राजा सिंहदृष्ट ने जीत लिया है, उसका यह कोलाहल है।

(गा. 326 से 332)

यह वृत्तांत सुन वसुदेव अत्यंत खुश हुए और नीलयशा के साथ क्रीडा करने लगे। एक बार शरदऋतु में विद्या और औषधियों के लिए खेचर द्वीमान पर्वत पर जाते हुए दिखाई दिये। उनको देख वसुदेव ने नीलयशा को कहा कि विद्यादान में मैं तेरा शिष्य बनूँगा। यह बात स्वीकार कर नीलयशा उनको लेकर हीमान गिरी पर आई। वहाँ वसुदेव को क्रीडा करने की इच्छा जानकर नीलयशा ने एक कदलीगृह की विकुर्वी में उनके साथ रमण करने लगी। इतने में एक कलापूर्ण मयूर उसे दिखाई दिया। अहा ये मयूर पूर्ण कला वाला है इस प्रकार विस्मय युक्त बोलती हुई वह मदिराक्षी स्वयं ही उनको लेने को दौड़ी। जैसे ही मयूर के पास गई वैसे ही वह धूर्त मयूर उसे अपनी पीठ पर बिठाकर गरूड की भांति वहाँ से उड़ गया। वसुदेव उसके पीछे दौड़े। अनुक्रम से किसी नेहडा में आ पहुँचे। वहाँ ग्वालिनों ने उनको मान दिया। वहाँ रात्रि में रहकर प्रातः काल में दक्षिण दिशा की ओर चले गए। वे किसी गिरी के तट के गांव में आए तो वहाँ बड़ी बड़ी आवाज में वैदध्वनि सुनकर उन्होंने किसी ब्राहमण से उसका पाठ करने का कारण पूछा। तब वह ब्राहमण बोला रावण के समय में एक दिवाकर नाम के खेचर ने नारदमुनि को अपनी रूपवती कन्या दी थी। उनके वंश में अभी सूरदेव नाम का ब्राहमण हुआ है। वह इस गांव का मुखिया ब्राह्मण है। उसके क्षत्रिया नाम की पत्नि से वेदज्ञा सोम श्री नाम की पुत्री हुई। उसके वर के लिए उसके पिता ने कराल नामक किसी ज्ञानी से पूछा। उन्होंने कहा कि जो वेद में उसे जीत लेगा वह उसका भर्तार होगा इसलिए उसको जीतने के लिए ये लोगा वेदाभ्यास करने में तत्पर हुए है। उनको वेदों की शिक्षा देने वहाँ ब्रह्मदत नाम के उपाध्याय है। तब वसुदेव ब्राह्मण का रूप लेकर उस वेदाचार्य के पास आए और कहा कि मैं गौतम गैत्र स्कन्दिल नाम का ब्राह्मण हूँ और मुझे आपके पास वेदाभ्यास करना हे। ब्रह्मदत्त ने आज्ञा दी। अतः वसुदेव उनके पास वेद पढने

लगे। पश्चात वेद में सोम श्री को जीत कर उससे विवाह किया और उसके साथ विलास करते हुए वहाँ रहे।

(गा. 333 से 345)

एक बार वसुदेव उद्यान में गये। वहाँ इन्द्रशर्मा नाम के एक इंद्रजालिक को उन्होंने देखा। उसकी आश्चर्यकारी विद्या देखकर वसुदेव ने उस विद्या को सीखने की मांग की, तब वह बोला कि यह मनमोहिनी विद्या ग्रहण करो। इस विद्या की साधना के लिए सांयकाल के समय सिद्ध होती है। परंतु उसमें उपसर्ग बहुत होते हैं। इसलिए उसे साधते समय किसी सहायता करने वाले मित्र की आवश्यकता रहेगी। तब वसुदेव ने कहा विदेश में तो मेरा कोई भी मित्र नहीं है। तब वह इंद्रजालिक बोला मैं और तुम्हारी यह भोजाई वनमालिका दोनों तुम्हारी सहायता करेंगे। इस प्रकार कहते हुए वसुदेव ने विधिपूर्वक उस विद्या को ग्रहण किया और उसका जाप करने लगे। उस समय मायावी इंद्रशर्मा ने शिबिका द्वारा उसका हरण किया। वसुदेव उसको उपसर्ग समझकर डिगे नहीं और विद्या का जाप करने लगे। परंतु प्रातः काल होने पर वे उसे माया समझ कर शिबिका में से उतर गये।

(गा. 346 से 351)

तब इंद्रशर्मा आदि कहने लगे, किंतु उनका उल्लंघन करके वसुदेव कुमार आगे चले। सायंकाल होने पर तृणशोषक नामक स्थान पर आये। वहाँ किसी मकान में वसुदेव सो गये। रात्रि में किसी राक्षस ने आकर उनको उठाया। तब वसुदेव उनको मुट्ठियों से मारने लगे। तब चिरकाल तब बाहुयुद्ध करके खरीदे हुए मेंढे की तरह वस्त्र से उस राक्षस को बांध लिया तथा जैसे रजक धोबी रेशमी वस्त्र को धोता है वैसे ही उसे भी पटक पटक कर मार डाला। प्रातःकाल होने पर लोगों ने इसे देखा तो लोग बहतु खुश हुए और उत्तम वर की भांति वसुदेव को रथ में बिठा गाजे बाजे के साथ वे अपने निवास स्थान पर गये। वहाँ सब लोग पाँच सौ कन्याएं लाकर वसुदेव को भेंट देने लगे। उसका निषेध करते हुए वसुदेव ने पूछा यह राक्षस कौन था वह कहो। तब उनमें से एक पुरूष बोला, कलिंग देश में आया हुआ कंचनपुर नगर में जितशत्रु नाम का एक पराक्रमी राजा था। उसके सोदास नामक पुत्र था जो कि स्वभाव से ही लोलुप होने से मनुष्य रूप में ही राक्षस हो गय। राजा जितशत्रु ने अपने देश में सर्व प्राणियों को अभयदान दिया हुआ था। तथापि उस सोदास ने प्रतिदिन एक मयूर के मांस

की मांग की। यह यद्यपि राजा को अभिष्ठ नहीं थी तथापि अंगीकार करनी पड़ी। इसे स्वीकारने से हमेशा रसोइये वंशगिरी में एक एक मोर लाकर पकाकर उसे देते थे। एक बार पाक के लिए उन्होंने एक मयूर को मारा। उसे कोई मार्जरि आकर ले गया। तब रसोइयों को दूसरा मांस न मिलने से एक मृत बालक का मांस पकाकर उसका मांस सोदास को खाने के लिए दिया। भोजन करते समय सोदास ने रसोइयों से पूछा कि आज यह मांस इतना स्वादिष्ट कैसे है? रसोइयों ने यथार्थ कह सुनाया। यह सुन सोदास ने कहा कि अब रोज मयूर के स्थान पर नरमांस पकाकर देना। तब सोदास रोजाना स्वंय ही शहर में से बालकों का हरण करने लगा। इस बात की जानकारी राजा को होने पर उन्होंने कुमार को देश निकाला दे दिया। पिता के भय से वह भागकर दुर्ग में आकर रहने लगा। हमेशा ही वह पांच छः मनुष्यों को मार डालता था। ऐसे दुष्ट राक्षस को तुमने मार डाला। बहुत अच्छा किया। उनकी इस बात को सुनकर हर्ष से वसुदेव ने उन पांच सौ कन्याओं से विवाह किया।

(गा. 352 से 365)

वहाँ रात्रिनिवास करके प्रातःकाल वसुदेव कुमार अंचल गांव में आए। वहाँ एक सार्थवाह की पुत्री मित्र, से विवाह किया। पूर्व में किसी ज्ञानी ने वसुदेव इसके वर होंगे ऐसा कहा था। वहाँ से वसुदेव वेदसाम नगर में गये। वहाँ उस वनमाला ने उनको देखा, अतः वह बोली ओ देवर जी यहाँ आओ, यहाँ आओ। ऐसा कहकर अपने घर ले गई। उसने अपने पिता से कहा कि ये वसुदेव कुमार है अतः उसके पिता ने सत्कार पूर्वक कहा कि इस नगर में कपिल नामक राजा है उनके कपिला नाम की पुत्री है। हे महात्मन् पूर्व में किसी ज्ञानी ने गिरितट गांव में जब तुम थे तब कहा था कि तुम राज पुत्री के पति होवोगे। फिर उन ज्ञानी ने निशानी भी बताई थी कि वे स्फुलिंग वदन नामक तुम्हारे राजा का अश्व का दमन करेंगे। अतः तुमको लाने के लिए इंद्रजालिक इंद्रशर्मा नाम के मेरे जंवाई राजा को राजा ने भेजा था परंतु उसने आकर कहा कि वसुदेव कुमार बीच में से ही कहीं चले गये। आज सद्भाग्य से तुम यहां आ चढे हो, तो अब इस अश्व का दमन करो। तब वसुदेव कुमार ने अश्व का दमन किया और राज पुत्री कपिला से विवाह किया। कपिल राजा और साले अंशुमान ने वसुदेव को वहाँ रखा। वहाँ रहते हुए कपिला को कपिल नाम का पुत्र हुआ।

(गा. 366 से 374)

एक बार वसुदेव हस्तिशाला में गये। वहाँ एक नवीन हाथी को देखकर वे उसके उपर बैठे। इतने में तो वह हाथी आकाश में उड़ने लगा। तब वसुदेव ने उस पर मुष्टि का प्रहार किया। वह हाथी किसी सरोवर के तीर पर पडा। तो वह मूल स्वरूप में नीलकंठ नाम का खेचर हो गया। जो पहले नीलयशा के विवाह के समय युद्ध करने आया था। वहाँ से भ्रमण करते–करते वसुदेव सालगृह नामक नगर में आए। वहाँ भाग्यसेन नामक उस नगर के राजा ने उसे घनुर्वेद सिखाया। एक बार भाग्यसेन राजा के साथ युद्ध करने के लिए उसके अग्रबंधु मेघसेन वहाँ आये। उसे महापराक्रमी वसुदेव ने जीत लिया। तब भाग्यसेन ने पद्मा लक्ष्मी जैसी अपनी पुत्री वसुदेव को दी। पद्मावती और अश्वसेना के साथ कितने समय क्रीड़ा करते हुए वसुदेव भदिलपुर नगर में आए। वहाँ का राजा पुद्र की अपुत्रिया की मष्त्यु हो गई। इससे उनकी पुत्री पुंद्रा औषधि द्वारा पुरूष रूप करके राज्य संचालन करती थी। वसुदेव ने उसे देखा। वसुदेव को देखते ही पुंद्रा उन पर अनुरक्त हुई। उस पुंद्रा का वसुदेव के साथ विवाह हुआ और उसके पुंढू नामक पुत्र हुआ जो वहाँ का राजा हुआ।

(गा. 375 से 382)

एक बार उस अंगाकर खेचर ने रात्रि को हंस के बहाने से वसुदेव को उठाकर गंगा में डाल दिया। प्रातः वसुदेव ने इलावर्द्धन नगर को देखा। वहाँ एक सार्थवाह की दुकान पर उसकी आज्ञा लेकर वसुदेव बैठे। वसुदेव के प्रभाव से उस सार्थवाह को उस दिन एक लक्ष स्वर्णमुद्रा का लाभ हुआ। उसने यह वसुदेव का प्रभाव जानकर आदर सहित उनको बुलाया। पश्चात सुवर्ण के रथ में उनको बिठाकर उनको अपने घर ले गया और अपनी रत्नवती कन्या का वसुदेव के साथ विवाह कर दिया। एक बार इंद्रमहोत्सव होने से अपने श्वसुर के साथ एक दिव्य रथ में बैठाकर वसुदेव महापुर नगर गये। वहाँ उस नगर के बाहर नवीन प्रसादों को देखकर वसुदेव ने अपने श्वसुर से पूछा, क्या यह कोई दूसरा नगर है? सार्थवाह ने कहा, इस नगर में सोमदत नाम का राजा है। उनके मुख की शोभा से सोम की कांति का भी मलिन दिखलाई दे ऐसी सोमश्री कन्या है। उसके स्वंयवर के लिए राजा ने ये नये प्रासाद बनवायें हैं। यहाँ बहुत से राजाओं को बुलाया था, परंतु उनके अचातुर्य से उनको वापिस विदा किया। पश्चात वसुदेव ने इंद्र महोत्सव संबंधी इंद्रस्तंभ के पास जाकर उसे नमस्कार किया। उस समय

पहले से ही आया हुआ राजा का अंतःपुर भी उस इंद्रस्तंभ को नमन करके राजमहल की ओर चल दिया।

इतने राजाओं का एक हस्ति आलानस्तंभ का उल्लंघन करके छूट कर वहाँ आया। उसने अकस्मात् राजकुमारी को रथ से नीचे गिरा दिया। उस समय दीन अशरण और शरणार्थी ऐसी राजकुमारी की दशा को देखकर वसुदेवकुमार मानो उसका प्रत्यक्ष रक्षक हो। उस प्रकार वहाँ आए और उस हाथी को वश में करने लगे इसलिए क्रोध से अभिभूत हो वह महादुर्धर राजकुमारी को छोड़ वसुदेव के सामने दौड़ा। महाबलवान वसुदेव ने उस हाथी को बहुत छकाया। पश्चात उसे मोहित करके वासुदेव राज पुत्री को समीप के किसी घर में ले गये और उतरीय वस्त्र से पवनादिक द्वारा उसे आश्वासन दिया। उसके बाद उसकी सखियाँ उसे राजमहल में ले गई और कुबेर सार्थवाह वसुदेव को उसके श्वसुर सहित मानपूर्वक अपने घर ले गया। वहाँ वसुदेव स्नान भोजन करके स्वस्थ हुए। इतने में किसी प्रतिहारी ने आकर नमित शीषपूर्वक इस प्रकार कहा– यहाँ के सोमदत राजा के सोम श्री नाम की कन्या है, उसे स्वयंवर में ही पति मिलेगा, ऐसा पूर्व में ज्ञात हुआ था परंतु सर्वण यति के केवलज्ञान महोत्सव में देवताओं को आते देखकर उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब से यह मृगाक्षी बाला मौन धारण करके रहने लगी।

(गा. 393 से 400)

एक बार एकांत में मैंने उससे इसका कारण पूछा, तब वह बोली कि महाशुक्र देवलोक में भोग नामक एक देव था। उसने मेरे साथ अतिवात्सल्य से चिरकाल तक भोग भोगे थे। एक वक्त वह देव मेरे साथ नंदीश्वारादि तीर्थ की यात्रा और अर्हत प्रभु का जन्मोत्सव करके अपने स्थान की तरफ लौट गया था। वह ब्रह्मदेव लोक तक पहुँचा ही था कि इतने में आयुष्य पूर्ण होने से वहाँ से च्यवन हो गया। तब शोकार्त होकर मैं उसे ढूँढती हुई इस भरतक्षेत्र के कुरू देश में आई। वहाँ दो केवलियों को देखकर मैंने पूछा कि, देवलोक से च्यव कर मेरा पति कहाँ उत्पन्न हुआ है! वह कहो। वे बोले, हरिवंश में एक राजा के यहाँ तेरा पति अवतरित हुआ है और तू भी स्वर्ग से च्यवकर राजपुत्री होगी। जब इंद्रमहोत्सव में हाथी के पास से जो तुझे छुड़ायेगा तब वह पुनः तेरा पति होगा। तब उनको भक्तिपूर्वक वंदना करके मैं स्वस्थान आई। अनुक्रम से वहाँ से

च्यवकर सोमदत्त राजा के यहाँ कन्या रूप में उत्पन्न हुई। सर्वाण मुनि के केवलज्ञान के उत्सव में देवताओं को देखकर मुझे जाति–स्मरण ज्ञान हुआ। तब यह सब मुझे ज्ञात हुआ। इसलिए मैंने मौन धारण किया। प्रतिहारी कह रही थी कि यह सब वृत्तांत मैंने राजा को ज्ञापित किया। अतः राजा ने स्वयंवर में आए हुए सर्वराजाओं को विदा किया। हे वीर! आज तुमने उस राजकन्या को हाथी के पास से छुड़ाया है इससे पूर्व की सब बात की प्रतीति हो गई है इसलिए आपको लाने के लिए मुझे भेजा है, अतः आप वहाँ पधारो और कन्या से विवाह करो। तब वसुदेव उसके साथ राजमंदिर मे गये और सोमश्री से विवाह कर उसके साथ यथच्छै क्रीड़ा करने लगे।

(गा. 401 से 411)

एक बार वसुदेव सोकर उठे, तब वह मृगाक्षी राजबाला दृष्टिगत नहीं हुई। अतः करुणस्वर से रूदन करते हुए वे तीन दिन तक शून्य चित्त से राजमहल में ही बैठे रहे। तब शोकनिवारण के लिए वे उपवन में गये। वहाँ सोमश्री को देखकर वसुदेव ने कहा, अरे मानिनि! तू मेरे किस अपराध से इतनी देर तक चली गई थी? सोमश्री बोली हे नाथ! आपके लिए मैंने एक विशेष नियम लिया था। अतः तीन दिन तक मै मौन रही थी। अब इस देवता की पूजा करके आप पुनः मेरे साथ पाणिग्रहण करो। जिससे मेरा नियम पूर्ण हो क्योंकि इस नियम की ऐसी ही विधि है। तब वसुदेव ने वैसा ही किया। उसके पश्चात राजकन्या ने यह देव की इच्छा है ऐसा कहकर वसुदेव को मदिरापान कराया एवं कांदर्पिक देव की भांति उसके साथ अत्यंत रतिसुख भोगा। वसुदेव रात्रि में उसके साथ सोए। जब वे निद्रा में से जाग्रत हुए तब देखा तो उनको सोम श्री के स्थान पर दूसरी ही स्त्री दिखाई दी। जिससे वसुदेव ने उसको पूछा कि हे सुभ्रु! तू कौन है? वह बोली दक्षिण श्रेणी में आए सुवर्णाभ नाम के नगर में चित्रांग नाम का राजा है, उसके अंगारवती नाम की रानी है। उनके मानसवेग नाम का पुत्र है और वेगवती नाम की मैं पुत्री हूं। चित्रांग राजा ने पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ली है। हे स्वामिन्। उस मेरे भाई मानसवेग ने निर्लज्ज होकर आपकी स्त्री सोमश्री का हरण किया है। मेरे भाई ने रति के लिए मेरे पास अनेक प्रकार के चाटु वचनों द्वारा बहुत कहलाया। तो भी आपकी महासती स्त्री ने यह बात नहीं स्वीकारी। तब उसने मुझे सखी रूप में माना और आपको लेने के लिए यहाँ भेजा। मैं यहाँ आई और आपको देखकर काम पीडित हो गई। इसलिए मैंने यह कार्य किया है। अब

मेरे जैसी कुलीन कन्या के आप विवाह पूर्वक पति हुए हो। प्रातः काल वेगवती को देखकर सभी को विस्मय हुआ। पति की आज्ञा से उसने सोमश्री के हरण की वार्ता लोगों को बताई।

(गा. 412 से 423)

एक बार रात्रि को वसुदेव रति श्रांत होकर सो रहे थे कि इतने में अतिवेग वाले मानसवेग ने आकर उनका अपहरण कर लिया। यह ज्ञात होने पर वसुदेव उस खेचर के शरीर पर मुष्टि का प्रहार करने लगे। उससे पीड़ित होकर मानसवेग ने वसुदेव को गंगा के जल में डाल दिया। वहाँ चंडवेग नाम का एक खेचर विद्या साथ रहा था, उसके स्कंध पर वसुदेव गिरे। परंतु वह तो उसकी विद्या साधन में कारणभूत हो गए। उसने वसुदेव को कहा कि महात्वन्! आपके प्रभाव से मेरी विद्या सिद्ध हो गई है, अतः कहो मैं तुमको क्या दूँ? उसके इस प्रकार कटने से वसुदेव ने आकाशगामी विद्या मांगी। उस खेचर ने तत्काल ही वह विद्या उनको दी। तब वसुदेव कनखल गांव के द्वार में रहकर समर्पित मन से वह विद्या साधने लगे।

(गा. 424 से 428)

चंडवेग वहाँ से गया ही था कि विद्युद्वेग राजा की पुत्री मदनवेग वहाँ आई। उसने वसुदेव कुमार को देखा उनको देखते ही काम पीडित हो गई। इससे उसने तत्काल ही वसुदेव को वैताढ्य पर्वत पर ले जाकर कामदेव की तरह पुष्पशयन उद्यान में रखा। पश्चात् उन्होंने अमृतधार नगर में प्रवेश किया प्रातः उसके तीन भाईयों ने आकर वसुदेव को नमस्कार किया। उनमें पहला दधिमुख दूसरा दंडवेग और तीसरा चंडवेग था कि जिसने वसुदेव को आकाश गामिनी विद्या दी थी। तब वसुदेव को अपने नगर में ले गए और वहाँ मदनवेगा के साथ विधिवत विवाह किया। वसुदेव मदनवेगा के साथ वहाँ सुखपूर्वक रहकर रमण करने लगे।

(गा. 429 से 433)

एक दिन मदनवेगा ने वसुदेव को संतुष्ट करके वरदान मांगा। पराक्रमी वसुदेव ने वरदान देना स्वीकार किया। दधिमुख ने वसुदेव को नमस्कार करके कहा कि, दिवस्तिलक नाम नगर में त्रिशिखर नाम का राजा है उनके सूर्पक नामक कुमार है। उस राजा ने सूर्पक कुमार के लिए मेरे पिताजी के पास

क्रोधित होकर मदनवेगा दूसरी शय्या पर चली गई। उस समय त्रिशिखर राजा की पत्नी सूपर्णखा ने मदनवेगा का रूप लेकर उस स्थान को जलाकर वसुदेव का हरण किया। पश्चात उसने मारने की इच्छा से राजगृही नगरी के पास वसुदेव को आकाश में नीचे फेंक दिया। देवयोग से वसुदेव तृण राशि पर गिरे। वहाँ पासाओं से कोटि सुवर्ण जीतकर याचकों को दान दे दिया। इतने में राजपुरूष आए और वसुदेव को बांधकर जरासंध के दरबार में ले चले। वसुदेव ने राजसुभटों को पूछा कि, अपरा के बिना मुझे किस लिए बांधा है? तब वे बोले कि किसी ज्ञानी ने जरासंध को कहा है कि कल प्रातःकाल यहाँ आकर सुवर्ण मुद्रा जीतकर जो याचकों को दे देगा, उसका पुत्र तुम्हारा वध करने वाला होगा। यह कार्य करने वाले तुम हो। यद्यपि तुम निरपराधी हो तो भी राजा की आज्ञा से तुमको मार डाला जाएगा। ऐसा कह उन्होंने वसुदेव को एक चमड़े की धमण में डाला। तब अपवाद के भय से गुप्त रीति से मारने के इच्छुक ऐसे राजसुभटों ने उसको धमण के साथ पर्वत से लुढ़का दिया।

(गा. 450 से 457)

इतने में वेगवती की धात्री माता ने अधर में ही उसे ले लिया। जब वह उनको लेकर चली, तब वसुदेव को ऐसा लगा कि मुझे चारुदत्त की तरह कोई भारंड पक्षी आकाश में ले जा रहा है। पश्चात उसने उसको पर्वत पर रखा जब वसुदेव ने बाहर की ओर दृष्टि की तब वहाँ वेगवती के दोपगले उन्होंने देखे। उनको पहचानकर वे धमण से बाहर निकले। उस समय वहाँ हे नाथ! हे नाथ! ऐसा पुकारती हुई रूदन करती वेगवती उनको दिखाई दी। वसुदेव ने उसके पास जाकर उसका आलिंगन किया और उससे पूछा कि तूने मुझे किस प्रकार प्राप्त किया? वेगवती आंसू पोंछती हुई बोली– हे स्वामिन्! मैं जिस समय शय्या त्यागकर उठी उस समय मुझ अभागिनी ने आपको शय्या पर नहीं देखा। अतः मैं अंतःपुर की स्त्रियों के साथ करूण स्वर में रूदन करने लगी। इतने में प्रज्ञप्ति विद्या में आकर तुम्हारे अपहरण की तथा आकाश में से गिरने के समाचार दिये। तब मैंने अज्ञानता के कारण विचार किया कि मेरे पति के पास किसी मुनि की बताई हुई कोई प्रभावित विद्या होगी, अतः वे अल्पकाल में यहाँ आयेंगे। इस प्रकार सोचकर आपके वियोग से पीड़ित मैं अनेक समय व्यतीत करने के पश्चात् राजा की आज्ञा से आपकी तलाश में पृथ्वी पर घूमने लगी। मैं घूमती

क्रोधित होकर मदनवेगा दूसरी शय्या पर चली गई। उस समय त्रिशिखर राजा की पत्नी सूपर्णखा ने मदनवेगा का रूप लेकर उस स्थान को जलाकर वसुदेव का हरण किया। पश्चात उसने मारने की इच्छा से राजगृही नगरी के पास वसुदेव को आकाश में नीचे फेंक दिया। देवयोग से वसुदेव तृण राशि पर गिरे। वहाँ पासाओं से कोटि सुवर्ण जीतकर याचकों को दान दे दिया। इतने में राजपुरूष आए और वसुदेव को बांधकर जरासंध के दरबार में ले चले। वसुदेव ने राजसुभटों को पूछा कि, अपरा के बिना मुझे किस लिए बांधा है? तब वे बोले कि किसी ज्ञानी ने जरासंध को कहा है कि कल प्रातःकाल यहाँ आकर सुवर्ण मुद्रा जीतकर जो याचकों को दे देगा, उसका पुत्र तुम्हारा वध करने वाला होगा। यह कार्य करने वाले तुम हो। यद्यपि तुम निरपराधी हो तो भी राजा की आज्ञा से तुमको मार डाला जाएगा। ऐसा कह उन्होंने वसुदेव को एक चमड़े की धमण में डाला। तब अपवाद के भय से गुप्त रीति से मारने के इच्छुक ऐसे राजसुभटों ने उसको धमण के साथ पर्वत से लुढ़का दिया।

(गा. 450 से 457)

इतने में वेगवती की धात्री माता ने अधर में ही उसे ले लिया। जब वह उनको लेकर चली, तब वसुदेव को ऐसा लगा कि मुझे चारुदत्त की तरह कोई भारंड पक्षी आकाश में ले जा रहा है। पश्चात उसने उसको पर्वत पर रखा जब वसुदेव ने बाहर की ओर दृष्टि की तब वहाँ वेगवती के दोपगले उन्होंने देखे। उनको पहचानकर वे धमण से बाहर निकले। उस समय वहाँ हे नाथ! हे नाथ! ऐसा पुकारती हुई रूदन करती वेगवती उनको दिखाई दी। वसुदेव ने उसके पास जाकर उसका आलिंगन किया और उससे पूछा कि तूने मुझे किस प्रकार प्राप्त किया? वेगवती आंसू पोंछती हुई बोली– हे स्वामिन्! मैं जिस समय शय्या त्यागकर उठी उस समय मुझ अभागिनी ने आपको शय्या पर नहीं देखा। अतः मैं अंतःपुर की स्त्रियों के साथ करूण स्वर में रूदन करने लगी। इतने में प्रज्ञप्ति विद्या में आकर तुम्हारे अपहरण की तथा आकाश में से गिरने के समाचार दिये। तब मैंने अज्ञानता के कारण विचार किया कि मेरे पति के पास किसी मुनि की बताई हुई कोई प्रभावित विद्या होगी, अतः वे अल्पकाल में यहाँ आयेंगे। इस प्रकार सोचकर आपके वियोग से पीड़ित मैं अनेक समय व्यतीत करने के पश्चात् राजा की आज्ञा से आपकी तलाश में पृथ्वी पर घूमने लगी। मैं घूमती

घूमती सिद्धायतन में आई, वहाँ मदनवेगा के साथ आपको देखा। आप सिद्धचैत्य से अमृतधार नगर में आए। वहाँ मैं भी आपके पीछे पीछे आई। वहाँ मैं अंर्तधान होकर रही थी। इतने में आपके मुख से मेरा नाम सुना, तो तत्काल आपके स्नेह से और चिरकाल के विरह का क्लेश त्याग दिया। मेरा नाम सुनकर मदनवेगा क्रोधित होकर अंतगृह में गई। इतने में सूपर्णखा ने औषधी के बल से उस घर में अग्नि उत्पन्न कर दी और मदनवेगा का रूप लेकर उसने आपका हरण किया। उसने जब आकाश में आपको नीचे पटक दिया, उस समय मैं आपको झेलने के लिए जल्दी जल्दी दौड़ी और मानसवेग का कल्पित रूप लेकर नीचे रही। परंतु मुझे उसने देखा तो विद्या और औषधी के बल से मुझे तिरस्कार करके निकाल दिया। उसके भय से भाग कर मैं किसी चैत्य में चली गई। इतने में प्रमादवश किसी मुनि का अपमान हो जाने से मेरी विद्या भ्रष्ट हो गई। तब मेरी धात्री आकर मुझसे मिली। उस समय मेरा भर्ता कहाँ होंगे? ऐसा मैं चिंतन कर रही थी। मैंने धात्री से सर्व वृत्तांत कहकर आपकी खोज में भेजा। उसने घूमते–घूमते आपको पर्वत से गिरते देखा, अतः तत्काल आपको अधर में ही ले लिया। पश्चात् आपको उस धमण में ही रखकर वह इस हीमान पर्वत के पंचनद तीर्थ मे ले आई। यहाँ आप छूट गये।

(गा. 458 से 473)

यह वृत्तांत सुनकर वसुदेव वहाँ एक तापस के आश्रम में उसके साथ रहे। एक बार नदी में पाश से बंधी हुई एक कन्या उसको दिखाई दी। वेगवती ने भी उसके विषय में कहा तब उन दयालु वसुदेव ने नागपाश के बंधनवाली उस कन्या को बंधन से मुक्त किया। पश्चात् उस मूर्च्छित कन्या को जलसिंचन करके सचेत किया तब वह बैठी हुई। उसने वसुदेव की तीन प्रदक्षिणा की तत्पश्चात् इस प्रकार बोली, हे महात्मा आपके प्रभाव से आज मेरी विद्या सिद्ध हुई है। उससे संबंधित वार्ता मैं कहती हूँ– सुनो, वैताढ्य गिरी पर गगनवल्लभ नामक नगर है। उस नगर में नाभिराजा के वंशज पूर्व में विद्युदृष्ट नाम का राजा हुआ। उन्होंने प्रत्येक विदेह में एक मुनि को कायोत्सर्ग में रहे हुए देखा। तब वह बोला, अरे! यह कोई उत्पात है अतः इनके वरूणाचल में ले जाकर मार डालो। ऐसा उसके कहने पर उसके साथी खेचर उनको मारने लगे। परंतु शुक्ल ध्यान धरते उन मुनि को उस समय केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। तब धरणेंद्र केवली की महिमा करने

वहाँ आए। उस स्थान पर मुनि के विरोधियों को देखकर तत्काल धरणेंद्र ने क्रोधित होकर उनको विद्याभ्रष्ट कर दिया। इससे दीन होकर वे कहने लगे, हे देवेंद्र। ये मुनि हैं कि कौन है? यह हम नहीं जान पाये। केवल विद्युदृष्ट्र का यह उत्पात है ऐसा कह कर हमको प्रेरणा देकर ऐसा कार्य कराया है। धरणेंद्र ने कहा अरे पापियों। मैं तो यहाँ मुनि के केवल ज्ञान के उत्सव के लिए आया हूँ। अब तुम जैसे अज्ञानियों और पापियों के लिए मुझे क्या करना। जाओ अब पुनः इतना ही नहीं परंतु उनकी संतति कोई पुरूष या स्त्री को सिद्ध नहीं होगी।

(गा. 472 से 484)

प्रयास करने से तुमको विद्या सिद्ध होगी। परंतु याद रखना कि अरिहंत साधु और उनके आश्रितों पर द्वेष करने से तत्काल वे विद्याएँ निष्फल हो जाएंगी एवं रोहिणी आदि वे महाविद्याएं तो उस दुर्मति विद्युदृष्ट को तो सिद्ध होगी ही नहीं। कभी तुमको किसी साधु मुनिराज के या महापुरूष के दर्शन होंगे तो उससे सिद्धि होगी। इस प्रकार कहकर धरणेंद्र केवली का महोत्सव करके अपने स्थान पर गये। पूर्व में उनके वंश में केतुमती नाम की कन्या हुई थी वो वह विद्या साध रही थी। उससे पुंडरीक वसुदेव ने विवाह किया था। उनके प्रभाव से उस केतुमती को विद्याएं सिद्ध हुई थी। हे चंद्रमुख! उनके वंश की मैं बालचंद्रा नाम की कन्या हूं। मुझे आपके प्रभाव से विद्याएं सिद्ध हुई है। अतः आपके वंशवर्ती हूँ। मेरा आप पाणिग्रहण करो और कहो कि मेरी विद्या सिद्ध कराने बदले में तुमको क्या दूं? उसके आग्रह से वसुदेव ने कहा कि इस वेगवती को विद्या और दो पश्चात् वह वेगवती को लेकर गगनवल्लभ नगर में गई और वसुदेव तापस के आश्रम में आये।

(गा. 485 से 490)

उस तापस के आश्रम में तत्काल तापसी व्रत लेकर दो राजा अपने पराक्रम की निंदा करते हुए आए। उनको देखकर वसुदेव ने उनके उद्वेग का कारण पूछा। तब वे बोले– श्रीवस्ती नाम की नगरी में अति निर्मल, चरित्र से पवित्र ऐसे एणी पुत्र नाम के पराक्रमी राजा हैं। उनके प्रियंगु सुंदरी नाम की पुत्री है। उसके स्वयंवर के लिए राजा ने बहुत से राजाओं को बुलाया परंतु वह स्त्री किसी भी राजा को वर माला नहीं पहना सकी। इससे आए हुए सभी राजाओं ने क्रोध में एकत्रित होकर उनके साथ संग्राम करना चालू कर दिया। परंतु उसने

अकेले ने ही सब राजाओं को जीत लिया। तब वे सभी राजा भाग गये। उनमें से कितना ही किसी गिरी में घुस गये, कितने ही अरण्य में जाकर छिप गये और कितने ही जलाशय में घुस गये। उनमें से हम दो तापस होकर निकल पड़े। हमने वृथा भुजधारी नपुसंकों को धिक्कार है। उनका इस प्रकार वृत्तान्त सुनकर वसुदेव ने उनको जैन धर्म का बोध दिया।

(गा. 491 से 496)

अतः उन्होंने जैन दीक्षा ली। तब वसुदेव श्रीवस्ती नगरी में गये। वहाँ उद्यान में तीन द्वारवाला एक देव गृह उनको दिखाई दिया। उसके मुखद्वार के बत्तीस अर्गला भूगल थी। इसलिए उस मार्ग से प्रवेश करना मुश्किल था। अतः पास के द्वार से उन्होंने अंदर प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने एक मुनि की, एक गृहस्थ की और एक तीन पैर वाले पाड़े की प्रतिमा देखी। तब यह क्या है ऐसा उन्होंने एक ब्राह्मण को पूछा, तब वह बोला यहाँ जितशत्रु नामका राजा था उनके मृगध्वज नाम का एक पुत्र था। उस नगर में कामदेव नाम का एक श्रेष्ठी रहता था। एक बार सेठ नगर के बाहर अपने गोष्ठ पशुशाला में गया। वहाँ उसके दंडक नामक ग्वाले ने सेठ जी को कहा कि सेठ जी! आपकी इस महिषी के पूर्व में मैने पांच पाड़े मार डाले हैं। यह छठा पाड़ा बहुत मुद्रिक आकृतिवाला आया है। जब से यह जन्मा है तब से भय से कांप रहा है तथा नेत्र को चपल करता हुआ वह मेरे चरणों में झुकता रहता है। अतः दया के कारण मैंने उसे मारा नहीं। आप भी इस पाडे को अभय दो। यह पाड़ा कोई जातिस्मरण वाला है, इस प्रकार ग्वाले ने कहा। तब वह सेठ द्रवित होकर उस पाड़े को श्रावस्तवी नगरी में ले गए। सेठ ने राजा के पास उसके अभय की मांग की। तब राजा ने भी उसे अभय देकर कहा कि ऐ! पाडा संपूर्ण श्रावस्तवी नगरी में स्वेच्छा से घूमा करो। एक बार राजकुमार मृगध्वज ने उस पाड़े के एक पैर को काट डाला। यह जानकर राजा ने उस कुमार को नगर से बाहर निकाल दिया। कुमार ने वैराग्य वासित हो दीक्षा ले ली। वह पाड़ा पैर काटने के बाद अठारहवें दिन मर गया और कुमार को बीसवें दिन केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। देव असुर राजा और अमात्य उनको वंदना करने आये। देशना के अंत में जितशत्रु राजा ने पूछा कि उस पाड़े के साथ आपका क्या वैर था? मृगध्वज केवली बोलते हैं।

(गा. 497 से 507)

पूर्व में अश्वग्रीव नामक एक अर्ध चकवर्ती हुए थे। उनके हरिश्मश्रु नाम का एक मंत्री था। वह कौल नास्तिक था। इससे वह धर्म की निंदा करता था और राजा आस्तिक होने से सदा धर्म का प्रतिपादन करता था। ऐसा होने से उस राजा और मंत्री के बीच दिन प्रतिदिन विरोध बढने लगा। उन दोनों को त्रिपृष्ट और अचल ने मारा। जिससे मरकर सातवें नरक में गये। नरक में से निकलकर बहुत से भव में उन्होंने भ्रमण किया।

(गा. 508 से 510)

उनमें से अश्वग्रीव वह मैं, तुम्हारा पुत्र हुआ और हरिश्मश्रु मंत्री वह पाडा हुआ। पूर्व के वैर से मैंने उनका पैर काट डाला। वह पाड़ा मरकर लोहिताक्ष नामक असुरों का अग्रणी हुआ है। वह देखो, यह यहाँ मुझे वंदन करने आया है। इस संसार का नाटक ऐसा विचित्र है। तब लोहिताक्ष में मुनि को नमस्कार करके उन मृगध्वज मुनि की, कामदेव सेठ की और तीन पैर वाले महिष की रत्नमयी प्रतिमा बनवा कर यहाँ स्थापना की है। उस कामदेव श्रेष्ठी के वंश में अभी कामदत्त नाम के सेठ हैं। उनके बंधुमती नाम की पुत्री है। उस पुत्री के वर के लिए किसी ज्ञानी ने पूछा था, तब ज्ञानी ने कहा था कि जो इस देवालय के मुख्य द्वार को खोल देगा, वही तुम्हारी पुत्री का वर होगा।

(गा. 511 से 516)

इस प्रकार सर्व वृत्तांत जानकर वसुदेव ने वह द्वार खोला, यह बात जानकर तत्काल कामदत्त सेठ ने वहाँ आकर वसुदेव को अपनी पुत्री दी। उनको देखने के लिए राजा की पुत्री प्रियंगुसुंदरी राजा के साथ वहाँ आई। वह वसुदेव को देखते ही तत्क्षण काम पीडित हो गई। तब द्वारपाल ने आकर प्रियंगुसुंदरी की दशा और एणीपुत्र राजा का चरित्र अंजलि जोडकर वसुदेव को बताया एवं कहा कि कल प्रातः आप प्रियंगुसुंदरी के घर अवश्य पधारना। ऐसा कह द्वारपाल चला गया।

(गा. 517 से 519)

उस दिन वसुदेव ने एक नाटक देखा। उसमें ऐसी हकीकत आई कि नमि का पुत्र वासव खेचर हुआ। व उसके वंश में दूसरे अनेक वासव हुए। उनका पुत्र पुरोहित हुआ। एक बार वह हाथी पर बैठकर घूमने गया था। वहाँ उसने गौतम की स्त्री अहिल्या को देखा। तब उसने आश्रम में जाकर उसके साथ क्रीड़ा की। उस समय गौतम ने ऐसी विद्यारहित हुए पुरोहित के लिंग का छेदन कर दिया।

इस प्रकार की हकीकत को जानकर वसुदेव भयभीत हो गए। इससे राजकुमार प्रियंगुसुंदरी के न जाकर रात को बंधुमती के साथ ही सो गए। उस रात्रि में निद्रा भंग होने पर एक देवी उनको देखने आई। तब यह कौन होगी ? ऐसा वे सोचने लगे। इतने में अरे! वत्स! क्या सोचते हो ? ऐसा बोलती हुई वह देवी उनका हाथ पकड कर उनको अशोक वन में ले गई। वहाँ जाकर कहा कि सुनो! इस भरतक्षेत्र में श्री चंदन नामक नगर में अमोघरेता नाम के राजा थे। उनके चारूमति नाम की प्रिया थी। उसके चारूचंद्र नाम का एक पुत्र हुआ। उस नगर में अनंतसेना नाम की एक वेश्या थी। उसके कामपताका जैसी सुलोचना पुत्री थी। एक समय राजा ने एक यज्ञ किया, उसमें बहुत से तापस आये। उनमें कौशिक और तृणबिंदु दो उपाध्याय थे। उन दोनों ने आकर राजा को अनेक फल अर्पण किये। राजा ने पूछा– ऐसे फल कहाँ से लाए ? तब उन्होंने हरिवंश की उत्पत्ति के समय आए हुए कल्पवृक्ष की सब कथा प्रारम्भ से कह सुनाई। उस समय राज्य सभा में कामपताका वेश्या नृत्य कर रही थी।

(गा. 520 से 529)

उसने कुमार चारूचंद्र और कौशिक मुनि का मन हर लिया। यज्ञ पूर्ण होने के पश्चात कुमार ने कामपताका को अपने अधीन कर लिया। पश्चात् कौशिक तापस ने राजा के पास आकर उस वेश्या की मांग की। तब राजा ने कहा कि, उस वेश्या को कुमार ने ग्रहण कर लिया है और वह श्राविका है। एक पति को स्वीकार करने के पश्चात अन्य की इच्छा नहीं करती। इस प्रकार राजा ने उसका निषेध किया। इससे कौशिक तापस ने क्रोध में उसे श्राप दिया कि कुमार जब उसके साथ क्रीड़ा करेगा तो अवश्य ही उसकी मृत्यु हो जाएगी। महामति राजा अमोघरेता ने इस प्रकार से वैराग्य वासित होकर अपने पुत्र चारूचंद्र को राज्य देकर स्वंय वापस वन में निवास करने लगे। उस समय अज्ञातगर्भा रानी थी उनके साथ वन में आई। समय पर गर्भ प्रकट हुआ। तब रानी ने पहले से ही पति की शंका के निवारण हेतु बात स्पष्ट कह दी थी। पश्चात उसने ऋषिदत्ता कन्या को जन्म दिया। वह कन्या अनुक्रम से किसी चारणमुनि के समीप श्राविका बनी। वह युवती हुई कि उस माता और धायमाता की मृत्यु हो गई। एक बार शिलायुध राजा मृगया हेतु वहाँ आया। ऋषिदत्ता के देखते ही वह कामवश हो गया। उसका आतिथ्य स्वीकार करके राजा वहीं पर रहा और उस बाला को एकांत में ले जाकर विविध प्रकार से उसके साथ संभोग क्रीड़ा की। उस वक्त ऋषिदत्ता ने

शिलायुध से कहा कि मैं ऋतुरजाता हूँ, यदि उसे आज गर्भ रह गया तो कुलवान कन्या की क्या गति होगी ? राजा ने कहा मैं इक्ष्वाकु वंश का राजा हूं श्रावस्तवी नगरी में मेरा राज्य है और शतायुध राजा का पुत्र शिलायुध नाम से मैं विख्यात हूँ। यदि तेरे पुत्र होवे तो उसे तुँ श्रावस्तवी नगरी में लेकर आना, मैं उसे राजा बना दूंगा। तब ऋषिदत्ता की अनुमति लेकर अपने स्थान को गया। उसने यह हकीकत पिता जी को बता दी। अनुक्रम से उसे पुत्र का प्रसव हुआ। प्रसव में रोग होने पर ऋषिदत्ता की मृत्यु हो गई और ज्वलनप्रभ नागेंद्र की अग्रमहिषी बनी। पुत्री के मरण से पिता अमोघरेता तापस जैसे पुत्र को हाथ में लेकर सामान्य लोगों की तरह रुदन करने लगे। ज्वलन प्रभु नागेन्द्र की स्त्री हुयी अवधिज्ञान से सारी हकीकत जानकर भृगरूप में यहाँ आई और स्तनपान करवाकर पुत्र को दुलार किया। कौशिक तापस मृत्यु के पश्चात पिता के आश्रम में दृष्टि विष सर्प हुआ। उस क्रूर सर्प ने मेरे पिता को दंश मारा। परंतु मैंने आकर विष उतारा ओर उस सर्प को बोध दिया। वह सर्प मरकर बल नामक देवता हुआ। मैं का रूप लेकर श्रावस्तवी नगरी में गई और शिलायुध राजा को पुत्र देने लगी। तब पुत्र को उसके पास रखकर आकाश में स्थित रहकर मैंने कहा कि हे राजन्! वन में रही हुई ऋषिदत्ता कन्या को आपने भोगा था, उसके संगम से यह पुत्र हुआ है। ऋषिदत्ता की प्रसवरोग से मृत्यु हुई अब मैं देवरूप में उत्पन्न हुई हूँ। देवरूप में भी यहाँ आकर मृगरूप में इसे बड़ा किया है।

(गा. 530 से 544)

इससे इसका नाम एणीपुत्र रखा। इस प्रकार के कथन से राजा को स्मृति आई। तब उसे राज्य देकर शिलायुध राजा दीक्षा लेकर स्वर्ग में गए। उस एणीपुत्र ने संतति के लिए अहम तय करके मुझे संतुष्ट किया, जिससे मैंने उसे एक पुत्री दी, वह यह प्रियंगुसुंदरी है। इस पुत्री के स्वंयवर के लिए एणीपुत्र राजा ने बहुत से राजाओं को आमंत्रित किया था, परंतु उसने किसी को नहीं वरा। इससे सब राजाओं ने मिलकर युद्ध आरंभ किया। परंतु मेरी सहायता से उसने अकेले ने ही सबको जीत लिया। वह प्रियंगुसुंदरी तुमको वरने की इच्छुक है। हे अनध! तुम्हारे लिए उसने अष्टमभक्त करके मेरी आराधना की, जिससे मेरी आज्ञा से द्वारपाल ने आकर आपको उसके घर आने को कहा, परंतु अज्ञान के कारण द्वारपाल के कथन की आपने अवज्ञा की। अब मेरी आज्ञा से उस द्वारपाल के बुलाए अनुसार तुम वहाँ जाना और एणीपुत्र की कन्या से विवाह

करना और यदि आपको कुछ वरदान मांगना हो तो वह भी मांग लो। देवी के इस प्रकार के वचन से वसुदेव बोले कि जब मैं याद करूँ तब तुम आना। देवी ने यह बात स्वीकार कर ली। वह देवी वसुदेव को बंधुमती के घर छोड़कर अंतर्ध्यान हो गई। प्रातः वसुदेव उस द्वारपाल के साथ प्रियंगुमंजरी के निर्दिष्ट स्थान पर गए। वहाँ पहले से ही आई हुई थी। वसुदेव ने बहुत ही हर्ष के साथ गांधर्व विवाह किया। अठाहरवें दिन द्वारपाल ने प्रियगुमंजरी को दिए हुए वरदान की बात राजा को बताई, राजा उसे अपने घर ले गया।

(गा. 545 से 559)

इसी समय वैताढ्यगिरी पर गंधसमृद्ध नाम के नगर में गंधार पिंगल नाम के राजा थे। उनके प्रभावती नाम की कन्या थी। वह घूमती–घूमती सुवर्णाम नगर में आई। वहाँ उसने सोमश्री को देखा और वह उसकी सखी बन गई। सोमश्री को पति का विरह हुआ जानकर प्रभावती बोली हे सखि! तू किस लिए संताप कर रही है? मैं अभी तेरे भर्तार को ला दूँगी। सोमश्री निःश्वास डालती हुई बोली, हे सखि! जिस प्रकार वेगवती पति को लाई थी वैसे तू भी रूप में कामदेव जैसे मेरे स्वामी को ला देगी। प्रभावती बोली– मैं वेगवती जैसी नही हूँ, ऐसा कहकर वह श्रावस्तवी नगर में गई और वहाँ से वसुदेव को ले आई। वहाँ वसुदेव दूसरा रूप करके सोमश्री के साथ रहे। किसी समय मानसवेग ने वसुदेव को पहचान लिया और उनको बांध लिया। उस समय कोलाहल होने से वृद्ध खेचरों ने आकर उनको छुड़ाया। वसुदेव ने मानसवेग के साथ सोमश्री संबंधी विवाह करने लगा। उसका निर्णय करने के लिए वे दोनों वैजयंती नगरी में बलसिंह राजा के पास आये। वहाँ सूर्पक आदि सभी एकत्रित हुए। मानसवेग ने कहा कि, पहले यह सोमश्री मेरी कल्प में थी उससे वसुदेव ने छल से विवाह कर लिया है। साथ ही मेरे दिये बिना मेरी बहन वेगवती से भी विवाह किया है। वसुदेव ने कहा– उसके पिता ने मुझे ही सोमश्री का उपयुक्त वर सोचा था अतः मैंने विवाह कर लिया। वहाँ से तुमने सोमश्री का हरण कर लिया। इस विषय में वेगवती के कहने से सभी लोग जानते हैं। इस प्रकार वाद विाद में वसुदेव ने मानसवेग को जीत लिया। वह युद्ध करने में तत्पर हुआ। उसके साथ नीलकंठ अंगारक सूर्पक आदि भी तैयार हुए। उस समय वेगवती की माता अंगारवती ने वसुदेव को दिव्यधनुष और दो तुणीर दिए और प्रभावती ने प्रज्ञप्ति विद्या दी।

विद्या और दिव्य अस्त्रों से पराक्रम में पुष्ट हुए वसुदेव ने इंद्र की भांति अकेले ही उन खेचरों को जीत लिया। पश्चात उन्होंने मानसवेग को बांधकर सोमश्री के आगे डाला। परंतु अपनी सासु अंगारवती के कहने से ही उसे छोड दिया। सेवक बने मानसवेग आदि विद्याधरों से परिवृत वसुदेव सोमश्री को साथ लेकर विमान में बैठकर महापुर नगर में आए। वहाँ सोमश्री के साथ विलास करने लगे।

(गा. 560 से 570)

एक बार मायावी सूर्पक ने अश्व का रूप लेकर वसुदेव का हरण कर लिया। उसे पहचान कर वसुदेव ने मुष्टि के द्वारा उनके मस्तक पर प्रहार किया, जिससे सूर्पक ने उनको ऊर से नींचे फेंक दिया तो वसुदेव गंगानदी के जल में गिरे। पश्चात उन्होंने तैर कर गंगा नदी को पार किया और वे तापस के आश्रम में गये। वहाँ कंठ में हड्डियों की माला पहन कर खड़ी एक स्त्री उनको दिखाई दी।

(गा. 571 से 576)

उस स्त्री के विषय में उन्होंने तापसों को पूछा। तब तापस बोले यह जितशत्रु राजा की नंदीषेणा नाम की स्त्री है, यह जरासंध की पुत्री है। इस स्त्री को एक संन्यासी ने वश में किया था, उस संन्यासी को राजा ने मार डाला, तथापि दृढ़ कामण से इस स्त्री ने अभी भी उस संन्यासी की हड्डियों को धारण कर रखा है। पश्चात वसुदेव ने मंत्र बल से उसका कामण दूर कर दिया। तब जितशत्रु राजा ने अपनी केतुमती नाम की बहन वसुदेव को दी। उस समय डिंभ नाम के जरासंध के द्वारपाल ने आकर जितशत्रु राजा को कहा कि नंदीषेणा के प्राणदाता को भेजा क्योंकि वह परम उपकारी है। राजा ने यह बात उपयुक्त समझकर आज्ञा दे दी। अतः वसुदेव द्वारपाल के साथ रथ में बैठकर जरासंध के नगर में आए। वहाँ नगर रक्षकों ने तत्काल ही उनको बांध दिया। वसुदेव ने स्वंय को बांधने का कारण पूछा। तब वे बोले– किसी ज्ञानी ने जरासंध को कहा है कि तेरी पुत्री नंदीषेणा को जो वश में कर देगा उसका पुत्र तुझे अवश्य मार देगा। वह तुम ही हो, ऐसी उसे खबर मिलती है। इसलिए हम तुझे मारने को ले जा रहे हैं। ऐसा कहकर वे वसुदेव को पशु की तरह वध्यस्थल में ले गये। वहाँ मुष्टिक आदि मल्ल वसुदेव को मारने को तैयार हो गया।

(गा. 577 से 583)

उस समय गंधसमृद्ध नगर के राजा गंधारपिंगल ने अपनी पुत्री प्रभावती के वर के लिए किसी विद्या को पूछा। उस विद्या ने वसुदेव का नाम दिया। इसलिए उसने वसुदेव को लाने के लिए भगीरथी नाम की धात्री को भेजा। उस धात्री ने विद्याबल से मुष्टिक आदि के पास से बलपूर्वक वसुदेव को गंधसमृद्ध नगर में ले गई। वहाँ वसुदेव ने प्रभावती से विवाह किया। उसके साथ क्रीड़ा करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे। इस प्रकार अन्य बहुत सी विद्याधर स्त्रियों के साथ विवाह करके अंत में सुकौशला से विवाह कर उसके महल में रह कर निर्विघ्न विषयों को भोगने लगे।

(गा. 584 से 589)

तृतीय सर्ग

(कनकवती का विवाह और उसके पूर्व भव का वर्णन)
(नल–दमयंती चरित्र)

इस भरतक्षेत्र में विद्याधरों के नगर जैसा पेढालपुर नाम का नगर है। जो कि सर्व अद्‌भुत निधानों का उत्पत्तिस्थान है। जिसमें प्रफुल्लित गृहोद्यान का पवन आगंतुको के वस्त्रों से मिलकर सुंगधदायक होकर हमेशा युवा स्त्रियों पुरूषों को सुख प्रदान करता है। जहाँ घरों की रत्नबद्ध भूमि में रात्रि में ताराओं का प्रतिबिंब पडने से मुग्ध बालिकाएँ दंतमय कर्णाभूषण की शंका से वह लाने के लिए अपना हाथ बढाती हैं। जहाँ निधानवाले और ऊँची पताका वाले घरों पर उडती हुई पताकाओं की छाया मानों वे निधान रक्षक सर्प हों, ऐसा मालूम होता है। उस नगर के वासी सभी लोग वस्त्र के साथ गली के रंग जैसा जैन धर्म के साथ दृढ़ रूप से जुडें है।

(गा. 1 से 5)

उस नगर में सद्‌गुणों के चन्द्र जैसा निर्मल और अद्‌भुत समृद्धि वाला इन्द्र का अनुज बंधु हो ऐसा यूं प्रतीत होता था। यह हरिशचंद्र नाम का राजा था। इंद्रियों के विजय में जागृत और न्याय तथा पराक्रम से शोभित ऐसे उस राजा की भृकुटीरूप लता के आगे सर्व संपत्तियां दासी होकर रही हुई थी। उसका निर्मल यश अपार लक्ष्मी की स्पर्धा करता हो, इस प्रकार अपार जगत् में मुक्त रूप से वृद्धि पा रहा था। निर्मल यश की राशि रूप, उस राजा का नाम देव व खेचरों की स्त्रियाँ वैताढ्यगिरी की भूमि पर गाती थी। उस राजा के विष्णु के लक्ष्मी की भांति लक्ष्मीवती नाम की अति रूपवती प्राणवल्लभा थी। शील, लज्जा, प्रेम, दक्षता और विनय से वह रमणी पति के मनरूप कुमुद को आनंद देने में चंद्रिका जैसी थी। जब वह अपने पति के साथ प्रीतिपूर्वक कोमल वाणी से आलाप करती तब उसके कर्णरंध्र में मानो अमृत की धार चलती हो, वैसी लगती थी।

(गा. 6 से 12)

कलाओं से पल्लवित, लज्जादि गुणों से पुष्पित और पति की भक्ति द्वारा फलित ऐसी वह रानी जंगल बेली की जैसी शोभती थी। अनेक समय के पश्चात उस लक्ष्मीवती ने एक पुत्री को जन्म दिया। जो अपनी कांति से सूतिका गृह की मांगल्यदीपिका जैसी दृष्टिगत होने लगी। सर्वलक्षण संपन्न उस बाला के जन्म से ही मानो लक्ष्मी आई हो, इस प्रकार उसके माता पिता हर्षित हुए। धनपति कुबेर उसके पूर्वजन्म का पति था। इससे पूर्व स्नेह से मोहित होकर उसके जन्म समय आकर उसके यहाँ कनकवृष्टि कर दी। इस कनक की वृष्टि से हर्षान्वित होकर उस राजा हरिचंद्र ने उस पुत्री का नाम कनकवती रखा। स्तनपान करती हुई यह बाला धात्री माताओं के उत्संग में संचरती अनुक्रम से हंसी की तरह पैरों से चलने में समर्थ हुई। जब यह बाला पैरों से चलती तब उसकी धात्री करतालिका बजाकर नये नये उल्लापन से गाती थी। जब वह धीरे–2 मंदमंद वाणी से बोलने लगी तब वे धात्रियाँ मैंना की तरह उससे कौतुक से बारंबार आलाप करती थी। केश को गुंथाती कुंडल को हिलाती, और नुपूर को बजाती यह बाला मानो दूसरी मूर्तिधारी रमा हो, वैसे रत्नजडित कंदुक से क्रीडा करती थी और हमेशा खिलौनों के साथ खेलती हुई वह राजकुमारी प्रफुल्लित नेत्रवाली उसकी माता को अत्यंत हर्ष प्रदान करती थी।

(गा. 13 से 23)

अनुक्रम से मुग्धता से मधुर ऐसी बाल्यवय का त्याग कर वह कनकवती कला कौशल ग्रहण करने के योग्य हुई। अतः राजा हरिश्चंद्र ने उसे कला ग्रहण कराने के लिए शुभ दिन में किसी योग्य कलाचार्य को सौंपा अल्प समय में मानो लिपि का सृजन करने वाली हो, वैसे उसने अठारह प्रकार की लिपियों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। शब्द शास्त्र अपने नाम की भांति कंठस्थ कर लिया। तर्कशास्त्र के अभ्यास से गुरू को भी पत्रदान विजय पत्र लाने में समर्थ हुई। छंद और अलंकार शास्त्र रूप समुद्र में पारंगत हुई। छः प्रकार की भाषा को अनुसरती, वाणी बोलने में इसी प्रकार काव्य में कुशल हुई। वह चित्रकर्म से सबको आश्चर्य कराने लगी। और पुस्तक कर्म (मृतिका पिष्टादिक के पुतले आदि बनाने) में कुशल बनी। गुप्त क्रिया पद और धारक वाले वाक्यों की ज्ञाता हुई, प्रहेलिका समस्या में वाद करने लगी। सर्व प्रकार की द्यूत क्रीड़ाओं में दक्ष हुई।

(गा. 24 से 28)

सारथ्य करने में कुशल हुई, अंगसंवाहन के योग्य हुई, रसवती बनाने की कला में प्रवीण बनी, माया और इंद्रजाल आदि प्रकट करने में निपुण हुई, साथ ही विविध वाद्य संगीत को बताने में आचार्य जैसी हुई। संक्षेप में ऐसी कोई भी कला शेष न रही कि जिसे वह राज बाला न जानती हो। लावण्य जल की सरिता रूप और निर्दोष अंगवाली वह बाला अनुक्रम से पूर्वोक्त सर्व कला कौशल को सफल करने वाली यौवन वय को धारण करने वाली हुई। उसे देख उसके माता पिता वर की तलाश मे तत्पर हुए। जब कोई योग्य वर न मिला तब उन्होंने स्वंयवर का आयोजन किया।

(गा. 29 से 32)

एक बार वह मृगाक्षी बाला अपने महल में सूखपूर्वक बैठी थी। इतने में अकस्मात उसने एक राजहंस को वहाँ आया हुआ देखा। उसकी चोंच, चरण और लोचन अशोकवृक्ष के पल्लव की भांति रक्तवर्णीय थे। पांडुवर्ण के कारण नवीन समुद्रीझाग के पिंड से वह निर्मित जैसा दिखाई देता था। उसकी ग्रीवा पर स्वर्ण की धुधरमाला थी, शब्द मधुर था और उसकी रमणीक चाल से मानो वह नृत्य कर रहा हो ऐसा लगता था। उसको देख वह राजबाला विचारने लगी कि जरूर यह राजहंस किसी पुण्यवान पुरूष के विनोद का कारण है, क्योंकि स्वामी की का के बिना पक्षी को आभूषण कैसे पहनाये जा सकते हैं। चाहे जैसा हो, पर इसके साथ विनोद करने को मेरा मन उत्कंठित हुआ है। उसी समय वह हंस उसके गवाक्ष में आ गया, तब उस हंसगामिनी बाला ने लक्ष्मी के मांगल्य चामर जैसे उस हंस को पकड़ लिया। तब वह पदमाक्षी बाला सुखस्पर्श वाले अपने कर कमल से क्रीड़ाकमल की तरह उस मराल से खेलने लगी। शिरीष जैसे कोमल हाथ से बालक के केशपाथ की तरह उसके निर्मल पंख को बालों को मार्जित करने लगी। पश्चात कनकवती ने सखी को कहा कि हे सखि! एक काष्ठ का पिंजरा ला, जिसमें इस पक्षी का क्षेपन करूं, क्योंकि पक्षिगण एक स्थान पर स्थायी नहीं रहते हैं। कनकवती के कहने से उसकी सखी काष्ठ का पिंजरा लेने गई। तबवह राजहंस मनुष्य की वाणी से इस प्रकार बोला– हे राजपुत्री! तू चतुर है, फिर भी तू मुझे पिंजरे में क्यों डाल रही हैं? मैं तुझे एक प्रिय के समाचार दूं।

(गा. 33 से 41)

इस प्रकार राजहंस को मानुषी वाणी में बोलते देख राजकुंवरी विस्मित हुई और प्रिय अतिथि की भांति उसे गौरव देते हुए इस प्रकार कहा– हे हंस! तू तो उल्टा प्रासाद पात्र हो गया। वह प्रिय कौन है? यह कह। आधी कही हुई बात मिश्री से मीठी लगती है। हंस बोला– कोशला नगरी में खेचरपति कोशल राजा के सुकोशला नाम की दुहिता है। उस सुकोशला का युवा पति श्रेष्ठ सौंदर्य वान है और उसे देखकर सर्वरूपवान स्त्री की रेखा भी भग्न हो जाती है। सुंदरी! तुमको अधिक क्या कहूं? उस सुकोशला के पति का सौंदर्य ऐसा है कि उसके नमूने का रूप यदि हो तो वह मात्र दर्पण में ही है, दूसरा नहीं। हे मनस्विनी। जिस प्रकार वह युवान रूप संपति से नर शिरोमणि है,उसी प्रकार तू भी रूप संपति में सर्व नारियों में शिरोमणि है। मैं तुम दोनों के रूप का द्रष्टा हूँ, तुम दोनों का समागम हो, इस इच्छा से उनका वृत्तांत मैंने तुमको बताया है और हे भद्रे! तुम्हारा स्वंयवर सुनकर मैंने उनके पास भी तुम्हारा वर्णन किया हुआ है कि जिससे वे स्वेच्छा से तुम्हारे स्वंयवर में आवेंगे। नक्षत्रों में चंद्र की भांति स्वंयवर मंडप में अनेक राजाओं के बीच में अद्‌भुत तेज वेष्ठित उस नररत्न को तू पहचान जावेगी। अब तू मुझको छोड़ दे। तेरा कल्याण हो। मुझे पकड़ने से तेरा अपवाद होगा और मेरे छूटे रहने से विधि के जैसे तेरे पति के लिए प्रयत्न करूंगा। इस प्रकार हंस की वाणी सुनकर कनकवती सोचने लगी कि क्रीड़ामात्र से हंस के रूप को धारण करने वाला यह कोई सामान्य पुरूष नहीं है, अतः इसके द्वारा अवश्य मुझे पति प्राप्त होगा। ऐसा सोच उसने हंस को छोड दिया। वह उसके हाथों से छूटकर आकाश में उडा और उस कनकवती के उत्संग में एक चित्रपट डालकर कहा, हे भद्रे! जैसा मैंने उस युवापुरूष को देखा है, वैसा ही चित्रपट में चित्रित है। वह जब यहां आवे तब इससे तू पहचान जाना। कनकवती प्रसन्न होकर अंजलि जोड़ बोली– हे हंस! तुम कौन हो? मुझ पर अनुग्रह करके कहो।

(गा. 42 से 54)

उसी समय हंस के वाहन पर एक खेचर प्रकट हुआ। कान के कुंडलों को चलायमान करता हुआ, साथ ही दिव्य अंगराग को धारण करता हुआ वह इस प्रकार सत्य वचन बोला– हे वशनने। मैं चंद्रातपे नाम का खेचर हूं और तुम्हारे भावी पति के चरण की सेवा में तत्पर हूँ। और फिर हे निरधे! विद्या के प्रभाव से अन्य बातें भी तुमको बताता हूँ कि वह युवा किसी का दूत बनकर आपके

स्वंयवर के दिन आपके पास आयेंगा। इस प्रकार कथन करके वह खेचर कनकवती को आशीष देकर विदा हुआ। तब उसने विचार किया कि सद्भाग्य से इस प्रकार के देव संबंधी वचन मेरे श्रवणगत हुए हैं। कनकवती चित्रस्थ पति के दर्शन से अतृप्त होकर बारंबार नेत्र की तरह उस चित्रपट को मीलनोन्मीलन करने लगी। कदली की तरह विरहताप से पीडित हुई वह राजबाला उस चित्रपट को क्षण में मस्तक पर, क्षण में कंठ पर क्षण में हृदय पर धारण करने लगी।

(गा. 55 से 63)

चंद्रातप खेचर जो कि कनकवती और वसुदेव का संगम कराने में कौतुकी था, वह विद्याधरों से सुशोभित ऐसे विद्याधरनगर में गया। वहाँ महान शक्ति से पवन की भांति अस्खलित गति से उसी रात्रि को वह वसुदेव के वासभवन में घुसा। वहाँ हंस के रोम की गादी वाली एवं प्रक्षालित शुद्ध कालीन वाली शय्या में स्त्री के साथ शयन करते हुए वसुदेव उसे दिखाई दिए। विद्याधर की भुजलता का उपानह बनाकर सुखपूर्वक सोए हुए वसुदेव कुमार के पैर दबाकर सेवा करने लगा। वसुदेव रतिक्रीडा के श्रम से उत्पन्न श्रम से निद्रा सुख से व्याप्त थे, तथापि क्षणभर में जागृत हो गए क्योंकि उत्तम पुरुष सरलता से जागृत हो जाते हैं। आधी रात को अचानक आए उस खेचर को देखकर वसुदेव भयभीत सा क्रोधित न होते हुए बल्कि सोचने लगे कि यह कोई पुरूष जो कि मेरी सेवा कर रहा है, यह विरोधी ज्ञात नहीं होता, परंतु वह मेरा हितचिंतक अथवा कार्य चिंतक ही होगा। इस पदचंपी करते हुए पुरूष को मैं यदि कोमल वाणी से भी बुलाऊँगा तो भी रति क्रीडा से श्रांत होकर सोई हुई यह प्रिया जाग उठेगी। परंतु इस सेवा परायण पुरूष की उपेक्षा करना भी योग्य नहीं है। यदि मैं उपेक्षा भी करूँ तो भी यह पुरूष जब तक यहाँ रहेगा तब तक मुझे नींद तो आएगी ही नहीं। अतः प्रयत्न पूर्वक प्रिया को जगाए बिना शय्या से उठकर जरा दूर जाकर इस मनुष्य के साथ वार्तालाप करूँ।

(गा. 64 से 73)

ऐसा विचार करके पलंग को हिलाए बिना शरीर की लघुता बनाते हुए शय्या से उठे और दूसरी ओर जाकर बैठे। चंद्रातप विद्याधर जो कि सर्वांग रत्नमय आभूषणों से विभूषित था, वह इन दसवें दशार्ह वसुदेव को भक्ति से प्रणाम करके एक साधारण मुसाफिर की भाँति खड़ा हो गया। वसुदेव ने उसे

देखा और पहचाना कनकवती के समाचार के अनुसार वह यह चंद्रातप नामक विद्याधर है। वसुदेव ने सत्कार योग्य उसका आलिंगन किया, स्वागत पृच्छा करके यकायक आने का कारण पूछा। तब प्रौढ़ता से बुद्धिमानों में शिरोमणि चंद्रातप ने चंद्रातप जैसी शीतल वाणी द्वारा इस प्रकार कहना प्रारंभ किया हे यदुत्तम! आपकी कनकवती का स्वरूप निर्देश करने के पश्चात मैंने वहाँ जाकर आपका स्वरूप भी बता दिया है। हे नाथ! विद्या के बलसे मैंने आपको एक चित्रपट में आलेखित कर लिया था और उसके मुख–कमल के समक्ष सूर्य जैसा वह चित्रपट मैंने उसे अपर्ण किया। पूर्णिमा के चंद्र जैसे तुमको चित्रपट में देखकर उसके लोचनों में हर्ष से चंद्रकांत मणि की भांति अश्रुवारि ढुलकने लगे पश्चात मानो अपने विरह के संताप का भाग तुमको देना चाहती हो, वैसे आपके मूर्तिमंत पट को हृदय में धारण किया। यंत्र की पुतलिका की भांति नेत्रों से अश्रु वर्षा करती और गौरव से वस्त्र के छोर से उतारती वह अंजलि जोडकर प्रार्थना पूर्वक कहने लगी– अरे भद्र! मुझ जैसी दीन बाला की उपेक्षा मत करना, क्योंकि तुम जैसा मेरा कोई हितकारी नहीं है। मेरे स्वंयवर में उन पुरूषश्रेष्ठ को अवश्य ले आना। हे नाथ! आज कृष्ण दशमी है और आगामी शुक्ल पंचमी को दिन के प्रथम भाग में उसका स्वयंवर होने वाला है, तो हे स्वामिन्! उसके स्वंयम्बरोत्सव में आपका जाना योग्य है। आपके संगम की आशा रूप जीवनऔषधि से जीवंत वह बाला आपके अनुग्रह के योग्य है। वसुदेव बोले हे चंद्रातप! सांयकाले स्वजनों की अनुमति लेकर मैं ऐसा ही करूँगा। तू खुश होजा और मेरे साथ आने के लिए तू प्रमदवन में तैयार रहना कि जिससे उसके स्वयंवर में तू मेरे प्रयत्न का फल देखेगा।

(गा. 74 से 88)

वसुदेव के ऐसा कहने पर तत्काल ही वह युवा विद्याधर अंतर्धान हो गया। वसुदेव हर्षित होकर शय्या पर सो गये। प्रातःकाल में स्वजनों की अनुमति लेकर और प्रिया को जानकारी देकर वसुदेव पेढालपुर नगर में आए। राजा हरिशचंद्र ने सन्मुख आकर वसुदेव का लक्ष्मीरमण नामक उद्यान में आतिथ्य किया। अशोक पल्लव से रत्नवर्णीय गुलाब की सुगंध से शोभित केतकी के कुसुम से विकसित सप्तच्छद की खूशबु से सुगंधित कृष्ण इक्षु के समूह से व्याप्त और मोगरे की कलियों मे दंतुर ऐसे उस उद्यान में दृष्टि को विनोद देते वसुदेव

विश्रांति लेकर वहाँ रहे। कनकवती के पिता ने अपने वैभव के योग्य ऐसी उसने पूज्य वसुदेव की पूजा की। पूर्व निष्पादित उस उद्यान के अंतर्गत प्रासादों में घरों में जाते आते उद्यान में स्थित वसुदेव ने इसप्रकार की वाणी सुनी कि इस उद्यान में पहले सुर असुर और नेश्वरों से सेवित श्री नेमिनाथ प्रभु का समवसरण हुआ था। उस वक्त इस उद्यान में देवांगनाओं के साथ लक्ष्मी देवी अर्हत प्रभु के समक्ष रासरमी थी। अतः इस उद्यान का नाम लक्ष्मीरमण पड़ गया।

(गा. 89 से 96)

वसुदेव ने उन ऊँचे ऊँचे प्रासादों में जाकर श्री अर्हत प्रभु की प्रतिमा की दिव्य उपहारों के द्वारा पूजा करके भावपूर्वक वंदना की। इतने में वसुदेव ने वहाँ एक विमान को उतरता हुआ देखा। उस विमान में चारो ओर रत्न जड़े थे। मानो जंगम मेरू हो इस प्रकार दिखाई देता था। लक्षाधिक पताकाओं से लक्षित वह विमान पल्लवित वृक्ष जैसा दिखाई देता था। समुद्र की तरह उनके हाथी मगर और अश्वो के चित्रों से भरपूर था। कांति के द्वारा सूर्यमंडल के तेज का पान करता था। मेघनाथ सहित आकाश की भांति बंदीजनों के कोलाहल से आकुल था। मांगलिक वांजिगो के घोष से मेघगर्जना का भी तिरस्कार करता था और उसने वहाँ रहे हुए सभी विद्याधरों की ग्रीवा ऊँची करा दी थी। उस विमान को देखकर वसुदेव ने अपने पास स्थित किसी देव को पूछा कि इंद्र के जैसे किस देव का यह विमान है? यह बताओ। देव ने कहा– यह धनद कुबेर का विमान है और उसमें बैठकर कुबेर ही किसी बडे हेतु से इस भूलोक में आए हैं। वे इस चैत्य में अर्हत प्रभु की पूजा पश्चात् तुरंत ही कनकवती के स्वयंवर को देखने की इच्छा से वहाँ जावेंगे।

(गा. 97 से 105)

यह सुनकर वसुदेव ने सोचा कि अहा! इस कनकवती को धन्य है कि जिसके स्वयंवर में देवता भी आए हैं। कुबेर ने विमान से उतरकर श्री अर्हत प्रभु की प्रतिमा की पूजा वंदना करके परमात्मा के समक्ष गीत नृत्य आदि की संगीतमय प्रस्तुति दी। यह सब देखकर वसुदेव ने चिरकाल निवृतिपूर्वक चिंतन किया कि अहो! महात्मा और परम अर्हत ऐसे इस पुण्यवान देव को धन्य है। अहो! ऐसे महान प्रभाव वाले श्रीमंत अर्हंत के शासन को भी धन्य है। साथ ही ऐसा अद्‌भुत वृत्तांत जिसे दृष्टिगोचर हुआ है ऐसा मैं भी धन्य हूँ। कुबेर के अर्हंत

प्रभु की पूजा संपन्न करके चैत्य के बाहर आकर यथारूचि चला। इतने में उसने वसुदेव को देखा। जिससे वह सोचने लगा कि इस पुरूष की कोई लोकोत्तर आकृति है, जैसी आकृति देवताओं में असुरों में और खेचरों में भी दिखाई नहीं देती। ऐसे अनुपम सुंदर आकृतिवाले वसुदेव को कुबरे ने संभ्रमित होकर विमान में बैठे बैठे ही अंगुली की संज्ञा से बुलाया। मैं मनुष्य हूँ और परम आर्हत और महर्द्धिक देव है ऐसा विचार करते करते अभीरु और कौतुकी वसुदेव उसके पास गये। स्वार्थ में तृष्णा वाले धनद ने वसुदेव का मित्र के तुल्य प्रिय अलाप आदि से सत्कार किया। तब प्रकृति से ही विनीत और सत्कारित वसुदेव ने अंजलि बद्ध हो, उनसे कहा कि आज्ञा दीजिए, मैं आपका क्या अभीष्ट करूं? कुबरे ने कर्णप्रिय मधुर वाणी से कहा – महाशय! अन्य से न साधा गया ऐसा मेरा दौत्य कर्म साध्य करो। इस नगर में हरिशचंद्र राजा के कनकवती नाम की एक पुत्री है, उसके पास जाकर मेरी और से कहो कि देवराज इंद्र के उत्तर दिशा के पति लोकपाल कुबेर तुझसे विवाह करना चाहते हैं। तू मानुषी है परंतु देवी हो जा। मेरे अमोघ वचन से तू पवन के सदृश अस्खलित गति से कनकवती से विभूषित ऐसे प्रदेश में जा सकेगा। तब वसुदेव ने अपने आवास में जाकर दिव्य अलंकारों को त्याग कर एक दूत के लायक मलिन वेश धारण किया।

(गा. 106 से 121)

ऐसे वेश को धारण करके जाते हुए वसुदेव को देखकर कुबेर ने कहा हे भद्र! तूने सुंदर वेश कैसे छोड़ दिया? सर्व वैभव स्थलों पर आंडबर ही पुजाता है वसुदेव ने कहा मलिन हो या उज्ज्वल वेश से क्या काम है? दूत का मंडन तो वाणी है। और वह वाणी मुझ में है। यह सुनकर कुबेर ने कहा जा! तेरा कल्याण हो तब वसुदेव निःशंक रूप से हरिशचंद्र राजा के गृहांगण में आये और हाथी घोड़े रथ और योद्धाओं से अवरूद्ध ऐसे राजद्वार में प्रवेश किया। तत्पश्चात् किसी का दृष्टिगोचर नहीं होते हुए और अस्खलित गति से वसुदेव अंजनसिद्ध योगी की भांति आगे चले। अनुक्रम से परिकर बाँधकर हाथ में छड़ी लेकर खड़े नजरों को अवरूद्ध राजगृह के प्रथम गढ में उन्होंने प्रवेश किया। वहाँ इंद्रनील मणिमय पृथ्वीतल वाला और चलित कांति से तरंगित जल सहित वाणी के भ्रम को उत्पन्न करता एक राजगृह उसने देखा। उसमें दिव्य आभरणों को धारण करने वाली और अप्सरा जैसी स्वरूपवान समानवय की स्त्रियों का वृंद उन्होंने देखा। वहाँ वसुदेव ने सुवर्णमय स्तंभवाली, मणिमय प्रतलियों वाली और चलायमान ध्वजाओं से युक्त ऐसी दूसरी

कक्षा में प्रवेश किया। इसी प्रकार आगे जाने पर ऐरावत हाथी जैसे क्षीरसागर में प्रवेश कर क्षीरतरंग जैसी उज्ज्वल तीसरी कक्षा में प्रवेश किया।

(गा. 122 से 130)

उसमें स्वर्ग में समावेश न होने से अप्सरा ही मानो यहाँ आई हों ऐसे दिव्य आभूषणों से सुसज्जित स्त्रियाँ वहाँ एकत्रित थी। चतुर्थ गढ में उन्होंने प्रवेश किया तब वहाँ तरंगों से तरल और हंसप्रमुख पक्षियों से व्याप्त जलाक्रांत मणिमय पृथ्वी दिखाई दी। वहाँ पृथ्वी और दीवारों में दर्पण बिना भी अपनी आत्मा का अवलोकन करती और उत्तम शृङ्गार धारण करती आलोक वासंगनाधे उसे देखने में आई। वहाँ मैंना तोते आदि के मांगलिक उच्चार उनको सुनाई दिये और गीत नृत्य में आकुल दासी वर्ग भी दृष्टि में पड़ा। वहाँ से वसुदेव ने पांचवें गढ में प्रवेश किया। वहाँ स्वर्गगृह के जैसी मनोहर मरकत मार्ग की भूमि दिखाई दी। उसमें मोती और प्रवाल की मालाएं तथा लटकते हुए चंवर मायाकृति से रचित दिखाई दिये। साथी ही सुंदर रूप और वेशयुक्त एवं रत्न अलंकारों से भरपूर ऐसी अनेक दासियाँ जाने स्तंभ पर संलग्न पुतलियां हैं, दृष्टिगोचर हुई। वहाँ से छटे कक्ष में प्रवेश किया। वहाँ दिव्य सरोवर जैसी सर्वत्र पदमराग मणि की भूमि दिखाई दी। वंहा लालरंग के अंगराग से पूर्ण मणि के पात्र और दिव्य वस्त्र धारण की हुई मूर्तिमान संध्या सी अनेक मष्णाक्षियों उनकी दृष्टि में पड़ी। वहाँ से सातवीं कक्षा में गए। वहाँ लोहिताक्ष मणि के स्तंभवाली कर्केतन मणि की भूमि देखने में आई। उसने कल्पवष्क्ष पुष्पों के आभूषण और जल से परिपूर्ण कलश तथा कंमडलों की श्रेणियां उन्होंने देखी। फिर अनेक कलाओं को जानने वाली सर्व देशों की भाषाओं में प्रवीण और गंडस्थल पर लटके हुए कुंडलों वाली अनेक छडी धारण करने वाली सुलोचनाएं भी देखने में आई। उन सबको देख वासुदेव चिंतन करने लगे कि इतनी छडीदार स्त्रियों से नीरंध्र परिवृत ऐसे इस गृह में किसी को प्रवेश करने का अवसर नहीं है। वसुदेव इस प्रकार विचार कर रही थे कि इतने में सहजता से कनक कमल को हाथ में धारण करती हुई दिव्यवेश युक्त एक दासी पक्षधर के मार्ग से बाहर आई।

(गा. 131 से 145)

उसे देखकर समी छडीदार वामाएं संसभ्रम से पूछने लगी कि राजकुमारी कनकवती कहाँ है? और क्या कर रही है? तब दासी ने कहा अभी तो प्रभदवन

के प्रासाद में दिव्यवेश से सुसज्जित हो राजकुमारी कनकवती अकेली ही किसी देवता के सान्निध्य में बैठी है। यह सुनकर राजकुमारी को वहाँ बैठी हुई जानकर जो दासी आई थी उस पक्षद्वार के मार्ग से ही वसुदेव उस ओंर जाने के लिए बाहर निकले ओर प्रभदवन में आए। वहाँ सात भूमिका वाला और घूमता ऊँचा किल्लेवाला वह प्रासाद देखा। तब धीरे धीरे वसुदेव ऊपर चढ़े। तब सातवीं भूमिका पर श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठी हुई वह दिखाई दी। उसने कल्पलता की तरह दिव्य अलंकार और वस्त्र धारण किये थे। सर्वऋतुओं के पुष्प के आभरण से वह साक्षात् वन लक्ष्मी जैसी दिखाई दे रही थी। जन्म से विधाता की सृष्टि में वह रूपलक्ष्मी की सर्वस्व थी। अकेली होने पर भी परिवार वाली लगती थी और चित्रपट्ट में आलेखित पुरूष के साथ तन्मय होकर देख रही थी। वसुदेव जब उसके समक्ष जाकर खड़े रहे, तब जाने दूसरा चित्रपट का रूप हो, ऐसे उन दशार्द्ध को देखकर द्रष्टागमन के ज्ञान से वह प्रातःकाल के कमल के समान विकसति हो गई। वसुदेव को देखकर हर्षित होकर उच्छवासन लेती हुई कनकवती क्षण में वसुदेव को और क्षण में चित्रपट को बार बार अश्रांत नेत्रों से देखने लगी। कमल की भांति नेत्रों से वसुदेव का उर्ध्वन करती हुई वह राज बाला तत्काल सिंहासन से उठी और अंजलिबद्ध हो बोली– हे सुंदर ! मेरे पुण्य से तुम यहाँ आए हो, मैं तुम्हारी दासी हूँ। इस प्रकार कहती हुई वह वसुदेव को नमन करने को तत्पर हुई, तब नमन करती हुई उसे रोककर वसुदेव ने कहा, महाशय। मैं किसी का भृत्य हूँ और आप स्वामिनी हैं अतः मुझे नमन मत करो। जो नमन करने योग्य हो, उसे प्रणाम करना ही योग्य है। फिर जिसका कुल जाना नहीं, ऐसे मेरे जैसे मनुष्य के विषय में तुम ऐसा अनुचित मत करो। कनकवती बोली– आपका कुल आदित्य सब मैंने जान लिया है और आप ही मेरे पति हो। देवता द्वारा कथित और इस चित्रपट में आलेखित भी आप ही हो।

(गा. 146 से 159)

वसुदेव बोले – भद्रे! मैं तुम्हारा पति नहीं हूं। परंतु देवता ने जो मुझे आपका पति कहा है, उस पुरूष का मैं तो सेवक हूँ। वह पुरूष कौन है, सुनो। इंद्र के उत्तर दिशा के स्वामी लोकपाल और तुम्हारे मुखकमल में भ्रमररूप जगत विख्यात कुबेर तुम्हारे स्वामी है और मैं उनका सेवक साथ ही दूत हूँ। उनकी आज्ञा से आपको विनति कर रहा हूँ कि आप उन महापुरूष के अनेक देवियों से सेवित मुख्य पटराणी बनो। तब घनद के नामग्रहणपूर्वक उनका नमस्कार करके

कनकवती बोली – अरे! इंद्र के सामनिक देव वे कहाँ और कीट प्रायः मैं मानुषी कहाँ? उन्होंने मेरे पास जो तुमसे दौत्यकर्म कराया है, वह तो अनुचित है और क्रीड़ामात्र है। क्योंकि पहले भी कभी मानुषी स्त्री का देवता के साथ संबंध हुआ नहीं है। वसुदेव बोले हे भद्रे। यदि तुम देवता के आदेश को अन्यथा करोगी तो दवदंती के तुल्य विपुल अनर्थ को प्राप्त करोगी। कनकवती बोली धनद कुबेर इतने अक्षर सुनने से मेरे पूर्व जन्म के संबंध के कारण किसी प्रकार उनके ऊपर मेरा मन उत्कंठित होता है, परंतु इस दुर्गंधी औदारिक शरीर के दुर्लभ को अमृतभोगी देवता पुत्र सहन नहीं कर सकते ऐसी श्री अर्हंत प्रभु के वचन है। अतः दौत्य के बहाने गुप्त रहे हुए आप ही मेरे पति हैं। इसलिए उत्तर दिशा के पति कुबेर के पास जाकर आप मेरे वचन कहना कि मैं मानुषी हूं, जो कि आपके दर्शन के भी योग्य नहीं हूँ। मैं जो कि सप्तधातुमय शरीरवाली हूँ, उसको आप प्रतिमा रूप में मान्य हो।

(गा. 160 से 169)

इस प्रकार कनकवती के वचन सुनकर कोई भी न देखे वैसे अदृश्यरूप से जिस मार्ग से आए उसी मार्ग से वसुदेव वापिस कुबेर के पास लौटे। जब वसुदेव ने वह वृत्तांत कहना प्रारंभ किया, तब कुबेर ने ही कह दिया कि वह सब वृत्तांत मैंने जान लिया है। तब कुबेर ने अपने सामनिक देवताओं के समक्ष वसुदेव की प्रशंसा की यह महापुरूष कोई निर्विकारी चरित्र है इस प्रकार प्रशंसा करके संतुष्ट हुए कुबेर ने सुरेंद्रप्रिय नाम के दिव्यगंज से वासित ऐसे दो देवदूष्य वस्त्र, सूरप्रभु नाम का शिरोरत्न मुकुट, जलमार्ग नाम के दो कुंडल, शशिमयूख नाक के दो केयूर, बाजुबंध, अर्धशारदा नामक नक्षत्रमाला, हार सुदर्शन नाम के विचित्र मणि से जड़ित दो कड़े स्मरदारूण नामक विचित्र रत्नमय कटिसूत्र, दिव्यपुष्प माला और दिव्य विलेपन उसी समय वसुदेव को दिये। वे सर्वआभूषण आदि अंग पर धारण करने से वसुदेव कुबेर जैसे दिखाई देने लगे। इस प्रकार कुबेर से भी सत्कार, सम्मान पाए वसुदेव को देखकर उनके साले आदि जो विद्याधर साथ आए थे, वे सर्व अत्यंत प्रसन्न हुए। हरिश्चंद्र राजा भी उसी समय कौतुक से वहाँ आकर कुबेर को प्रणाम करके अंजली बद्ध हो बोले – हे देव! आज आपने इस भारतवर्ष पर बहुत बडा अनुग्रह किया है कि जिससे मनुष्य का स्वंयवर देखने की इच्छा से यहाँ स्वयमेव पधारे। ऐसा कह कर राजा ने तत्काल

ही स्वंयवर मंडप तैयार कराया। उसमें विविध आसन द्वारा मनोहर मंच स्थापित किये। उत्तर दिशा के पति कुबेर भी स्वंयवर देखने चले।

(गा. 170 से 181)

वह विमान की छाया द्वारा पृथ्वी के संताप को हरता था। उंदड छत्र की श्रेणि द्वारा चंद्र की परंपरा को दर्शा रहा था। विद्युत की उद्यम किरण को नचा रहा हो ऐसा और देवांगना के द्वारा कर पल्लवों से ललित हुए चँवर उन पर बीजे जा रहे थे। सूर्यभक्त वालिखिल्ल की तरह सूर्य की स्तुति करे वैसे बंदिजनों के द्वारा स्तुति की जा रही थी। इस प्रकार आडंबर युक्त कुबेर ने स्वंयवर मंडप में प्रवेश किया। उसमें ज्योत्सना लिप्त आकाश की तरह श्वेत और दिव्य वस्त्र के वलय बांधे थे। कामदेव द्वारा सज्जित हुए पुष्प धनु के जैसे तोरण लटक रहे थे। चारों तरफ रत्नमय दर्पण से अंकित होने के कारण मानो अनेक सूर्यों से आश्रित हो, ऐसा दिखाई देता था। द्वारभूमि पर रही हुई रत्नमय अष्टमंगलिकों से सुशोभित था। आकाश में उडती बगुलियों का भ्रम करती श्वेत ध्वजाओं से वह शोभित था। विविध रत्नमय उसकी भूमि थी। संक्षेप में सुधर्मा सभा का अनुज बंधु हो वैसा स्वंयवर मंडप दृष्टिगोचर हो रहा था। उसमें वहाँ पधारे हुए राजवीरों के दृष्टिविनोद के लिए नाटकों का आयोजन किया गया था।

(गा. 182 से 188)

ऐसे सुशोभित मंडप में एक उत्तम मंच के ऊपरआकाश में अधर स्थिति सिंहासन पर कुबेर देवांगनाओं के साथ बैठे। उनके नजदीक माानो उनके युवराज ही न हो वैसे वसुदेव कुमार प्रसन्नता से सुंदर मुखाकृति लिये बैठे थे। दूसरे भी उत्कृष्ट ऋद्धि वाले राजा और विद्याधर लक्ष्मी में एक दूसरे की स्पर्धा करते हो, इस प्रकार अनुक्रम से आकर अन्य मंचों पर स्थित हुए। कुबेर ने अपने नाम से अंकित अर्जुन जाति के सुवर्ण की एक मुद्रिका वसुदेव को दी। वह उसने कनिष्ठिका अंगुली में धारण की। उस मुद्रिका के प्रभाव से वहाँ रहे हुए सर्व जनों को वसुदेव कुबेर की दूसरी मूर्ति हो ऐसे दिखे। उसी समय स्वंयवर मंडप में घोषणा हुई कि अहो! भगवान कुबेर देव दो रूप करके आये लगते हैं।

(गा. 189 से 194)

इधर उसी समय राजपुत्री कनकवती राजहंस के तुल्य मंद गति चलती चलती स्वंयवर मंडप में आई। श्वेत वस्त्रों से सुसज्जित वह चंद्रज्योत्सना की जैसी

दिखाई देती थी। कान में रहे हुए दो कुंडलों से दो चंद्रवाली मेरूगिरी की भूमि हो वैसी लगती थी। अलता से रक्त ऐसे उसके ओष्ठ, पके हुए बिंबफल वाली बिंबिका जैसी लग रही थी। हार से सुशोभित स्तनु प्रदेश झरनों वाली पर्वतभूमि के समान दिखती थी। उसके हाथ में कामदेव के हिंडोले जैसी पुष्पमाला रही हुई थी। उसके आने से मांगल्य दीपिका द्वारा गर्भगृह की जैसी स्वयंवर मंडप शोभायामान हुआ। चंद्र की लेखा शिशिरप्रभा द्वारा जिस प्रकार कुमुद जाति के कमलों को देखती है, वैसे उसको वरने को इच्छित सर्व युवाओं को मिष्ट दृष्टि से अवलोकन किया। परंतु प्रथम चित्रपट में और पश्चात दूत के रूप में वसुदेव को देखा था, उनको इस समूह में देखा नहीं, तब सांयकाल के समय कमलिनी म्लान हो जाती है, वैसे ही उसे खेद से ग्लानि होने लगी।

(गा. 195 से 202)

सखियों के साथ में रही हुई और हाथ में स्वंयवर माला का भार वहन बरने वाली वह बाला पुतली की तरह अस्वस्थ और चेष्टारहित होकर बहुत समय तक खड़ी ही रही। जब उसने किसी का वरण नहीं किया, तब सर्व राजागण क्या अपने में रूप वेश या चेष्टा आदि में कोई दोष होगा? ऐसी शंका में अपने आपको देखने लगे। इतने में एक सखी ने कनकवती को कहा कि हे भद्रे। क्यों अभी भी विलंब करती हो! किसी भी पुरूष के कंठ में स्वंयवर की माला आरोपित करो। कनकवती बोली, जिस पर रूचि हो, उसी का वरण किया जाता है, पर मेरे मंदभाग्य से जो मुझे पसंद था, उस पुरूष को मैं इस मंडप में देखती ही नहीं हूँ। तब वह चिंता करने लगी कि अब मुझे क्या उपाय करना? मेरी क्या गति होगी? मैं अपने द्रष्टि वर को इनमें देखती नहीं हूँ। इसलिए हे हृदय! तू दो भाग में हो जा। इस प्रकार चिंता करती थी कि मैं उस रमणी ने वहाँ कुबेर को देखा। तब उसने प्रणाम करके दीनस्वर में रूदन करते हुए अंजली जोड़ कर इस प्रकार कहने लगी हे देव! मैं तुम्हारी पूर्व भव की पत्नि हूँ, इसलिए तुम इस प्रकार मेरी मजाक मत करो। क्योंकि जिसका मैं वरण करना चाहती हूँ, उस भर्तरि को तुमने अंतर्हित कर दिया लगता है। तब कुबेर ने हास्य करके वसुदेव को कहा– हे महाभाग! मैंने तुमको जो कुबेर कांता नाम की मुद्रिका दी थी वह हाथ में से निकाल दो।

(गा. 203 से 208)

कुबेर की आज्ञा से वसुदेव ने वह मुद्रिका निकाल दी। इसलिए वह नाटक के पात्र के समान अपने स्वरूप को प्राप्त हुए। तब वसुदेव के स्वरूप को पहचान कर, उज्ज्वल दृष्टिवाली वह रमणी मानो उसका हर्ष बाहर आया हो वैसे पुलकांकित हो गई। तत्काल नुपूर का रणकार करती कनकवती ने पास जाकर अपनी भुजलता की भाँति स्वयंवर की माला उसके कंठ में आरोपित की। उस समय कुबेर की आज्ञा से आकाश में दुंदुभिनाद हुआ। अप्सराएँ उत्सुक होकर मांगल्य के सरस गीत गाने लगी। अहो! इन हरिशचंद्र राजा को धन्य है कि जिसकी पुत्री ने जगत्प्रधान पुरूष का वरण किया, ऐसी आकाश वाणी उत्पन्न हुई। कुलांगनाएँ जैसे लाजा धाणी की वृष्टि करती है, उसी प्रकार कुबेर की आज्ञा से देवताओं ने धन आदि वसुधारा की वृष्टि की। पश्चात हर्ष का एकछत्र राज्य बढाते वसुदेव और कनकवती का विवाहोत्सव हुआ।

(गा. 209 से 215)

तब वसुदेव ने कुबेर से पूछा कि तुम यहाँ क्यों आए? उसे जानने का मुझे कौतुक है। ऐसे प्रश्न के उत्तर में जिन्होंने विवाह ककंण बांधा हुआ है, ऐसे वसुदेव को कुबेर ने कहा– हे कुमार! मेरा यहाँ आने का कारण सुनो। इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में अष्टापद गिरी के पास संगर नाम का नगर है। उस नगर में मम्मण नाम का राजा था और उसके वीरमती नाम की रानी थी। एक बार राजा रानी के साथ नगर के बाहर शिकार खेलने के लिए गये। राक्षस के जैसे क्षूद्र आश्य वाले उस राजा ने अपने साथ किसी संघ के साथ आते हुए किसी मनमलिन साधु को देखा। यह मुझे अपशकुन हुआ है मुझे मृगया के उत्सव में विघ्नकारी होगा ऐसा सोचकर उसने यूथ में से हाथी को रोकते हैं, वैसे संघ के साथ आते हुए उन मुनि को रोका। पश्चात शिकार करके आने पर राजा रानी के साथ राजद्वार में वापिस लौटे। और मुनि को बारह घड़ी तक दुखमय स्थिति में रखा। तत्पश्चात उन राज दंपति को दया आने से मुनि को पूछा कि तुम कहाँ से आये हो और कहाँ जा रहे हो? ये कहो! मुनि बोले मैं रोहतक नगरी से अष्टापद गिरी पर स्थित अर्हत बिंब को वंदन करने के लिए संघ के साथ जा रहा था परंतु तुमने मुझे संघ से वियोजित किया, इससे मैं अष्टापद तीर्थ पर जा नहीं सका। परंतु इस धर्मकार्य करते मुझे रोकने से तुमने महान अंतराय कर्म बांधा है। इस प्रकार मुनि के वचनों को सुनकर वह दंपति लघुकर्मी होने से मुनि के साथ वार्ता करते तत्काल दुखस्वप्न की भांति गुस्से को भूल गये। तब

परोपकार बुद्धि वाले उन मुनि उनको आर्द्र हृदय वाले जानकर जीवदया प्रधान श्री अर्हत ने धर्म का उपदेश दिया। तब जन्म से लेकर अब तक धर्म के अक्षरों से जिनके कान किंचित मात्र भी बिंधे नहीं, ऐसे वे दंपती तब से ही कुछ धर्म से अभिमुख हुए। उन्होंने भक्ति पान से भक्तिपूर्वक उन मुनि की वंदना की प्रिय अतिथि के सदृश उनको योग्य सम्मानपूर्वक अच्छे स्थान में निवास कराया और राज स्वभाव द्वारा दूसरे लोगों का कष्ट निवारण करके वे दंपती स्वंय ही निंरतर उन मुनि को सेवावृत करने लगे। कर्म रोग से ऐसे उन दंपती ने धर्म ज्ञानरूप औषधि देकर उनकी संपति लेकर अनेक समय बाद वे मुनि अष्टापद गिरी पर गये। उन मुनि के बहुकाल के संसर्ग से श्रावक के व्रत ग्रहण कर कृपण पुरूष जैसे घन को संभालता है, वैसे ही वे यत्न से व्रतों का पालन करने लगे।

(गा. 216 से 225)

एक बार शासन देवी वीरमती को धर्म में स्थिर करने के लिए अष्टापद गिरी पर ले गई। धर्मिष्ट लोगों को क्या क्या लाभ नहीं होता? अर्थात सब लाभ होता है। वहाँ सुर असुर से पूजित अर्हंत प्रतिमा को देखकर वीरमती इस जन्म में ही मुक्त हो गई हो, ऐसे आनंद को प्राप्त हुई और अष्टापद पर चौबीस अरिहंत प्रभु के बिंबों को वंदन करके विद्याधरी की तरह पुनः अपने नगर में आ गई। पश्चात उस महान तीर्थ के अवलोकन से धर्म में स्थिर बुद्धि धारण करके उसने प्रत्येक तीर्थकर का ध्यान करके बीस बीस आचाम्ल आंबिल किये और भक्ति वाली उस रमणी ने चौबीस प्रभु के रत्न जडित सुवर्णमय तिलक कराये। पुनः एक बार वह वीरमति परिवार के साथ अष्टापदगिरी पर आई। वहाँ उसने चौबीस तीर्थकरों का स्नात्र पूर्वक अर्चन किया और फिर वे अर्हंत प्रभु की प्रतिमाओं के ललाट पर लक्ष्मी रूप लता के पुष्प हों ऐसे पूर्व में निर्मित सुवर्ण के तिलक स्थापित किये। उस तीर्थ पर पधारे हुए चारण श्रमकों को यथायोग्य दान देकर उन्होंने पूर्व में की हुई तपस्या का उद्यापन किया। तब मानो कलार्थ हुई हो, वैसे चित में नृत्य करती हुई बुद्धिमती वीरमती वहाँ से अपने नगर में आई। वे दंपती जो कि शरीर से भिन्न भिन्न थे तथापि मन से धर्म में उद्यत होकर अत्यधिक समय व्यतीत करने लगे। अनुक्रम से आयु स्थिति पूर्ण होने पर समाधि मरण प्राप्त करके वे विवेकी दंपती देवलोक में देवदंपती देव देवी रूप में उत्पन्न हुए।

(गा. 226 से 243)

मम्मण राजा का जीव देवलोक में से च्यवकर इस जंबूदीप के भरतक्षेत्र के बहली नाम के देश में पातनपुर नाम के नगर में धम्मिल नाम के आहिर की स्त्री रेणुकांता के उदर से धन्य नामक पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। वह बहुत पुण्य का पात्र था। वीरमती का जीव देवलोक से च्यव कर उस धन्य की धूसरी नाम की स्त्री हुई। धन्य हमेशा अरण्य में जाकर महिषी भैंसों को चराता था क्योंकि महिषी चराना आहीर लोगों का प्रथम कुलव्रत है। अन्नदा प्रवासियों की वैरी रूप वर्षाऋतु आई। यह मेघा छन्न घारे वर्षा दिन में भी अमावस्या की रात्रि बता रही थी। गहन वृष्टि के द्वारा जिसके आकाश को यंत्रधारा गृह जैसा कर दिया था। जिससे उघत हुए मेंढक के शब्दों से दुर्दर जाति के बाघ का भास होता था। जो हरित घास से पृथ्वी को केशपाशवाली करती थी। वृष्टि के कारण बढी हुई सेवाल द्वारा जिसमें सारी पृथ्वी फिसलनी हो गई थी, जिसमें संचार करते पाथजन के चरण जानु तक कीचड़ से भर जाते थे। और विद्युत के बार बार आर्वतन से अंतरिक्ष में उल्कापात सा दिखाई देता था। इस प्रकार वर्षाऋतु में मेघ बरसता था, उस समय कीचड के संपर्क से हर्ष का नाद करती भैंसों को चराने के लिए धन्य अरण्य में गया। बरसात के जल को निवारे ऐसा छत्र सिर पर रख कर भैंसो को यूथ को अनुसरना धन्य अटवी में पर्यटन करने लगा।

(गा. 244 से 253)

इस प्रकार परिभ्रमण करते हुए एक पैर पर खड़े काउसग्ग ध्यान में निश्चल एक मुनि धन्य को दिखाई दिया। वे मुनि उपवास से कृश हो गये थे। वनहस्ती की तरह वृष्टि को सहन कर रहे थे और पवन से हिलाए हुए वृक्ष की तरह उनका सर्व अंग शीत की पीड़ा से काँप रहा था। इस प्रकार परीषह को सहन करते उन मुनि को देख धन्य को दया आ गई। फलस्वरूप शीघ्र ही उसने अपनी छत्री उनके मस्तक पर रख दी। जब घन्य ने अनन्य भक्ति से उनके ऊपरछत्री धरी तब बस्ती में रहते हों, ऐसे उन मुनि का वृष्टि कष्ट दूर हो गया। दुर्मद मनुष्य जैसे मदिरा पान से निवृत्त नहीं होता उसी प्रकार मेघ बरसने से किंचित मात्र भी निवृत्त नहीं हुआ तथापि वह श्रद्धालु धन्य छत्री धर रखने से उस पर कुपित नहीं हुआ। पश्चात् महामुनि वृष्टि में करे हुए ध्यान से जब निवृत्त हुए तब मेघ भी क्रमयोग से वृष्टि से निवृत हुए। पश्चात् धन्य ने उन मुनि को प्रणाम करके चरण संवाहना अंजलिबद्ध होकर पूछा – हे महर्षि इस समय

विषम ऐसा वर्षा का समय बीत रहा है, पृथ्वी भी कीचड़ के कारण पीड़ाकारी हो गई है। ऐसे समय में प्रवास व मार्ग से अनजान आप यहाँ कहाँ आ पहुँचे ? मुनि बोले भद्र! मै। पांडु देश से यहाँ आया हूं और गुरू महाराज के चरणों से पवित्र लंका नगरी में जाना है। मुझे वहाँ जाते हुए यहाँ अंतरायकारी वर्षाऋतु आ गई और धारधार मेघ ने अखंड धारा से बरसना प्रारंभ किया। मेघ बरसता हो तब महर्षियों को गमन करना अयुक्त होता है अतः वृष्टि का अंत आवे तब तक का अभिग्रह लेकर कायोत्सर्ग करके मैं यहाँ रहा था। हे महात्मन्! आज सातवें दिन वृष्टि ने विराम लिया, अतः मेरा अभिग्रह पूर्ण होने पर अब मैं किसी भी निवास स्थान पर चला जाऊँगा। हर्षित होकर धन्य बोला– हे महर्षि। यह मेरा पाड़ा है इसके ऊपरशिबिका की तरह चढ कर बैठ जाइये कारण कि यह भूमि कीचड वाली है इस पर चलना कष्ट साध्य है यह ऐसी ही हो गई है। मुनि बोले– हे भद्र! महर्षिगण किसी भी जीव पर आरोहण नहीं करते हैं। दूसरे को पीड़ा हो, ऐसा कर्म का वे कभी भी आचरण नहीं करते है। मुनि तो पदचारी ही होते हैं।

(गा. 254 से 267)

ऐसा कहकर वे मुनि धन्य के साथ नगर की ओर चल दिये। नगर में पहुँचने के बाद धन्य मुनि को नमन करके अंजलि बद्ध कर बोला महात्मन! जब तक भैंसों को दुहकर आँऊ तब तक आप मेरी यहाँ पर राह देखें। ऐसा कहकर अपने घर जाकर भैंसों को दुहकर एक दूध का घड़ा भरकर ले आया। अपनी आत्मा को अतिधन्य मानता हुआ उस धन्य ने उस दूध से अति हर्ष से उन मुनि को पुण्य के कारणभूत पारणा कराया। उन महर्षि ने नगर में रहकर वर्षाऋतु व्यतीत की। ईर्याशुद्धि द्वारा उचित ऐसे मार्ग पर चलते हुए वे मुनि अपने योग्य स्थान पर चले गये।

(गा. 268 से 272)

धन्य ने पाषाण रेखा जैसा स्थिर समकित धारण करके अपनी स्त्री घुसरी के साथ चिरकाल तक श्रावक व्रत का पालन किया। कुछ समय पश्चात धन्य और उसे धूसरी चारित्र ग्रहण किया। सात वर्ष तक उसकी प्रतिपालना करने के पश्चात समाधि पूर्वक उनकी मृत्यु हुई। मुनि को दूध का दान करने से उपार्जित पुण्य के द्वारा वे दोनों किसी लेश्या विशेष से हिमवंत क्षेत्र में युगलिक रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से आर्त और रौद्र ध्यान बिना मृत्यु प्राप्त कर वे क्षीरडिंडीर और

क्षीरडिंडीरा नामक दांपत्य रूप से शोभित देवी देवता हुए। वहाँ से च्यवकर क्षीरडिंडीर देवता इस भरत क्षेत्र में कोशल नाम के देश में कोशला नगरी में ईक्ष्वांकु कुल में जन्मे निषध राजा की सुंदरी रानी की कुक्षि से नल नामका पुत्र हुआ। उस राजा के दूसरा कुबेर नाम का उसका छोटा पुत्र हुआ।

(गा. 273 से 278)

यहीं पर ही विदर्भ देश में कुंडिन नाम के नगर में भयंकर पराक्रम वाले भीमरथ नाम के राजा थे। अपनी अति श्रेष्ठ रूप संपति से स्वर्ग की स्त्रियों को भी लज्जित करने वाली पुष्पदंती नाम की एक निष्कपटी रानी थी। धर्म और अर्थ के विरोध बिना काम पुरूषार्थ को साधता वह राजा उसके साथ निर्विघ्न रूप से सुखभोग करता था। किसी समय शुभ समय में क्षीरडिंडीरा देवलोक में से च्यवकर पुष्पदंती रानी के उदर में पुत्री रूप से उत्पन्न हुई। उस समय मनोहर शय्या में सुख रूप से सोई रानी ने रात्रि को अवसान में शुभस्वप्न देखकर राजा को कहा कि हे स्वामिन! आज रात्रि को सुख रूप से सोते हुए स्वप्न में वनाग्नि से प्रेरित एक श्वेत हस्ति को आपके यश समूह जैसा उज्ज्वल अपने घर में आते हुए मैंने देखा।

(गा. 279 से 284)

इस प्रकार सुनकर सर्व शास्त्र रूप सागर के पारगामी ऐसे राजा ने उनको कहा कि हे देवी। इस स्वप्न से ऐसा ज्ञात होता है कि कोई पुण्यात्मा आज तुम्हारे गर्भ में आकर स्थित हुआ है। इस प्रकार राजा रानी बात करते थे कि इतने में मानो देवलोक से च्यवकर ऐरावत हाथी आया हो, ऐसी कोई श्वेतहरित वहाँ आया। राजा के पुण्य से प्रेरित हो उस हाथी ने तत्काल राजा को रानी साहित अपने कंधे पर चढा लिया। और नगरजनों ने पुष्पमालादिक से पूजित वह हाथी पूरे नगर में घूमकर वापिस महल के पास आया। वहाँ उन राजदंपती को उतारा। तब वह गजेंद्र अपने आप बंधनस्थान मे आकर खड़ा रहा। उस समय देवताओं ने रत्न और पुष्पों की वृष्टि की। राजा ने सुगंधी यक्षकर्दम से उस हाथी के पूरे शरीर पर विलेपन करके, उत्तम पुरूषों से अर्चन करके उसकी आरती उतारी।

(गा. 285 से 290)

गर्भकाल पूर्ण होने पर व्यतिपात प्रमुख योग से अदूषित ऐसे दिन में मेघमाला जैसे विद्युत को जन्म देती है, उसी प्रकार रानी ने एक कन्या रत्न को

जन्म दिया। महापुरूष के वक्षःस्थल में श्रीवत्सव की चिह्न के सदृश उस कन्या के मस्तक पर सूर्य के जैसा तेजस्वी तिलक जन्म के साथ ही सहज प्रकट हुआ था। वह कन्या स्वभाव से ही तेजस्वी थी, परंतु उस तिलक से सुवर्ण की मुद्रिका जिस प्रकार उस पर जड़े हुए रत्न से चमके जैसे वह विशेष चमकती थी। उस पुत्री के जन्म के प्रभाव से अतुल पराक्रमी भीमरथ राजा के उग्र शासन को अनेक राजा मस्तक पर धारण करने लगे। जब वह कन्या उदर में थी, तब रानी ने दावानल से भय पाकर आए हुए एक श्वेत दंती को देखा। इससे कुंडिन पति ने मास पूर्ण होने पर उस कन्या का दवदंती नाम रखा। जो नाम सर्वत्र हर्ष संपति के निधान तुल्य हो गया। जिनके मुख के सुंगधित निःश्वास पर भ्रमरों की श्रेणी भ्रमण कर रही है, ऐसी वह बाला दिनोंदिन बढती हुई छोटे छोटे कदमों से चलने लगी। जिसका मुखकमल सुंदर है ऐसी वह बाला एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर भ्रमरी जाती है वैसे अपनी संपन्न सौतेली माताओं के एक हाथ से दूसरे हाथ पर संचार करने लगी। अंगुष्ठ और मध्य अंगुली की चुटकी के नाद से ताल देती और मुख से बाजा बजाती धायमाताएं उसे पग पग पर घूम घूम कर रमाती खेलाती थी। झंकार करते नुपूरों द्वारा मंडित यह बाला अनुक्रम से डग भरती हुई चलती थी और मूर्तिमान लक्ष्मी जैसी यह राजपुत्री गृहांगण को शोभा देती हुई क्रीड़ा रमती रहती थी। इसी प्रकार उसके प्रभाव से राजा को सर्व निधियां प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुई।

(गा. 291 से 301)

जब उस कन्या को आठवां वर्ष शुरू हुआ, तब राजा ने कलाएं ग्रहण करने के लिए उसे एक उत्तम कलाचार्य को सौंपा। उत्तम बुद्धिमान बाला के लिए वे उपाय तो मात्र साक्षी रूप हुए। बाकी तो दर्पण में प्रतिबिंब की भांति उसमें सर्वकलाएं स्वतः प्राप्त हो गई। यह बुद्धिमती राजकन्या कर्मप्रकृत्यादिक में ऐसी पंडिता हुई कि उसके समक्ष कोई स्याद्वाद का आक्षेप करने वाला भी नहीं हुआ। सरस्वती के सदृश कला रूप सागर पारंगत उस कन्या को उसके गुरू राजा के पास ले आए। गुरू की आज्ञा से सदगुण रूप उद्यान में एक दृष्टांत जैसे तुस की कन्या ने अपना सर्व कलाकौशल अपने पिताजी को उत्तम रीति से बताया। साथ ही उसने पिता जी के सन्मुख अपने श्रुतार्थ का प्रावीण्य ऐसा बताया कि जिससे वह राजा सम्यग्दर्शन का प्रथम उदाहरण रूप हुआ न राजा ने एक लाख एक सुवर्ण मोहरों से अपनी पुत्री के कालकाचार्य की पूजा करके उनको विदा किया। दवदंती के पुण्य के अतिशय से निवृत्ति नाम की शासनदेवी ने साक्षात आकर

एक सुवर्ण की अर्हत प्रतिमा उसको अर्पण की। पश्चात् वह शासन देवी बोली हे वत्से! ये भावी तीर्थकर श्री शांतिनाथ जी की प्रतिमा है तुमको इनकी अहर्निश पूजा करनी है। इस प्रकार कहकर देवी अंतर्ध्यान हो गई। दवदंती प्रफुल्लित नेत्र से प्रतिमा को वंदन करके अपने गृह में ले गई।

(गा. 302 से 311)

सुंदर दांत वाली दवदंती अपनी समान वय की सखियों के साथ क्रीड़ा करते हुई लावण्यज की जलगृह समान पवित्र यौवनावस्था को प्राप्त हुई। राजा और रानी उसे पूर्ण यौवनवती हुई देखकर उसका विवाहोत्सव देखने को उत्सुक हुए परंतु उसके अनेक सदगुणों के योग्य वर की चिंता से हृदय में शाल पीडित जैसे अति दुखित दिखाई देने लगे। अनुक्रम से दवदंती अट्ठारह वर्ष की हुई, परंतु उसके पिता उसके योग्य कोई श्रेष्ठ वर को प्राप्त न कर सके। उन्होंने विचार किया कि अति प्रौढ हुई विचक्षण कन्या का स्वंयवर करना ही युक्त है, अतः उन्होंने राजाओं के आंमत्रण करने के लिए दूतों को आदेश दिया। उनके आमंत्रण से अनेक राजा और युवा राजपुत्र अति समृद्धि द्वारा परस्पर स्पर्धा करते हुए शीघ्र ही वहाँ आये।

(गा. 312 से 317)

आए हुए राजाओं के एकत्रित हुए गजेंद्रों से कुंडिनपुर की प्रात भूमि विंध्याद्रि की तलहटी की भूमि जैसी दिखाई देने लगी। कोशलपति निषध राजा भी नल और कूबर दोनों राजकुमारों को लेकर वहाँ आये। कुंडिनपति महाराजा ने सर्व राजाओं का अभिगमन पूर्वक स्वागत किया। घर पधारें अतिथियों के लिए वैसा ही करना योग्य है। विपुल समृद्धि द्वारा मानो पालक विमान का अनुज हो वैसा स्वयंवर मंडप भीमरथ राजा ने रचाया। उस मंडप में विमान जैसे सुंदर मंच स्थापित किये और उन प्रत्येक मंच के ऊपर मनोहर स्वर्णमय सिंहासन रखवाये। तब समृद्धि द्वारा मानो एक दूसरे से स्पर्धा करते राजा गण स्वंयवर के दिन अलंकार और वस्त्रों को धारण करके मानो इंद्र के समानिक देवता हों, इस प्रकार स्वंयर मंडप में आए। सर्व नृपगण शरीर की शोभा का विस्तार करते हुए मंच पर विराजमान हुए और विविध प्रकार की चेष्टाओं से अपना चातुर्य स्पष्ट बताने लगे। कोई जवान राजा उत्तरीय वस्त्र का योगपट करके अपने करों के द्वारा चलित पत्रों से मनोहर ऐसे नीलकमल को घुमाने लगे, तो कोई कामदेव की

कीर्तिराशि की निर्मल वर्णिका की भांति भ्रमर की तरह मल्लिका के सुगंधी पुष्पों को सूंघने लगे। कोई युवा राज कुमार जैसे आकाश में दूसरे मृगांकमंडल को रचने को इच्छुक हो वैसे स्वहस्तों से पुष्पों के गुच्छों की गेंद उछालने लगे। कोई युवा नरेश क्षण क्षण में अंगुलियों के द्वारा गहन कस्तूरी से पंकिल ऐसी अपनी दाढी मूंछ का स्पर्श करने लगे, कोई कोई युवा मुद्रिकाओं की मणियों से प्रकाशित ऐसे दृढ़ मुष्टि वाले हाथ से दांत की मूठ मुष्ठी में पकड कर छोटी तलवारों को नचाने लगे, उदार बुद्धि वाले कोई चतुर नृपकुमार केतकी के पत्र को तोड़ तोड़कर कमला के कमल जैसे सुंदर कमल गूंथने लगे और कोई आंवले के जैसे स्थूल मुक्ताफल के कंठ में पहने हुए द्वारों को हाथ द्वारा बारंबार स्पर्श करने लगे।

(गा. 318 से 335)

देवालय में देवी शोभित हो वैसे उस मंडप को शोभित करती राजकुमारी दवदंती पिता की आज्ञा से वहाँ आई। मुक्तामणि के अलंकारों से उसके सर्व अवयव अंलकृत थे फलतः वह प्रफुल्लित मल्लिका जैसी दृष्टिगत हो रही थी। बहती हुई नौका के जलतरंग जैसी उसके कुटिल केश की वेणी शोभित थी। सूर्य के युवराज सा सुंदर तिलक ललाट पर धारण किये हुए थी। उसके केश काजल जैसे श्याम थे। स्तन मंडल उतंग थे। उसने कदली के गर्भत्वचा जैसे मृदु वस्त्र पहने हुए थे। सर्व अंग स्वच्छ श्रीचंदन के विलेपन से युक्त थे। उसके लोचन विशाल थे। ऐसी दवदंती को देखते ही सर्व राजाओं के नेत्र एक ही साथ उस पर पडें। तब राजा भीमराज की आज्ञा से अंतःपुर की चतुर प्रतिहारी ने प्रत्येक राजा का नाम ले लेकर दवदंती को परिचय कराया। हे देवी! यह जितशत्रु राजा का पुत्र ऋतुपर्ण राजा शिशुकुमार नगर से पधारे हैं, इन पर दृष्टि करो। ये इक्ष्वाकु वंश में तिलक रूप गुणरत्न के भंडार चंद्रराजा के चंद्रराज हैं उनका क्यों नहीं वरण करना चाहती ? ये चंपानगरी के राजा धरणेंद्र के पुत्र भोगवंश में उत्पन्न हुए सुबाहु हैं उनका वरण करो कि जिससे तुम गंगानदी के जल कण वाले पवन से बित्ति हो जाओगी। यह रोहितक नगर के स्वामी पवित्र चंद्रशेखर हैं, वे बत्तीस लाख गांव के अधिपति हैं, क्या ये तुमको रूचते हैं ? यह जयकेशरी राजा के पुत्र शशिलक्ष्मा है जो मूर्तिमंत कामदेव सा है, वे क्या तुम्हारे मन को आकर्षित नहीं करते ? हे महेच्छा! यह रविकुल मंडन जहन का पुत्र याज्ञदेव है

वह भृगुकच्छ नगर का अधिपति है, उन पर इच्छा होती है? हे पतिंवशः! ये भरतकुल में मुकुट तुल्य मानव र्धन राजा है इन विश्वविख्यात राजा को पति के रूप में पसंद करो। ये कुसुमायुध का पुत्र मुकुटेश्वर है चंद्र को रोहिणी की भांति तू इनकी पत्नि होने योग्य है। ये ऋषभ स्वामी के कुल में हुए कौशल देश के राजा निषध है, जो शत्रुओं का निषेध करने वाले एवं प्रख्यात है। यह उनका बलवान कुमार नल नाम का है अथवा उनका अनुज बंधु यह कुबेर है वह तुम्हारे अभिमत होओ। उस समय कृष्ण को लक्ष्मी के सदृश तत्काल दवदंती ने नल के कंठ में स्वंयवर की माला आरोपित कर दी। उस समय अहो! दवदंती ने योग्य वर का वरण किया, योग्य वर का वरण किया इस प्रकार आकाश में खेचरों की वाणी प्रकट हुई।

(गा. 336 से 349)

इतने में मानो धूमकेतु हो ऐसा कृष्ण राजकुमार खड़ग खींचकर तत्काल खडा हो गया और उसने इस प्रकार नल पर आक्षेप किया, अरे मूढ! इस दवदंती ने तेरे गले में स्वयंवर माला वृथा ही डाली है, क्योंकि मेरे होने पर दूसरा कोई भी तुझसे विवाह करने में समर्थ नहीं है। इसलिए तू इस भीमराज की कन्या को छोड़ दे अथवा हथियार लेकर सामने आ, इस कृष्ण राज को जीते बिना तू किस तरह कृतार्थ होगा? ऐसे उसके वचन सुनकर नल हंसता हुआ बोला – अरे अधम क्षत्रिय। तुझे दवदंती ने वरण नहीं किया, अतः तू क्यों फालतु में दुखी होता है? दवदंती ने मुझको वरा है इसलिए वह तेरी तो परस्त्री हुई, इस पर भी तू इसकी अनाधिकारिक इच्छा करता है तो अब तू जिंदा रहने वाला नहीं है। इस प्रकार कहकर अग्नि जैसा असह्य तेजवाला, साथ ही क्रोध से अधरों को कंपित करता हुआ नल खडग का हस्त साधता करके उसे नचाने लगा। तब नल और कृष्ण राज दोनों का सैन्य मर्म भेदी आयुध ले लेकर युद्धार्थ तैयार हो गया। उस समय दवदंती विचारने लगी कि अरे! मुझे धिक्कार है, कि मेरे लिए ही यह प्रलयकाल हो गया। अरे क्या मैं क्षीण पुण्यवाली हूँ? हे माता शासन देवी! यदि मैं वास्तव में अरिहंत परमात्मा की भक्त होउँ, तो इन दोनों सैन्य का क्षेमकुशल होना और नल राजा का विजय होना चाहिए। ऐसा कहकर उसने पानी की झारी से पानी लेकर उस जल की तीन अंजलि भर के अनर्थ की शांति के लिए दोनों ही सैन्य पर छिड़का। उसमें से कुछ छींटे कृष्ण राज के मस्तक पर भी पड़े। उन छीटों के

गिरते ही तुंरत वह बुझे हुए अंगारे जैसा निस्तेज हो गया। शासन देवी के प्रभाव से वृक्ष पर से पत्ता जैसे झड़ जाता है वैसे कृष्ण राज के हाथ में से खड्ग गिर पड़ा। उस समय निर्विष हुए कृष्ण सर्प के सदृश हत प्रभाव हुआ कृष्ण राज ने सोचा कि, यह नल राजा सामान्य पुरूष नहीं लगता उसके साथ जो मैंने भाषण दिया वह बिना कुछ सोचे समझे कर लिया इसलिए नल राजा तो प्रणाम करने योग्य हैं। इस प्रकार विचार करके कृष्ण राज ने आए हुए दूत की भांति नल के पास जाकर उनको प्रणाम किया। तब मस्तक पर अंजलि बद्ध होकर वह बोला– हे स्वामिन्! मैंने यह अविश्वासी कार्य किया है अतः मुझ मूर्ख का अपराध क्षमा करो। प्रणम हुए कृष्ण राज को नल ने अच्छी तरह बोल कर विदा किया। भीमरथ राजा अपने जमाता के इस प्रकार के गुण देखकर अपनी पुत्री को पुण्यशाली मानने लगा।

(गा. 350 से 365)

आगंतुक सभी राजाओं को सत्कार पूर्वक विदा करके भीमराज राजा ने नल और दवदंती का विवाहोत्सव किया। नलराजा के विवाहोत्सव में भीमराजा ने हस्तमोचन के अवसर पर अपने वैभव के अनुसार हाथी घोड़े आदि विपुल समृद्धि भेंट की। तत्पश्चात् कंकणबद्ध नवीन वरवधू गोत्र की वृद्ध स्त्रियों के मंगलगीत के साथ गृहचैत्य में आकर देववंदन किया। राजा भीमरथ तथा निषधराज ने बडे उत्सव से उनका कंकण मोचन कराया। भक्ति वाले भीमरथ ने पुत्र सहित निषध राजा को सत्कार करके विदा किया और स्वंय भी कुछ दूर तक विदा करने गये। लोगों में ऐसी मर्यादा होती है। पति के संग जाती हुई दवदंती को माता ने शिक्षा देते हुए कहा, हे पुत्री। आपत्ति आए तो भी दवदंती देह की छाया की भांति पति का त्याग नहीं करना। माता पिता की आज्ञा लेकर दवदंती रथ में बैठी, तब नल ने उसे अपने उत्संग में बिठाया।

(गा. 366 से 372)

कौशल देश के राजा निषध ने कौशला नगरी की ओंर प्रयाण किया। उस समय उनके गजेंद्रों के सघन मद द्वारा सर्व पृथ्वी का कस्तूरी की तरह सिंचन होने लगा। घोड़ों के नाल से उखडी पृथ्वी कांसी के ताल के समान शब्द करने लगी। रथों के पहियों की रेखाओं से सर्व मार्ग चित्रित हो गए। परस्पर सघन पायदल के गमन से सर्व पृथ्वी ढंक गई ऊँटों ने मार्ग के वृक्षों को पत्र रहित कर

दिया। सैन्य के किए हुए जलपान से जलाशयों में कीचड़ ही शेष रह गया। सैन्य के चलने से आच्छादित उड़ी रज से आकाश में भी दूसरी पृथ्वी हो गई। इस प्रकार चलते हुए निषधराज को मार्ग में ही रवि अस्त हो गया। तब जल से बिल की तरह अंधकार से सूंपर्ण ब्रह्माण्ड व्याप्त हो गया। ऐसा होने पर भी अपनी नगरों के दर्शन में उत्कंठित ऐसा निषधराज आगे चलने से रूका नहीं, क्योंकि अपने नगर में पहुंचने की प्रबल उत्कंठा किसे नहीं होती ? तब अंधकार का एक धन राज्य हो गया सब स्थल जल गर्त या वृक्ष आदि सर्व अदृश्य हो गए। अंधकार से दृष्टि का रोध होने पर चतुरिन्द्रिय प्राणी जैसा हुआ अपने सैन्य को देखकर नलकुमार ने उत्संग में सोई दवदंती को कहा देवी! क्षणभर के लिए जागो। यशस्वीनी अंधकार से पीडित ऐसे इस सैन्य पर तुम्हारे तिलक रूपी सूर्य को प्रकाशित करो। जब दवदंती ने उठकर तिलक का मार्जन किया तब अंधकार रूप सर्प में गरूड़ जैसा वह तिलक अत्यंत प्रदीप्त होकर चमकने लगा। जब सर्व सैन्य निर्विघ्न चलने लगा। प्रकाश के अभाव में लोग जीवित भी मृतवत रहे।

(गा. 373 से 383)

आगे जाने पर परमखंड की तरह भ्रमरों को आस पास से आस्वादन कराते एक प्रतिमाधारी मुनि नल राजा को दिखाई दिए। उनको देख नलकुमार ने पिता श्री से कहा– स्वामिन! इन महर्षि को देखो और उनको वंदन करके मार्ग का प्रासंगिक फल प्राप्त करो। कायोत्सर्ग में स्थित इन मुनि के शरीर के साथ कोई मदधारी गजेंद्र ने गंडस्थल को खुजालने की इच्छा से वृक्ष की तरह घर्षण किया है। उसके गंडस्थल को अत्यंत घिसने से इन मुनि के शरीर में उसके मद की सुंगध प्रसरी हुई है फलतः ये भ्रमर उनको डंक दे रहे हैं। तथापि मुनि इस परीषह को सहन कर रहे हैं। स्थिर पादवाले पर्वत की भांति इन महात्मा को वह उन्मत हाथी भी ध्यान से विचलित कर सका नहीं, ऐसे महामुनि मार्ग में अपने को बड़े पुण्ययोग से ही दृष्टिगत हुए हैं। यह सुनकर निषधराज को श्रद्धा उत्पन्न हुई, जिससे पुत्र और परिवार सहित प्राप्त हुए उत्तम तीर्थ की तरह उन मुनि की सेवा करने लगे। निषध राजा स्त्री सहित नल कुबेर और अन्य सभी उनको नमन करके स्तवना करके और मद के उपद्रव रहित आगे चले। अनुक्रम से कोशला नगरी के परिसर में आए तब नल ने दवदंती को कहा, देवी। देखो यह जिनचैत्यों से मंडित हमारी राजधानी आ गई। दवदंती मेघ दर्शन से मयूरी की तरह उन

चैत्यों के दर्शन के लिए अति उत्कंठित हो गई। उसने कहा कि धन्य हूँ, मैं जो मैंने नलराजा को पति रूप में प्राप्त किया है, अब उनकी राजधानी में रहे हुए इन जिन चैत्यों की मैं प्रतिदिन वंदना करूँगी।

(गा. 384 से 393)

निषधराज ने तोरणादिक से सर्वत्र मंगला चार हो रहे थे, ऐसी अपनी नगरी में शुभ दिन में प्रवेश किया। वहाँ रहकर नल और दवदंती स्वेच्छा से विहार करने लगे। वे कभी हंस हंसी की तरह जल क्रीडा करते थे, तो कभी परस्पर एक एक की भुजा के द्वारा हृदय को दबा कर हिंडोले के सुख को अनुभव करते थे। कभी गूंथे हुए अत्यंत सुगंधित पुष्पों से एक दूसरे के केशपाश को विचित्र रीति से गूंथते थे। तो कभी बंधमोक्ष में चतुर और गंभीर हृदय वाले वे अनाकुलित रूप से अक्षधूत पासे खेलते थे। कभी अतोद्य और तंतीवाद्य को अनुक्रम से बजाकर नलकुमार एकांत में दवदंती को नृत्य कराता था। इस प्रकार नल और दवदंती अहर्निहश अवियुक्त होकर नव नव क्रीड़ाओं द्वारा समय व्यतीत करते थे।

(गा. 394 से 400)

किसी समय निषधराज ने नल को राज्य पर और कूबेर युवराज पद पर स्थापित करके व्रत ग्रहण किया। नलराजा प्रजा का प्रजावत पालन करने लगे। सर्वदा प्रजा के सुख में सुखी और प्रजा के दुख में दुखी रहने लगे। बुद्धि और पराक्रम से संपन्न और शत्रु रहित नलराज को भुजपराक्रम से विजय पाने में कोई भी भूपति समर्थ नहीं हुआ। एक बार नलराजा ने अपने क्रमागत सामंतावादियों को बुलाकर पूछा कि मैं पित्रोपार्जित भूमि पर ही राज्य कर रहा हूँ, परंतु मैं इससे भी और अधिक राज्य का विस्तार करूँ, वह कहो कैसे हो? वे बोले– आपके पिता निषधराज ने तो तीसरे अंश से कम ऐसे इस भरतार्ध को भोगा है और आप तो संपूर्ण भरतार्ध को भोग रहे हो इससे पिता से पुत्र सवाया हो वह युक्ति ही है। परंतु आपको यह भी जानकारी देते हैं कि यहाँ से दौ सो योजनाधिक तक्षशिला नाम की नगरी है, उसमें कदंब नाम का राजा है वह आपकी आज्ञा को मानता नहीं है। अर्ध भरत के विजय से उत्पन्न हुए तुम्हारे यश रूप चंद्रमा में वह एक दुर्विनीत राजा मात्र कलंकभूत है।

(गा. 401 से 407)

आपने अंशमात्र व्याधि की तरह प्रमाद से उसकी उपेक्षा की जिससे वह राजा अभी शक्ति में बढ जाने से कष्ट साध्य हो गया है। परंतु हे महाबाहो। आपने उस पर रोष से कठोर मन किया है तो वह पर्वत पर से पड़े हुए घड़े की तरह अवश्य विदीर्ण ही हो गया है, यह संशय रहित हमारा मानना है। इसलिए प्रथम तो दूत भेजकर उसे जानकारी दें तब प्राणिपात में या दंड में उसकी जो इच्छा होगी वह जान जायेंगे। इस प्रकार सामंतों के वचन से नलराजा ने दृढ़ता में महागिरी ऐसे एक दूत को समझाकर एक बड़े सैन्य के साथ वहाँ भेजा। गरुड़ जैसा दुर्धर वह दूत त्वरित गति से वहाँ पहुँचा और अपने स्वामी को न लजावे वैसे उसने कदंब राजा को कहा कि हे राजेंद्र। शत्रुरूप वन में दावानल जैसे मेरे स्वामी नलराजा की सेवा करो, और वृद्धि को प्राप्त करो। आपकी कुलदेवी से अधिष्ठित हुए की तरह मैं तुमको हितवचन कहता हूँ कि आप नलराजा की सेवा करो, विचारो जरा भी घबराओ नहीं। दूत के ऐसे वचन सुनकर चंद्रकला को राहू के जैसे दंताग्र से होंठ को डंसता कदंब अपने को भूलकर स्वंय की स्थिति को देखे बिना ही इस प्रकार बोला अरे दूत! क्या नलराजा मूर्ख है, उन्मत्त है या वात से सुप्त हैं कि जो शत्रु रूपी मृत्यु में वराह जैसा मुझे बिल्कुल नहीं जानता? अरे दूत। क्या तेरे राज्य में कोई कुलमत्री भी नहीं है कि जो इस प्रकार मेरा तिरस्कार करते हुए खड्ग को रोका भी नहीं, हे दूत! तू शीघ्र ही जा, यदि तेरा स्वामी राज्य से उदासीन हो गया हो तो ठीक, अन्यथा वो युद्ध करने को तैयार हो जाय, मैं भी उसके रण का अतिथि होने को तैयार हूँ। दूत वहाँ से निकल कर नलराजा के पास आकर उसके अहंकारी वचन बलवान नलराजा को कह सुनाये। महत अंहकार के पर्वतरूप तक्षशिला के राजा कदंब पर नलराजा ने विशांत आडंबर से चढाई की। पराक्रमी हाथियों द्वारा जैसे दूसरी किलेवाली तक्षशिला नगरी हो, उसको अपनी सेना से घेर लिया। यह देखकर कदंब राजा भी तैयार होकर बड़े सैन्य के साथ बाहर निकला। केशरीसिंह गुफाद्वार के पास किसी का गमनागमन सहन नहीं कर सकता।

(गा. 408 से 422)

क्रोध से अरूण नेत्र करते प्रचंड तेजवाले योद्धा बाणाबाणी युद्ध से आकाश में मंडप बनाते परस्पर युद्ध करने लगे। यह देखकर नल ने कदंब राजा को कहा अरे! इन हाथी आदि को मारने की क्या जरूरत है? हम दोनों परस्पर

शत्रु हैं तो हम ही द्वंद्व युद्ध कर लें। तब नल और कदंब मानो दो जंगम पर्वत हों, वैसे भुजा युद्ध आदि द्वंद्व युद्ध से युद्ध करने लगे। गर्वांध कदंब नल के पास जो जो युद्ध की मांग की, उन सभी युद्धों मे विजयी नल ने उसको हरा दिया। उस समय कदंब ने विचार किया कि इस महापराक्रमी नलराजा के साथ मैंने क्षात्रव्रत बराबर तोल लिया, उसने मुझे मृत्यु की कोटि को प्राप्त करा दिया है। अतः पतंग की तरह उसके पराक्रमरूपी अग्नि में पड़कर किसलिए भर जाना? इससे तो यहाँ से पलायन करके व्रत ग्रहण कर लूँ। यदि परिणाम निर्मल आता हो तो पलायन करना भी श्रेष्ठ है। मन में ऐसा विचार करके कदंब ने वहाँ से पलायन करके विरक्त हो व्रत ग्रहण कर लिया, और प्रतिमा में रहे। कदंब व्रतधारी देखकर नल ने कहा कि, यहाँ तो मैं तुमको जीत गया हूँ परंतु अब दूसरी पृथ्वी मे मुनिरूप में आसक्त होकर तुम क्षमा को छोड़ना मत क्योंकि आप विजय के इच्छुक हो। महाव्रतधारी और धीरवान कदंब मुनि ने नल राजा को कुछ भी उत्तर नहीं दिया क्योंकि निस्पृह को राजा का भी क्या काम है? इससे नल ने कदंबमुनि की प्रशंसा की और उनके सत्व से प्रसन्न होकर सिर हिलाया, और उसके पुत्र जयशक्ति को उसके राज्य पर बिठाया। पश्चात सभी राजाओं ने मिलकर वसुदेव की तरह सब राजाओं को जीतने वाले नलराजा को भरतार्दाधिपति रूप से अभिषेक किया। वहाँ से कोशल के अधिपति कोशल नगरी में आए। वहाँ भक्तिकुशल सब राजाओं ने आकर उनको भेंट दी। खेचरों की स्त्रियाँ भी जिनके बल का गुणगान करती हैं, ऐसा नलराजा दवदंती के साथ क्रीड़ा करता हुआ चिरकाल तक पृथ्वी पर शासन करने लगा।

(गा. 423 से 435)

उनका अनुज बंधु कूबेर जो कि कुल में अंगारे जैसा और राज्यलुब्ध था, वह सत्पात्र के छिद्र की जैसे डाकण देखती है वैसे ही नलराजा के छिद्र को शोधने लगा। नलराजा सदा न्यायवान थे तथापि उसे द्यूत खेलने में विशेष आसक्ति थी। चंद्र में भी कलंक है किसी भी स्थान पर रत्न निष्कलंक होते ही नहीं। मैं इस नल के पास से सर्व पृथ्वी द्यूत खेलकर जीत लूँ, ऐसे दुष्ट आशय से वह कूबेर हमेशा पासे से नल से खेलता रहता था। वे दोनों पास से बहुत काल तक खेलते रहे। उसमें डमरूक मणि की तरह एक दूसरे की जीत हुआ करती।

(गा. 436 से 439)

एक बार नलराजा जो द्यूत क्रीडा में बंध मोक्ष करने में चतुर था, फिर भी देवदोष से कुबेर को जीतने में समर्थ नहीं हो सका। नल ने अपना ही पासा अनुकूल होगा सोचा था, वे भी विपरीत पडने लगे। और कुबेर बारंबार गोटियाँ मारने लगा। नलराजा शनैः शनैः गाँव, कर्वट और कृषक कस्बे आदि द्यूत में हार गया और ग्रीष्मकाल में जल द्वारा सरोवर की तरह लक्ष्मी से हीन होने लगा। इतनी हानि होने पर भी नल ने द्यूतक्रीड़ा छोड़ी नहीं, तब सभी लोग खेद करने लगे और कुबेर अपनी इच्छा पूर्व होने से हर्षित होने लगा। सब लोग नल के अनुयायी थे जिससे वे सब हाहाकार करने लगे। यह हाहाकार सुनकर दवदंती भी वहाँ आई। उसने नल को कहा, हे नाथ! मैं आपको प्रार्थना करके कहती हूँ कि मुझ पर प्रसन्न होकर यह द्यूतक्रीड़ा छोड़ दो। ये पासे तुम्हारे बैरी के जैसे द्रोह करने वाले हैं। बुद्धिमानों को वेश्यागमन की तरह द्यूत क्रीड़ा मात्र होती है परंतु अपनी आत्मा को अंधकार देने वाली इस द्यूतक्रीड़ा को इस प्रकार अविसेवन नहीं करते। यह राज्य अनुज बंधु कुबेर की स्वयंमेव दे देना ठीक है, परंतु मैंने तो उसके पास से बलात्कार राज्य लक्ष्मी ले ली है ऐसा ये अपवाद बोले वैसामत करो। हे देव! यह पृथ्वी सैकडों युद्ध करके प्राप्त की है, वह एक द्यूतक्रीडा में फूटे हुए प्रवाह की तरह सहज में ही जा रही है। यह स्थिति मुझे अत्यंत दुखदायी है। दवदंती की इस वाणी को दसवें मदावस्था को प्राप्त हस्ती की तरह नलराजा ने जरा भी नहीं सुना और उसको दृष्टि से देखा भी नहीं। जब पति ने उनकी अवज्ञा की तब रोती रोती वह कुल प्रधानों के पास आकर कहने लगी कि इन नलराजा को आप द्यूत से रोक दो। सन्निपात वाले व्यक्ति को औषध की तरह उन प्रधानों के वचनों का भी नलराजा पर जरा भी असर नहीं हुआ।

(गा. 440 से 451)

भूमि को हार जाने वाला वह नलराज अग्नि जैसा हो गया। पश्चात दवदंती सहित अंतःपुर भी हार गया। इस प्रकार सर्वस्व हार जाने के पश्चात मानो दीक्षा लेने का इच्छुक हो वैसे उसने अंग पर से सर्व आभूषण भी हार कर छोड़ दिये। तब कुबेर ने कहा, हे नल! तू सर्वस्व हार गया है, अतः अब यहाँ रहना नहीं। मेरी भूमि को छोड़ दें। क्योंकि तुझे जो पिताजी ने राज्य दिया था, परंतु मुझे तो द्यूत के पासों ने राज्य दिया है। उसके ऐसे वचन सुनकर नल राजा बोला पराक्रमी पुरूषों को लक्ष्मी दूर नहीं है, अतः तू जरा भी गर्व मत कर। नल पहले हुए वस्त्र

सहित वहाँ से चल दिया। उस समय दवदंती उसके पीछे पीछे जाने लगी। उसे देखकर कुबेर भंयकर शब्द से बोला– अरे स्त्री! तुझे मैं धूतक्रीडा में जीता हूं अतः तू कहां जा रही है? तू तो मेरे अन्तःपुर को अलंकृत कर। उससमय मंत्री आदि ने दुराश्य कूबर को कहा कि यह महासती दमयंती दूसरे पुरूष की छाया का भी स्पर्श करती नहीं है, अतः तू इस महासती का जाने में अवरोध मत कर। बालक भी जानता है कि ज्येष्ठ बंधु की स्त्री माता समान होती है और जयेष्ठ बंधु पिता समान है। फिर भी यदि तू बलात्कार करेगा तो यह महासती भीमसुता तुझे जलाकर भस्म कर देगी। सतियों के लिए कुछ भी मुश्किल नहीं है। इसलिए इस सती को कुपित करके अनर्थ का सजृन मत कर। परंतु पति के पीछे जाती हुई इस सती को उत्साहित कर। तुझे जो गांव नगर आदि सब मिला है, उससे संतुष्ट हो जा और इन नल राजा को पाथेय के साथ एक सारथि सहित रूप दें। मंत्रियों के इस प्रकार के वचन से कुबेर ने दवदंती को नल के साथ जाने दिया। पाथेय के साथ सारथि युक्त भी देने लगा। तब नल ने कहा कि भरतार्थ के विजय से जो लक्ष्मी मैंने उपार्जन की थी, उसे आज मैं क्रीड़ामात्र में छोड़ रहा हूँ तो मुझे एक रथ की भी स्वृहा क्या? मुझे रथ नहीं चाहिए। उस वक्त मंत्रियों ने कहा कि– हे राजन्! हम आपके चिरकाल से सेवक हैं, इससे हम आपके साथ आना चाहते हैं, परंतु यह कुबेर हमको आने नहीं देता। यह आपका अनुज बंधु है और आपने इसे राज्य दिया है, अब हमारे यह त्याग करने योग्य भी नहीं है, क्योंकि हमारा ऐसा क्रम है कि इस वंश में जो राजा हो उसकी हमको सेवा करनी है।

(गा. 452 से 465)

इससे हे महाभुज! हम आपके साथ आ नहीं सकते। इस समय तो यह दवदंती ही आपकी भार्या, मंत्री, मित्र और सेवक जो मानो वह यह है। सतीव्रत को अंगीकार करने वाली और शिरीष के पुष्प जैसी कोमल इस दवदंती को पैरों से चलाकर आप किस प्रकार ले जायेंगे? सूर्य के ताप से जिस रेत में से अग्नि की चिनगारियां निकलती है, ऐसे मार्ग में कमल जैसे कोमल चरणों द्वारा यह सती कैसे चल सकेगी? इसलिए हे नाथ! इस रथ को ग्रहण करके हम पर अनुग्रह करो। आप देवी के साथ इस रथ में बैठो, आपका मार्ग कुशल हो और आपका कल्याण हो।

(गा. 466 से 470)

इस प्रकार प्रधान पुरूषों ने बारंबार प्रार्थना की तब नलराजा दवदंती के साथ रथ में बैठकर नगर के बाहर निकले। मानो स्नान करने के लिए तैयार हुई हो वैसे एक वस्त्र पर कर जाती हुई दवदंती को देखकर नगर की सर्व स्त्रियाँ अश्रुजल से कांचलियों को आर्द्र करती हुई रोने लगी। नलराजा नगर के मध्य से होकर गुजर रहे थे, उस समय दिग्गज के आलान स्तंभ जैसा पाँच सौ हाथ ऊँचा एक स्तंभ उनको दिखाई दिया। उस समय राज्यभ्रष्ट होने के दुख को मानो न जानते हो वैसे कौतुक से उन्होंने कदली स्तंभ को हाथी उखाड़े वैसे लीलामात्र से उस स्तंभ को उखाड दिया और पुनः उसे वही आरोपण कर दिया। जिससे उसे उठाकर बैठाने रूप राजाओं के व्रत को सत्य कर बताया। यह देख नगरजन कहने लगे कि अहो! इन नलराजा का कैसा बल है? ऐसे बलवान पुरूष को भी ऐसा दुख प्राप्त होता है, इसमें देवेच्छा ही बलवान है ऐसा निर्णय होता है। पूर्व में बाल्यावस्था में भी नलराजा समीप के पर्वत उद्यान में कुबेर सहित क्रीड़ा कर रहे थे, उस वक्त ज्ञानरत्न के महानिधि कोई महर्षि आये थे। उन्होंने कहा था कि यह नल पूर्व जन्म में मुनि को दिये क्षीर दान के प्रभाव से भरतार्ध का अधिपति होगा अन्य और इस नगरी में स्थित पांच सौ हाथ ऊचे स्तंभ को जो चलायमान कर देगा, वह अवश्य भरतार्ध का अधिपति होगा, और नलराजा के जीते जी इस कौशल नगरी का कोई अन्य भूपति होगा नहीं। उन मुनि के कथनानुसार भविष्य में भरतार्ध का स्वामी होना और इस स्तंभ का उखाडना ये दोनों बातें तो मिल गई परंतु कूबेर का कोशला का राजा होने से तीसरी बात नहीं मिली। परंतु जिसकी प्रतीति अपनी नजरों से देख रहे हैं, उन मुनि की वाणी भी अन्यथा नहीं हो सकती क्योंकि अभी कूबेर भी सूखपूर्वक राज्य करेगा या नहीं यह कौन जानता है? कदाच पुनः नलराजा ही हमारे राजा हो जावें, अतः पुण्यश्लोक नलराजा का पुण्य सर्वथा वृद्धि पावे इस प्रकार लोगों के वचन सुनता और दमयंती के अश्रुओं से रथ को स्नान कराते नलराजा कोशला नगरी को छोड़कर चल दिये।

(गा. 471 से 483)

आगे जाकर नल ने दमयंती से कहा कि हे देवी! अपन/हम कहाँ जावें? क्योंकि स्थान का लक्ष्य किये बिना कोई भी सचेतन प्राणी प्रवृत्ति करता नहीं है। दवदंती बोली दर्भ के अग्रभाग जैसे बुद्धिवाले हे नाथ! अपन कुंडिनपुर चलें, वहाँ मेरे पिता के अतिथि होकर रहें उन पर अनुग्रह करो।

(गा. 484 से 486)

उसके वचन से नल ने आज्ञा दी, तब भक्ति के आश्रय रूप सारथि ने कुंडिनपुर की दिशा की ओंर घोड़े चला दिए। आगे चलने पर एक भयंकर अटवी आई, जहाँ बाघों की गुर्राहट से गिरी की गुफाएं घोरातिचोर दिखाई देती थी। वह सर्पों से भी अधिक भयंकर थी, सैकडों शिकारी प्राणियों से व्याप्त थी, चौर्यकर्म करने वाले भीलों से भरपूर थी, सिंहों से मारे गये वनहस्तियों के दाँतों से जिसकी भूमि दूंतर हो चुकी थी यमराज के क्रीड़ास्थल जैसी वह अटवी प्रतीत होती थी। इस अटवी में नलराजा आए। तब आगे जाने पर कर्ण तक खींचे हुए धनुष के धारण किए हुए यमराज के दूत जैसे प्रचंड भील उनको दिखाई दिये। उनमें से कोई मद्यपान की गोष्ठी में तत्पर होकर नाच रहे थे कोई एकदंत हाथी के जैसे दिखाई देते सींगड़ें को बना रहा था, कोई रंगभूमि में प्रथम नट करे वैसे कलकल शब्द कर रहे थे, कोई मेघ जलवृष्टि कर रहे थे, वैसे बाणवृष्टि कर रहे थे, और कोई मल्ल की तरह बाहुयुद्ध करने को करास्फोट कर रहे थे। इन सर्व ने एकत्रित होकर हाथी को जैसे श्वान घेर लेते हैं उसी तरह नल राजा को घेर लिया। उनको देखकर नल शीघ्र ही रथ में से उतरकर म्यान में से तलवार निकालकर उसे नर्तकी की तरह अपनी मुठिरूपी रंगभूमि में नचाने लगे। यह देख दवदंती रथ में से उतरी और उसने हाथ पकड़ कर नल को कहा खरगोश पर सिंह की तरह इन लोगों पर आपको आघात करना उपर्युक्त नहीं है। इन पशु जैसे लोगों पर प्रयोग करने से आपकी तलवार जो कि भरतार्ध की विजयलक्ष्मी की वासभूमि है, उसे बहुत लज्जा लगेगी।

(गा. 487 से 495)

इस प्रकार कहकर दवदंती मंडल में रही हुई मांत्रिकी स्त्री की तरह अपने मनारेथ की सिद्धि के लिए पुनः पुनः हुंकार करने लगी। वे हुंकारें भील लोगों के कर्ण में प्रवेश करते ही तुरंत उसके प्रभाव से तीक्ष्ण लोहे की सुई जैसी मर्मभेदी हो गई। इससे सब भील लोग घबरा कर दसों दिशाओं में भाग गये। उनके पीछे ये राजदंपती ऐसे दौड़े कि जिससे रथ से बहुत से दूर हो गए। इतनें में दूसरे भीलों ने आकर उस रथ का भी हरण कर लिया। जब दैव ही विपरीत हो तब पुरूषार्थ क्या कर सकता है? तब इस भंयकर अटवी में नलराजा दमयंती का हाथ पकड़ कर पाणिग्रहण के उत्सव को स्मरण करता हुआ चारों तरफ घूमने लगा। कांटें चुभने की वजह से वैदर्भी के चरण में से निकलते रूधिर बिंदुओं से उस अरण्य की भूमि इंद्रगोपमय सी हो गई। पूर्व में नलराजा का जो वस्त्र वैदर्भी

के मस्तक पर पटरानी के पटबंध के लिए होता था, उसी वस्त्र को फाड़–फाड़ कर अभी नलराजा उसके चरण रक्तबंद कर रहा था, अर्थात् उसके पैर में पट्टी बांध रहा था।

(गा. 496 से 504)

इस प्रकार चलते चलते थक जाने से वृक्ष के तल पर बैठी हुई भीमसुता कोनल राजा अपने वस्त्र के किनारे से पंखा करके पवन करने लगे और पलाश के पत्तों का दोनों बनाकर उसमें जल लाकर तृषित हुई उस रमणी को पिंजरे में पड़ी सारिका की तरह जलपान कराने लगे। उस समय वैदर्भी ने नलराजा को पूछा कि हें नाथ! यह अटवी अभी कितनी शेष बाकी है? क्योंकि इस दुख से मेरा हृदय द्विधा होने के लिए कंपायमान हो रहा है। नल ने कहा प्रिये! यह अटवी सौ योजन की है और उसमें अभी अपन पांच योजन आये हैं, अतः धैर्य रखो। इस प्रकार बातें करते हुए अरण्य में आगे चल रहे थे। इतने में मानो संपति की अनित्यता को सूचित करता हो ऐसा सूर्य अस्त हो गया। उस समय बुद्धिमान नल अशोक वृक्ष के पल्लव एकत्रित करके उनके दीठे निकाल कर दवदंती के लिए उसकी शय्या बनाई। तब उसे कहा– प्रिये! शय्या पर शयन करके इस अलंकृत करो और निद्रा को अवकाश दो। क्योंकि निद्रा दुख का विस्मरण कराने वाली एक सखी है। वैदर्भी बोली– हे नाथ! यहाँ से पश्चिम दिशा की और नजदीक में ही गायों का रंभारण सुनाई दे रहा है, इससे नजदीक में कोई गाँव हो, ऐसा लगता है। अतः चलो जरा आगे चलकर उस गांव में अपन जावें और सुखपूर्वक सोकर रात निर्गमन करें। नल ने कहा– अरे भीरू! यह गांव नहीं है, परंतु तापसों का आश्रम है, और वे अशुभोदय के संयोग से सदा मिथ्यादृष्टि है। हे कृशोदरी! इन तापसों की संगति से कांजी द्वारा मनोरम दूध की तरह उतम समकित भी विनाश को प्राप्त होता है, अतः तू यहीं पर ही सूखपुर्वक सो जा। वहाँ जाने का मन मतकर। अंतःपुर के रक्षक की तरह मैं तेरा पहरा देऊँगा।

(गा. 505 से 514)

तब नल ने पल्लवशय्या पर अपनी प्यारी को मोटे मोटे गद्दों का स्मरण कराते हुए अपना अर्ध वस्त्र बिछाया। अर्हंत देव को वंदना करके और पंच नमस्कार का स्मरण करके गंगा तट पर हंस की तरह वैदर्भी ने उस पल्लवशयया पर शयन किया। जब वैदर्भी के नेत्र निद्रा से मुद्रित हुए, उस समय नलराजा को

दुख सागर के महत आर्वत जैसी चिंता उत्पन्न हुई। वह विचारने लगा कि जो पुरूष ससुराल की शरण लेता है, वे अधम नर कहलाते हैं, तो दमयंती के पिता के घर यह नल किस लिए जाता है? इससे अब हृदय को वज्र जैसा करके इस प्राण से भी अधिक इस प्रिया का यहाँ त्याग करके स्वेच्छा से रंक की तरह अकेला मैं अन्यत्र चला जाउँ। इस वैदर्भी को शील के प्रभाव से कुछ भी उपद्रव नहीं होगा। कारण कि सती स्त्रियों को शील उसके सर्व अंग की रक्षा करने वाला शाश्वत महामंत्र है। ऐसा विचार करके छुरी निकाल कर नल ने अपना अर्धवस्त्र काट डाला, और अपने रूधिर से दमयंती के वस्त्र पर इस प्रकार अक्षर लिखे– हे विवेकी वामा! हे स्वच्छ आशयवाली! बड़ के वृक्ष से अलंकृत जिस दिशा में जो मार्ग है, वह वैदर्भ देश में जाता है और उसकी वाम तरफ का मार्ग कोशल देश में जाता है, अतः इन दोनों में से किसी एक मार्ग पर चलकर पिता या श्वसुर के घर तू चली जाना। मैं तो इसमें से किसी भी स्थान पर रहने का उत्साह नहीं रखता। इस प्रकार के अक्षर लिखकर निःशब्द रूदन करता हुआ और चोर के जैसे धीरे धीरे डग भरता नल वहाँ से आगे चला। वह अदृश्य हुआ तब तक अपनी सोई हुई प्यारी को ग्रीवा टेढी कर करके उसे देखता देखता चलने लगा।

(गा. 515 से 525)

उस वक्त उसने सोचा कि ऐसे वन में अनाथ बाला को अकेली सोती छोडकर मैं चला जा रहा हूँ, परंतु यदि कोई क्षुधातुर सिंह या व्याघ्र आकर उसका भक्षण कर जाएगा तो इसकी क्या गति होगी? इसलिए अभी तो इसे दृष्टि के विषय में रखकर मैं रात्रि पूर्ण होने तक इसकी रक्षा करूँ, प्रातःकाल में वह मेरे बताए हुए दोनों मार्गों में से एक मार्ग पर चली जाएगी। ऐसा विचार करके नल अर्थभ्रष्ट हुए पुरूष की भाँति उन्हीं पैरों से वापिस लौटा। वहाँ आकर अपनी स्त्री को पृथ्वी पर आलोटती देख कर पुनः विचार करने लगा। अहा! यह दवदंती एक वस्त्र पहन कर मार्ग में सोई है। जिस नलराजा का अंतःपुर सूर्य को भी देखता नहीं, उसकी यह कैसी दशा? अरे मेरे कर्म के दोष से यह कुलीन कांता ऐसी दशा को प्राप्त हुई है, परंतु अब मैं अभागा क्या करूँ? मेरे पास में होने पर भी यह सुलोचना उन्मत अथवा अनाथ की जैसे भूमि पर सोई है, तथापि यह नल यद्यपि जीवित है।

(गा. 526 से 531)

यदि मैं इस बाला को अकेली छोड़ दूँगा तो जब यह मुग्धा जागृत होगी तब जरूर यह मेरी स्पर्धा से ही जीवनयुक्त हो जाएगी, इसलिए इस भक्त रमणी को छोड़कर अन्यत्र जाने में उत्साह आता नहीं है। अब तो मेरा मरण या जीवन इसके साथ ही हो अथवा इस नरक जैसे अरण्य में नारकी की तरह मैं अकेला ही अनेक दुखों का पात्र हो जाउँ, और मैंने जो इसके वस्त्र पर जो आज्ञा लिखी है, उसे जानकर यह मृगाक्षी अपने आप स्वजन के गृह में जाकर कुशल हो जाय। पुनः ऐसा विचार करके नल रात्रि वहाँ निर्गमन करके पत्नि के प्रबोध के समय त्वरित गति से चलकर अंतर्हित हो गया।

(गा. 532 से 536)

इधर रात्रि के अवशेष भाग में विकसित कमल की सुगंध वाला प्रातःकाल का मंद मंद पवन चल रहा था, उस समय दवदंती को एक स्वप्न आया, जैसे फलित, प्रफुल्लित, और घने पत्तों से युक्त आम्रवृक्ष पर चढकर भ्रमरों के शब्दों को सुनती वह फल खाने लगी। इतने में किसी वन हस्ति ने अकस्मात आकर उस वृक्ष का उन्मूलन कर दिया, जिससे पक्षी के अंडे की तरह वह उस वृक्ष से नीचे गिर पड़ी। ऐसा स्वप्न देखकर दवदंती एकदम जाग उठी, वहाँ उसने अपने पास नलराजा को देखा नहीं, तब यूथभ्रष्ट मृगी की तरह वह दसों दिशाओं में देखने लगी। उसने सोचा कि अहा! मुझ पर अनिवार्य दुख अकस्मात आ पड़ा क्योंकि मेरे प्राणप्रिय ने भी मुझे इस अरण्य में अशरण त्याग दिया। अथवा रात्रि व्यतीत होने से मेरे प्राणेष मुख धोने या मेरे लिए जल लेने किसी जलाशय पर गये होंगे अथवा उनके रूप से लुब्ध होकर कोई खेचरी उनको आग्रह करके क्रीड़ा करने ले गई होगी, पश्चात उसने किसी कला में उसे जीत लिया होगा और उसमें रोकने की होड़, की होगी वहाँ रूक गये होंगे। ये वे ही पर्वत, वे ही वृक्ष वही अरण्य और वही भूमि दिखाई देती है, मात्र एक कमल लोचन नलराजा को मैं नहीं देखती।

(गा. 537 से 545)

इस प्रकार विविध प्रकार की चिंता करती हुई दवदंती ने सभी दिशाओं की ओंर देखा परंतु जब अपने प्राण नाथ को कहीं नहीं देख पाई तब वह अपने स्वप्न का विचार करने लगी कि जरूर मैंने स्वप्न में जो आम्रवृक्ष देखा वह नल राजा पुष्पफल वह राज्य फल का स्वाद वह राज्यसुख और भँवरे वह मेरा परिवार है। जो वन के गजेंद्र न आकर आम्रवृक्ष को उखाड़ा वह दैव ने आकर

मेरे पति को राज्य से भ्रष्ट करके प्रवासी कर दिया और जो मैं वृक्ष से गिर पड़ी यानि मैं नल राजा से बिछुड गई यह समझना चाहिए। इस प्रश्न का विचार करने से तो लगता है कि अब मुझे अपने प्राणेश नल के दर्शन होना दुर्लभ है। इस प्रकार स्वप्न के अर्थ का विचार करके वह बुद्धिमती बाला सोचने लगी कि मेरा राज्य और पति दोनों ही गये। तब वह तारलोचना ललना मुक्तकंठे तीव्र स्वर रूदन करने लगी। दुर्दशा में पड़ी स्त्री को धैर्य गुण कहाँ से हो ? अरे नाथ! तुमने मुझे क्यों छोड दिया क्या मैं आपको भार रूप हो रही थी सर्प को अपनी कांचली कभी भाररूप नहीं लगती। यदि आप मजाक मश्करी करने किसी बेल के वन में छिप गये हो तो अब प्रकट हो जाओ। क्योंकि दीर्घ समय तक मश्करी सुखकर नहीं होती हे वनदेवताओं! मैं तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि तुम मुझ पर प्रसन्न हो जाओ और मेरे प्राणेश को या उनका पवित्र किया हुआ मार्ग बताओ।

(गा. 546 से 557)

हे पृथ्वी! तू पके हुए ककड़ी के फूल की तरह दो भागों में बँट जा कि जिससे मैं तेरे दिये हुए विवर में प्रवेश करके सुखी हो जाउँ इस प्रकार विलाप पूर्वक रूदन करती वैदर्भी वर्षा की तरह अश्रुजल से अरण्य के वृक्षों का सिंचन करने लगी। जल या स्थल, धूप या छांव मानो ज्वलंत हो वैसे उस दवदंती को नलराजा बिना जरा भी सुख नहीं मिला।

(गा. 558 से 561)

तब वह भीमसुता अटवी में घूमने लगी। इतनें में वस्त्र के किनारे पर लिखे हुए अक्षर दिखाई दिये। तब वह तत्काल हर्ष से पढने लगी। पढकर उसने सोचा कि अवश्य प्राणेश के हृदय पूर्ण सरोवर में मैं हंसली तुल्य हूँ, नहीं तो मुझे ऐसा आदेश रूप प्रसाद का निर्देश किसलिए करते पति देव का यह आदेश मैं गुरू के वचन से भी अधिक मान्य करती हूँ। इस आदेश के अनुसार बर्ताव करने से मेरा यह अति निर्मल होगा। अतः चलो मैं सुख के कारण रूप पिता के घर जाउँ, परंतु पति बिना स्त्रियों को पितृगृह भी पराभव का स्थान है। यद्यपि मैंने प्रथम पति के साथ जाना ही चाहा था, पर वह योग्य बना नहीं। अब पति की आज्ञा के वश होकर पितृगृह जाना ही उपयुक्त है। ऐसा विचार करके वैदर्भी उस बड़ के मार्ग पर चलने लगी। जैसे नलराजा उसके साथ हों, वैसे अक्षरों को देखती देखती उस मार्ग पर मार्ग में व्याघ्र मुख फाड़कर दवदंती को खाने के लिए उद्यमवंत हो रहे

थे, परंतु अग्नि की तरह तेजस्विनी के पास जाने का साहस न कर सके। वह जल्दी जल्दी जा रही थी तब बिल के मुख में से बड़े सर्प निकलते, परंतु मानो मूर्तिमान् जांगुली विद्या हो वैसे उसके पास जा नहीं पाते थे। जो अन्य हाथी की शंका से अपनी छाया को दाँत से भेदते थे ऐसे उन्मत हाथी भी रानी को सिंहनी के समान समझ उससे दूर दूर खड़े रहते।

(गा. 562 से 567)

इस प्रकार मार्ग में चलते वैदर्भी को दूसरे कोई भी उपद्रव नहीं हुए। पतिव्रता स्त्री का सर्वत्र कुशल होता है। इस राजरानी के केश भील की स्त्री की भाँति अत्यंत विंसस्थूलपूर्वक हो गये थे। मानो तुरंत ही स्नान किया हो वैसे उसका सर्व अंग प्रस्वेद जल से व्याप्त था। मार्ग में करीर और बोरडी आदि कंटकीय वृक्षों के साथ घर्षण होने से उनके शरीर से गोंद वाले सल्लकी वृक्ष की तरह चारों ओंर रूधिर निकलता था। शरीर पर मार्ग की रज चिपकाने से जैसे दूसरी त्वचा रखती हो, ऐसी दिखती थी। तो भी दावानल से त्रास पाई हुई हथिनी की तरह त्वरित गति से चल रही थी। इसी प्रकार मार्ग में चलते हुए अनेक गाड़ियों से संकीर्ण ऐसा एक बड़ा सार्थ, मानो कोई राजा की छावनी हो, ऐसा पड़ाव करके रहा हुआ उसकी दृष्टि में आया। उसे देख वैदर्भी ने सोचा कि यह किसी सार्थ का पडाव दिखाई देता है, वास्तव में यह मेरा पुण्योदय ही दृष्टिगत होता है।

(गा. 568 से 575)

इस विचार से कुछ स्वस्थ हुई, इतने में तो देवसेना को असुरों के सदृश चोर लोगों ने आकर उस संघ को चारों तरफ से घेर लिया। मानो चारों तरफ सब ओर चोरमय दीवार हो गई हो। इस प्रकार चारों तरफ से आती हुई चोर की सेना को देखकर सर्व सार्थजन भयभीत हो गये। क्योंकि धनवानों को भयप्राप्ति सुलभ है। उसी समय अरे सार्थ निवासी जनो! डरो नहीं, डरो नहीं। ऐसा बोलती हुई उनकी कुलदेवी की भाँति दवदंती उच्च स्वर में बोली। तब उसने चोरों से कहा, अरे दुराशयें! यहाँ से चले जाओ, मैं इस संघ की रक्षक हूँ, यदि तुम कुछ भी उपद्रव करोगे तो अनर्थ हो जाएगा। इस प्रकार कहती हुई दवदंती को मानो कि कोई वातूला हो या भूतपीडित हो ऐसा मानकर चोरों ने उसकी गणना नहीं की। तब उस कुंडिनपति के दुहिता ने सर्व सार्थजनों के हित के लिए चोरों के अंहकार का विदारण करने वाली भंयकर हुँकार शब्दोच्चारण किया। वन को भी जो

बधिर करे ऐसे उसके हुँकार से क्षुद्र वन्यजीवों की भांति तत्काल ही सर्व चोर लोग भाग गये। यह देख सार्थजन कहने लगे कि अपने पुण्य से आकर्षित हो यह कोई देवी आई है, इसने चोर लोगों के भय से अपनी रक्षा की है।

(गा. 576 से 580)

पश्चात संघमति ने उसके पास आकर माता की तरह भक्ति से उसे प्रणाम किया और पूछा कि आप कौन हो? और इस अरण्य में क्यों भ्रमण कर रही हो? तब दवदंती अश्रुयुक्त नेत्र से बांधक की तरह उस सार्थवाह को नलराजा की द्यूत से लेकर अपना सर्व वृत्तांत कहा। वह सुनकर सार्थवाह बोला– हे भद्रे! आप महाबाहु नलराजा की पत्नि हो, अतः आप हमारी हो और आपके दर्शन से मैं पुण्यशाली हुआ हूँ। आपने इन चोर लोगों से जो हमारी रक्षा की है, उस उपकार से हम सभी आपके ऋणी हो गए हैं, इसलिए आप आकर हमारे आवास को पवित्र करो ताकि हमसे जो कुछ भी आपकी भक्ति बने वह कर सकें। ऐसा कहकर सार्थ पति उसे अपने पटगृह में ले गया और वहाँ देवी की आराधना करे वैसे उसकी सेवा भक्ति करने लगा।

(गा. 581 से 585)

इस समय वर्षा ऋतु रूप नाटक की नांदी सा गर्जना का विस्तार करता हुआ मेघ अखंडधारा से वृष्टि करने लगा। स्थान स्थान पर अविच्छिनरूप से बहते प्रवाहों से उद्यान जैसी सर्व भूमि दिखाई देने लगी। जल से परिपूर्ण ऐसे छोटे बड़े खड्ढों में हुए दादुरों के शब्दों से मानो उपांत भूमि दर्दुरवाद्य का संगीत हो ऐसी दिखाई देने लगी। सारे अरण्य में वराहों की स्त्रियों के दोहद को पूर्ण करने वाला ऐसा कीचड़ हो गया कि मुसाफिरों के चरण में मोचक प्रक्रिया अर्थात पैरों में मानो कीचड़ के पगरखे पहने हो ऐसा दर्शाने लगा। इस प्रकार तीन रात तक अविच्छिन्न रूप से उग्रवृष्टि हुई। उतने समय दवदंती पितृगृह तुल्य वहाँ सुखपूर्वक रही। जब मेघ बरस कर थम गया तब महासती वैदर्भी सार्थ को छोडकर अकेली चल पडी। नलराजा का वियोग हुआ उसी दिन से वैदर्भी चतुर्थ भक्ति आदि तप में लीन होकर शनैः शनैः मार्ग निर्गमन करती थी।

(गा. 586 से 594)

आगे जाने पर यमराज का जैसे पुत्र हो, वैसा भंयकर से भी भंयकर एक राक्षस उसे दिखाई आया। उसके केश पीले थे, जिससे वे दावानल से प्रदीप्त पर्वत

के तुल्य दिखता था। अग्निज्वाला जैसे जिह्वा से सर्प सा दारूण और विकराल उसका मुख था। कर्तिका जैसे भयंकर उसके हाथ थे। ताल जैसे लंबे और कृश उसके चरण थे। मानो काजल से ही गाढा हो वैसा अमावस्या के अंधकार जैसा श्यामवर्णी था। उस विकराल सिंह का चर्म ओढा हुआ था। वह राक्षस वैदर्भी को देखकर बोला– क्षुधा से कृश उदरवाले मुझ को बहुत दिन से आज अच्छा भक्ष्य प्राप्त हुआ है। अब मैं शीघ्र ही तेरा भक्षण करूँगा। यह सुनकर नलपत्नि भयभीत हो गई फिर भी धैर्य रखकर बोली– अरे राक्षस। प्रथम मेरे वचन सुन ले फिर तुझे जैसी रूचि हो वैसा करना। जो भी जन्मा है उसे मृत्यु अवश्य प्राप्त होती है।

(गा. 594 से 597)

परंतु जब तक वह कृतार्थ हुआ न हो तब तक उसे मृत्यु का भय है। परंतु मैं तो जन्म से लेकर परम अर्हत भक्त होने से कृतार्थ ही हूँ। अतः मुझे भय नहीं है। परंतु तू परस्त्री का स्पर्श मत करना यह भयानक पातक कृत्य है। करके तो तू सुखी होगा भी नहीं। हे मूढात्मा! मेरे आक्रोश से तो तू हुआ न हुआ हो जाएगा अतः क्षणभर विचार करो। इस प्रकार दवदंती का धैर्य देखकर राक्षस खुश हो गया। तब उसने कहा– हे भद्रे! मैं तुम पर संतुष्ट हुआ हूं, अतः कहो मैं तुम्हारा क्या उपकार करूँ? वैदर्भी बोली– हे देवयोनि निशाचर! यदि तू संतुष्ट हुआ है तो मैं। तुझको पूछती हूँ कि मेरे पति का मुझसे मिलन कब होगा?

(गा. 598 से 603)

अवधि ज्ञान से जानकर वृक्ष राक्षस ने कहा हे यशस्विनी! जब प्रवास के दिन से बाहर वर्ष संपूर्ण होंगे तब पिता के घर रही तुमको तुम्हारा पति स्वेच्छा से आकर मिलेगा। अतः अभी तुम धीरज रखो। हे कल्याणी! तुम कहो तो मैं तुमको अर्द्ध निमेष में तुम्हारे पिता के यहाँ पहुँचा दूँ। किस कारण से इस मार्ग पर चलने का प्रयास करती हो? दवदंती बोली– हे भद्र! तुमने नलराजा के आगमन की बात कही उससे मैं कृतार्थ हुई हूँ। मैं परपुरूष के साथ जाती नहीं अतः जाओ तुम्हारा कल्याण हो। पश्चात वह राक्षस अपना ज्योतिर्मय स्वरूप बताकर विद्युत की गति के समान तत्क्षण आकाश में उड़ गया।

(गा. 604 से 607)

अपने पति का वियोग बारह वर्ष तक का जानकर दवदंती ने सतीत्वरूप वृक्षों के पल्लव जैसा इस प्रकार का अभिग्रहण धारण किया। जब तक नल राजा

नहीं मिले, तब तक लाल वस्त्र, तांबूल आभूषण विलेपन और विकृति अर्थात् विगय दूध, दही, घी, तेल, मिठाई तली वस्तु ये छः विगय इनको विकृति विकार करने वाली कहा जाता है को भी मैं ग्रहण नहीं करूँगी। ऐसा अभिग्रह लेकर यह रमणी वर्षाऋतु निगर्मन करने हेतु निर्भय होकर एक गिरि गुहा में निवास करने लगी। वहाँ उसने श्री शांति नाथ भगवान का मृतिकामय (मिट्टी से निर्मित) बिंब बनाकर अपने निर्मल हृदय के समान गुफा के एक कोने में स्थापित किया। वह वन में जाकर स्वंयमेव खिरे हुए पुष्पों को लाकर उन सोलहवें भगवान की त्रिकाल पूजा करने लगी और यह आर्हती आँवला चतुर्थादि तप के पश्चात बीजरहित प्रासुकफल द्वारा पारणा करके वहीं पर रहने लगी।

(गा. 608 से 612)

इधर उस सार्थवाह ने जब अपने साथ में नल प्रिया को देखा नहीं तब वह उसका कुशल होवे ऐसा चिंतन करता उसके पदचिह्नों पर चलता हुआ गुफा में आया। वहाँ उसने समाधि में अरिहंत प्रभु की प्रतिमा का पूजन करते हुए दवदंती को देखा। वैदर्भी को कुशल देखकर सार्थवाह हर्षित हुआ। विस्मय से नेत्र विकसित करके उसको नमन करके वह भूमि पर बैठा। दवदंती अर्हत् पूजा समाप्त करके स्वागत प्रश्न पूछकर अमृत जैसी मधुर वाणी द्वारा सार्थवाह के साथ बातें करने लगी। इस वार्तालाप को सुनकर वहाँ समीप में स्थित कुछ तापस मृगों की तरह उँचे कान करते हुए शीघ्र ही वहाँ आये। उस समय दुर्धर जलधारा से पर्वत पर टांकणा से ताड़न करता हुआ मेघ बरसने लगा। थाले जैसी मेघधारा से मार खाते वे तापस अब अपन कहाँ जायेंगे ? और इस जल संकट से कैसे मुक्त होंगे ? ऐसा बोलने लगे। तिर्यंच प्राणियों की भाँति कहाँ भाग जावें, ऐसी चिंता से आकुल व्याकुल उन तापसों को देखकर तुम डरो मत ऐसा उच्च स्वर में बोली। पश्चात एक मर्यादा कुंड करके यह धुंरधर सती इस प्रकार मनोहर वाणी बोली– यदि मैं वास्तव में सती होऊँ, सरल मन वाली होऊँ और आर्हती श्राविका होऊँ तो यह बरसात कुंड के बाहर अन्यत्र बरसे।

(गा. 613 से 621)

तत्काल उसके सतीत्व के प्रभाव से कुंड के ऊपर मानो छत्र धारण किया हो, उतनी जमीन पर जल पड़ना बंद हो गया। उस समय जल से धुला हुआ वह पर्वत का प्रदेश नदी में स्वप्न करने से निर्मल और श्याम शरीर वाले हाथी के

समान शोभायमान होने लगा। चारों तरफ बरसात बरसने से उस गिरी की गुफाएँ मेघ की शोभा से पूर्ण हो गई हो, वैसे जल से भर गई। उसका यह प्रभाव देखकर सभी सोचने लगे जरूर यह कोई देवी है, क्योंकि मानुषी में ऐसा रूप और ऐसी शक्ति नहीं होती। तब स्वच्छ बुद्धिवाले बसंत सार्थवाह ने उससे पूछा– भद्रे! आप किस देव की पूजा करती हो? यह कहो। दवदंती बोली– सार्थवाह ये अरिहंत परमेश्वर हैं, ये तीन लोक के नाथ और भव्य प्राणियों की प्रार्थना में कल्पवृक्ष रूप है। मैं उनकी ही आराधना करती हूँ। इनके प्रभाव से ही यहाँ निर्भय होकर रहती हूँ, और व्याघ्र आदि शिकारी प्राणी भी मेरा कुछ नहीं कर सकते। वैदर्भी ने बसंत सार्थवाह को अर्हत का स्वरूप एवं अहिंसा आदि अर्हत धर्म कह सुनाया।

(गा. 622 से 630)

बसंत ने तत्काल उस धर्म को स्वीकार कर लिया और हर्ष से दमयंती को कहा कि– तुम वास्तव में धर्म की कामधेनु हो। उस समय उसकी वाणी से अन्य तापस भी हेय और उपादेय के ज्ञाता होकर मानो चित्त में उसे पिरो लिया हो, वैसे धर्म को भावपूर्वक स्वीकारा और उस धर्म से अनुग्रहित होकर अपने तापस धर्म की निंदा करने लगे। क्योंकि जब पेयपान करने को मिले तो फिर उसे कांजी कैसे रूचे? बसंत सार्थवाह ने वहाँ पर एक शहर बसाया और उसमें स्वंय ने एवं अन्य साहूकारों ने आकर निवास किया। वहाँ पांच सौ तापसों को प्रतिबोध प्राप्त हुआ, अतः वह नगर तापसपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने सच्चे स्वार्थ के ज्ञाता सार्थवाह ने अपने अर्थ द्रव्य को कृतार्थ करने के लिए उस नगर में श्री शांति नाथ जी का चैत्य बनवाया। वहाँ रहकर वह सार्थवाह, तापस और सर्व नगर जन अर्हत धर्म में परायण होकर अपना समय निगर्मन करने लगे।

(गा. 631 से 637)

एक समय दवदंती ने अर्ध रात्रि में पर्वत के शिखर पर सूर्य की किरणों जैसा प्रकाश देखा और उसके आगे पंतग की भांति उछलते और गिरते देव असुर और विद्याधरों को देखा। उनके जय जय शब्द के कोलाहल से जागृत हुए सर्व वाणिकों और तापसों ने ऊपर देखा। वैदर्भी उन वणिकजनों और तापसों को साथ ले भूमि और अंतरीक्ष के मध्य मानदंड के समान उंचे उस गिरी पर चढी। वहाँ पहुंचने पर श्री सिहंकेसरी मुनि को केवल ज्ञान का महात्म्य उसके

देखने में आया। उन सभी ने उन केवली मुनि को द्वादशावर्त्त वंदना करके वृक्ष के मूल में बटोही बैठे वैसे उनके चरण कमल के समीप बैठे। उस समय इन सिंहकेसरी मुनि के गुरू यशोभद्रसूरि वहाँ आये उन्होंने उन्हें केवल हुए जानकर उनकी वंदना की और उनके सन्मुख बैठे। तब करूणारस के सागर श्री सिंहकेसरी मुनि ने अधर्म के मर्म को बांधने वाली देशना दी।

(गा. 638 से 645)

लख चौरासी योनी के इस संसार में भ्रमण करते हुए प्राणियों को मनुष्य जन्म प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है, उस मनुष्य जन्म को प्राप्त करके, स्वयं बोए हुए वृक्ष के समान अवश्य उसको सफल करना चाहिए। हे सद्बुद्धि मनुष्यों! उस मनुष्यजन्म का मुक्तिदायक ऐसा जीवदया प्रधान अर्हत धर्मरूप फल है, उसे तुम ग्रहण करो। इस प्रकार श्रोताओं के श्रवण में अमृत जैसा पवित्र अर्हत धर्म कहकर पश्चात तापसों के कुलपति के संशय छेदने के लिए उन महर्षि ने कहा इस दमयंती ने तुमको जो धर्म कहा है, वही उपयुक्त मार्ग है। यह पवित्र स्त्री अर्हत धर्म के मार्ग की मुसाफिर है यह अन्यथा नहीं कहती। यह स्त्री जन्म से ही महासती और अर्हती है। जिसकी तुमने प्रतीति देखी हुई है। जैसे कि इसने रेखाकुंड में मेघ को गिरता हुआ रोक रखा था। उसके सतीत्व एवं आर्हती पन से संतुष्ट हुए देवता सदा उसका सानिध्य करते हैं, फलस्वरूप अरण्य में भी उसका कुशल होता है।

(गा. 646 से 651)

पहले भी हुँकार मात्र से इस सार्थवाह का सार्थ चोर लोगों से बच गया थां। इससे अधिक क्या प्रभाव कहूँ? केवली भागवत इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने में कोई महद्धिक देव वहाँ आया। उसने केवली को वंदना की तथा मृदु वाणी से दमयंती के प्रति बोले– हे भद्रे! इस तपोवन में मैं कुलपति का कपरि नाम का शिष्य था जो तप के तेज से अत्यधिक दुशसद था। मैं हमेशा पंचाग्नि को साधता था, तो भी उस तपोवन के तापस मुझे पूजते नहीं थे, तथा वचन से भी अभिनंदन नहीं करते थे। इससे क्रोधरूप राक्षस से आविष्ट हुआ मैं उस तपोवन को छोड़ शीघ्र ही अन्यत्र चल दिया। चलते चलते सघन अंधकार वाली रात्रि पड़ गई उस समय त्वरित गति से मैं चला जा रहा था। अकस्मात कोई हाथी जैसे किसी खाडी में गिर जाता है, उस प्रकार मैं भी गिरिकंदर में गिर पड़ा।

(गा. 652 से 657)

उस गिरी के पाषाणों से टकराता जीर्ण सीप के पड़ो के समान मेरे सारे दांत सहस्र प्रकार से विदीर्ण हो गये अर्थात दांत के टुकडे टुकडे हो गए दांत के टूटने से पीडातुर हो सात रात तक वहीं पड़ा रहा। परंतु दुखस्वप्न की तरह तापसों ने तो मुझ से बात भी नहीं की। जब मैं उनके स्थान से निकल गया तब घर में से सर्प निकल जाने के समान उन तापसों को विशेष सुख हुआ। इससे उन तापसों पर सुलगती अग्नि जैसा मुझे दुखानुबंधी क्रोध उत्पन्न हुआ। उस ज्वाजल्यमान क्रोध से दुर्लभ वाला मैं मृत्यु के पश्चात इसी तापसवन में एक विशाल विषधर सर्प हुआ। एक बार तुमको डंसने के लिए फण फैलाकर दौडा, तब तुमने मेरी गति को रोकने के लिए नवकार मंत्र पढा। जैसे ही मेरे कर्ण में नवकार मंत्र के अक्षर पड़े, तब जैसे मैं संडासी से पकड़ लिया गया होऊँ।

(गा. 658 से 664)

ऐसे मैं तुम्हारी तरफ किंचित मात्र भी न चल सका। तब शक्तिरहित होकर मैंने एक गिरीगुहा में प्रवेश किया। वहाँ रहकर दादुर मेंढक आदि जीवों का भक्षण करके जीने लगा। हे परम आर्हती! एक बार बरसात बरस रही थी, तब तुम तापसों को धर्म कहते थे। उसमें मैंने सुना कि जो प्राणी जीव हिंसा करते हैं वे निंरतर विभिन्न योनियों में भ्रमण करते हैं और मरूभूमि के पथिक तो जैसे सदा दुख पाते रहते हैं यह सुनकर मैंने विचार किया कि मैं पापी सर्प तो हमेशा ही जीव हिंसा में तत्पर हूँ, तो मेरी क्या गति होगी? इस प्रकार विचार करके तर्क वितर्क करते पुनः मुझे याद आया कि इन तापसों को मैंने कहीं देखा है? उस समय मुझे निर्मल जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। जिससे मानो कल ही यह किया हो वैसे पूर्व भव का मेरा सर्व कृत्य याद हो आया। तब उछलते तरंगवाली नीक के जल की तरह मुझे अक्षय वैराग्य उत्पन्न हुआ, जिससे मैंने तत्क्षण स्वंयमेव अनशनव्रत अंगीकार कर लिया। वहाँ से मृत्यु हो जाने पर मैं सौधर्म देवलोक में देवता हुआ। तप के क्लेश को सहन करने वाले प्राणियों को मोक्ष भी दूर नहीं है। हे देवी! मैं कुसुमसमृद्ध नामक विमान में कुसुम प्रभ नाम का देव हुआ हूँ और आपकी कृपा से स्वर्ग के सुखों को भोगता हूँ।

(गा. 664 से 673)

यदि आपके धर्मवचन मेरे कान में न पडे होते तो पापरूप पंक में पडे वराह जैसी मेरी क्या गति होती? हे भद्रे! अवधिज्ञान से आपको मैं परम उपकारी

जानकर यहाँ आपके दर्शन करने आया हूँ। आज से मैं आपका धर्म पुत्र हूं। इस प्रकार वैदर्भी को कहकर पश्चात वह देव गाँव से आए बंधुओं की भांति सर्व तापसों को मधुर एवं स्नेह समर वाणी से बोला– हे तापसो! पूर्व भव में मैंने आपके ऊपर जो कोपाचरण किया है, वह क्षमा करना और तुमने श्रावक व्रत को स्वीकार किया है उसका उत्तमरीति से पालन करना। ऐसा कहकर उस कुसुमप्रभ देव ने उस मृत सर्प की काया को गिरीगुहा में से बाहर लाकर नंदिवृक्ष पर लटका दिया और कहा कि हे लोगों!

(गा. 674 से 678)

जो कोई किसी पर क्रोध करेगा तो उसके फल से जैसे मैं कर्पर तापस सर्प बना वैसे ही इस प्रकार सर्प बनेगा। उन तापसों का कुलपति जो पहले से ही समकितधारी था, वह भाग्योदय से इस समय परम वैराग्य को प्राप्त हुआ। उन तापसों के अधीश्वर ने केवली भंगवत को नमन करके वैराग्य वृक्ष के उतम फलस्वरूप चारित्र धर्म की याचना की। केवली बोले– तुमको यशोभद्रसूरि व्रत देंगे। समता रूपी धनवाले ये मुनि मेरे भी गुरू हैं। तब अंतर में विस्मय प्राप्त हुए कुलपति ने केवली को पूछा– हे भगवन्! कहिए आपने किस लिए दीक्षा ली थी। केवली बोले– कोशला नगरी में नलराजा के अनुज बंधु कुबेर उतम वैभव संयुक्त राज्य करते हैं, उनका मैं पुत्र हूँ। संगा नगरी के राजा केशरी ने अपनी बंधुमती नाम की पुत्री मुझे दी थी। पिता की आज्ञा से वहाँ जाकर मैंने उससे विवाह किया उस नवोढ़ा को लेकर मैं अपने नगर की ओर आ रहा था। मार्ग में मानो मूर्तिमान कल्याण हो, ऐसे अनेक शिष्यों वाले गुरू को समवसरित हुए देखा, तब वहाँ जाकर मैंने परम भक्ति से उनकी वंदना की एवं कर्ण में अमृत की प्याउ जैसी उनकी धर्मदेशना मैंने सुनी। देशना के अंत में मैंने पूछा कि मेरा आयुष्य कितना है? तब उन्होंने उपयोग देकर कहा कि मात्र पाँच दिन का आयुष्य है। इस प्रकार मरण नजदीक जानकर मैं भय से कंपायमान हो गया कारण कि सर्व प्राणियों को मृत्यु का भय बड़े से बड़ा है।

(गा. 679 से 690)

सूरि बोले– वत्स! भयभीत मत हो। मुनि जीवन ग्रहण कर। एक दिन की दीक्षा भी स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करती है। तब दीक्षा लेकर उनकी आज्ञा से यहाँ आया हूँ, यहाँ शुक्ल ध्यान में स्थित होने से मेरे घातिकर्मों का क्षय होने से मुझे

केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार कहकर उन सिंहकेसरी मुनि ने योग निरोध करके भवोपग्राही कर्म का हनन करके परम पद को प्राप्त किया। तब शुभाशय वाले देवताओं ने उनके शरीर को पुण्यक्षेत्र में ले जाकर उनका अग्निसंस्कार किया।

(गा. 691 से 694)

यथार्थ नाम वाले विमलमति कुलपति ने उस समय यशोभद्रसूरी के चरणों में दीक्षा अंगीकार की। उस समय वैदर्भी ने भी सूरि जी को कहा– हे भगवन! मुझे भी मुक्ति की माता रूप दीक्षा दीजिए। यशोभद्रसूरि बोले– हे दवदंती! अभी तुम्हें तुम्हारे नल राजा के साथ भोग भोगने हैं अतः तुम व्रत लेने के योग्य नहीं हो। प्रातःकाल होने पर सूरि जी पर्वत से नीचे उतरे और अपने चरणों से तापसपुर को पवित्र किया। करूणानिधि और अर्हत धर्म के उपदेशक उन सूरि जी ने वहाँ चैत्य को नमस्कार करके, वहाँ नगर लोकों में समकित आरोपित किया। धर्मध्यान परायण वैदर्भी मलिन वस्त्र धारण करके उस गुहागृह में भिक्षुणी की तरह सात वर्ष तक रही। एक वक्त किसी पथिक ने आकर कहा कि हे दंवदति! अमुक प्रदेश में तुम्हारे पति को देखा है। उसके वचनामृत का पान करते दवदंती के अंग में रोमांच प्रकट हो गया। प्रेम का लक्षण ऐसा ही होता है।

(गा. 695 से 702)

ऐसे वचनों से मुझे यह कौन तृप्त कर रहा है? ऐसा जानने को शब्दभेदी बाण की तरह वह उस पथिक के शब्द के अनुसार ही वह दौड़ गई। परंतु दवदंती को गुफा में से बाहर निकालने में पथिक उसे बाहर लाकर किसी स्थान पर अंतर्धान हो गया। उसने चारों तरफ देखा पर किसी स्थान पर मनुष्य दिखाई नहीं दिया, और अपनी गुफा का भी नहीं मिली, इससे वह उभयभ्रष्ट हो गई। अहो! देव दुर्बल का ही घातक है। बाद में वह महाअरण्य में पहुंच गई। क्षण में खडी होती है बैठती है लोटती है विलाप करती है अर्थात रूदन करती है। ऐसा बारबार करने लगी। अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाउँ? ऐसा विचारती विचारवान दवदंती आदरपूर्वक उस गुफा में जाने के लिए वापिस लौटी। मार्ग में एक राक्षसी जैसे भेड़ को बाघिन देखती है, वैसे देखा। अपने मुखरूपी गुफा को प्रसार कर वह खाउँ, खाउँ ऐसे कहने लगी। उस समय वैदर्भी बोली– अरे राक्षसी!

(गा. 703 से 708)

यदि मेरे मन में मेरे पति नल के सिवा दूसरा कोई पुरूष न हो तो उस सतीत्व के प्रभाव से तू हताश हो जा। अष्टादश दोष रहित सर्वज्ञ भगवान ही यदि मेरे इष्टदेव हों तो तू हताश हो जा। अठारह प्रकार के ब्रहमचर्य में तत्पर विरत और दयालु साधु ही मेरे गुरू हों तो तू हताश हो जा और अरे राक्षसी। जन्म से लेकर मेरे हृदय में वज्रकेप की तरह आर्हत धर्म ही रहा हो तो तू हताश हो। इस प्रकार उसके वचन सुनते ही उस राक्षसी ने उसको भक्षण करने की इच्छा छोड दी। पतिव्रताएं भी महर्षि की भांति अमोघ वचन वाली होती है। यह कोई समान्य स्त्री नहीं है परंतु पूर्ण प्रभावशाली स्त्री है, ऐसा विचार करके उसको प्रणाम करके स्वप्न में आई हों, वैसे वह राक्षसी तत्काल अंतर्धान हो गई।

(गा. 709 से 714)

वहाँ से दमयंती आगे चली। वहाँ मिट्टी की तरंगवाली पर्वत में से निकली एक निर्जल नदी उसे दिखाई दी। शून्य उपवन की नीक जैसी निर्जल नदी के पास आकर तृषा से जिसकी तालु क्षुष्क हो गई ऐसी दवदंती ने इस प्रकार कहा कि यदि मेरा मन सम्यगदर्शन से अधिवासित हो तो इस नदी में गंगा की भाँति उत्कल्लोल जल हो जाय। ऐसा कहकर उसने पैर की एड़ी से भूतल पर प्रहार किया। तब तत्काल इंद्रजल की नदी की तरह वह नदी सजला हो गई। मानो क्षीरसागर की सिरा में से उत्पन्न हुई हो ऐसा स्वादिष्ट और क्षीर जैसा उज्ज्वल उसका स्वच्छ जल दवदंती ने हथिनी की तरह पिया। वहाँ से आगे जाने पर दवदंती श्रांत होकर एक वटवृक्ष के नीचे वटवासी यक्षिणी के सदृश बैठी। उस समय कुछ पथिक किसी सार्थ में से वहाँ आए। उन्होंने दवदंती को वहाँ रही हुई देखकर पूछा कि हे भद्रे! तुम कौन हो? हमको देवी जैसी लगती हो। वैदर्भी बोली– मैं मानव स्त्री हूँ, किसी सार्थ में से भ्रष्ट होने पर इस अरण्य में वसती हूँ। मुझे तापसपुर जाना है, अतः मुझे उसका मार्ग बताओ। वह बोली जिस दिशा में सूर्य अस्त हो, उस दिशा में आश्रय करो। हम अन्यत्र जाने में उत्सुक हैं इससे तुमको मार्ग बताने में समर्थ नहीं है।

(गा. 715 से 723)

हम जल शोधने निकले हैं। वह जल लेकर समीप में जहां हमारा सार्थ उतरा है, वहाँ जायेंगे। यदि तुम वहाँ आओ तो हम तुमको किसी बस्ती वाले नगर में ले जायेंगे। तब वह उनके सार्थ में चली गई। वहाँ धनदेव नामक दयालु सार्थवाह ने

उससे पूछा कि हे भद्रे! तुम कौन हो? और यहाँ कहाँ से आई हो? तब वैदर्भी ने कहा हे महाभाग! मैं वणिक पुत्री हूँ। पति के साथ पिता के घर जा रही थी कि मार्ग में मेरे पति मुझे रात में सोया हुआ छोड़कर चले गये। तुम्हारे सेवक मुझे सहोदर बंधु के समान यहाँ तुम्हारे पास ले आए हैं। तुम मुझे किसी शहर में पहुँचा दो। सार्थवाह बोला हे वत्से! मैं अचलपुर नगर जाने वाला हूँ, तो तुम खुशी से हमारे साथ आओ। तुमको पुष्प के समान वहाँ ले जाउँगा। इस प्रकार कहकर वह स्नेही सार्थवाह अपनी पुत्री की तरह उतम वाहन में बैठाकर शीघ्र ही वहाँ चलने में प्रवृत हुए। आगे जाने पर उस सार्थवाह शिरोमणि ने जल के निझरणे वाले एक गिरिकुंज में सार्थ का निवास कराया। वहाँ वैदर्भी स्वस्थ होकर सुखपूर्वक सो रही थी।

(गा. 724 से 731)

इतने में रात्रि में सार्थ के किसी व्यक्ति को नवकार मंत्र बोलता हुआ उसने सुना। इसलिए उसने सार्थवाह को कहा कि यह नवकार मंत्र बोलने वाला मेरा कोई स्वधर्मी बंधु है। उसे तुम्हारी आज्ञा से देखने में इच्छुक हूँ। पिता की तरह उसकी वांछा पूर्ण करने के लिए सार्थवाह उसे नवकार मंत्र बोलने वाले श्रावक के आश्रम में ले गए। वह बंधु जैसा श्रावक तंबू में रहकर चैत्यवंदन कर रहा था, वहाँ जाकर उसे शरीरधारी शम हो, वैसा वैदर्भी ने उसे देखा। उसने चैतन्यवंदन किया तब तक भीमसुता अश्रु भगे नेत्रों से उस महाश्रावक की अनुमोदन करती हुई वहाँ बैठी रही। वहाँ वह श्रावक जिसे वंदना कर रहा था, उस वस्त्र पर आलेखित और मेघ जैसे श्यामवर्णीय अर्हत बिंब को देखकर उसने भी दर्शन किये। चैत्यवंदन हो जाने के पश्चात नल पत्नि ने स्वागत मंगलादि करके उससे पूछा कि हे भ्रात! यह किन अर्हंत का बिंब है।

(गा. 732 से 738)

वह श्रावक बोला– हे धर्मशील बहन! भविष्य मे होने वाले उन्नीसवें तीर्थंकर का बिंब है जिस कारण से इन भावी तीर्थंकर की मैं पूजा करता हूँ? हे कल्याणी! मेरे कल्याण श्री मल्लिनाथ स्वामी का कारण सुनो समुद्ररूपी कटि मेखला पृथ्वी के मुकुद रत्न जैसी कांची द्वारिका नाम की नगरी है। वहाँ का निवासी मैं वणिक हूं। एक बार धर्मगुप्त नामक ज्ञान मुनि वहाँ पधारे। वे रतिवल्लभ नाम के उद्यान में समवसरे। वहाँ जाकर मैंने वंदना करके उनको पूछा कि हे स्वामिन्! मेरा मोक्ष किस

प्रभु के तीर्थ में होगा ? उन्होंने कहा कि मल्लिनाथ अर्हंत के तीर्थ में होगा। उन्होंने कहा कि मल्लिनाथ अर्हंत के तीर्थ में तू देवलोक से च्यवकर प्रसन्नचंद्र नाम का मिथिलापुरी का राजा होगा। वहाँ उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ जी के दर्शन से केवल ज्ञान प्राप्त करके तू निर्वाण पद को प्राप्त होगा। हे धर्मज्ञ बहन! तभी से मुझे श्री मल्लिनाथ जी पर अत्यंत भक्ति उत्पन्न हुई हैं।

(गा. 739 से 744)

इसलिए इस वस्त्र पर उनका बिंब आलेखित करके हमेशा उनकी पूजा करता हूं। इस प्रकार अपना वृतांत बताकर फिर उस श्रावक ने कहा कि हे पवित्र दर्शन वाली बहन! अब तुम कौन हो ? यह भी अपने धर्मबंधु को बतलाओ। उसके इस प्रकार के प्रश्न से नेत्र में अश्रु लाकर धनदेव सार्थवाह ने उत्तम कथित पतिवियोग आदि का सर्व वृत्तांत उस उत्तम श्रावक को कह सुनाया। यह सुनकर श्रावक के नेत्र में भी अश्रु आ गये और ठोड़ी पर हाथ पर रखकर वह विचाराधीन हो गया। थोड़ी देर में दवदंती का दुख उसके हृदय में समाता न हो, वैसे दुख से व्याप्त होकर वह बोला कि हे बहन! तुम शोक मत करो। इस प्रकार के दुख का कारणभूत तुम्हारा कर्म ही उदित हुआ है, परंतु ये सार्थवाह तुम्हारे पिता स्वरूप है और मैं भाई हूँ अतः यहाँ सुख से रहो।

(गा. 745 से 748)

प्रातःकाल सार्थवाह अचलपुर आया वहाँ वैदर्भी को छोडकर वह दूसरी तरफ गया। यहाँ नृषातुर हुई वैदर्भी ने उस नगर द्वार के समीपस्थ वापिका में जल पीने के लिए प्रवेश किया। उस समय वहाँ पानी भरने आई नगर की स्त्रियों को वह मूर्तिमान जल देवता जैसी दिखाई दी। ज्योंहि वह जल के मुंडेर पर खडी हुई त्योंहि वहाँ चंदनधे ने आकर उसके नाम चरण को पकड लिया। क्योंकि दुखी के ऊपर सोहृदयपन की तरह दुख ही आकर पडता है। दवदंती ने तीन बार नवकार मंत्र का पाठ किया कि उसके प्रभाव से इंद्रजालिक जैसे गले में रखी वस्तु को छोड देता है, वैसे ही चंदनधोआ ने उसके चरण को छोड दिया। पश्चात तालाब में हाथ पैर और मुख धोकर, उसके सुंदर जल का पान करके वैदर्भी हंसनी की तरह मंद मंद गति से चलती हुई, वापिका से बाहर निकली। तब शीलरत्न के करंडिका रूप दवदंती खेदमुक्त चित्त से वापिका के मुंडेर पर बैठी और दृष्टि द्वार नगर को देखकर पवित्र करने लगी।

(गा. 749 से 754)

इस नगर में गरूड़ जैसा पराक्रमी ऋतुपर्ण नाम का राजा था। उसके चंद्र जैसे उज्ज्वल यशवाली चंद्रयशा नाम की रानी थी। उस चन्द्रयशा की दासियां सिर पर जलकुंभ लेकर परस्पर मजाक मश्करी करती हुई वापिका पर पानी भरने आई। उन दासियों ने दुर्दशा को प्राप्त तुंरत देवी के जैसी दवदंती को देखा। पद्मिनी कभी कीचड़ में मग्न भी हो तो भी वह पद्मिनी ही है। वैदर्भी के रूप को देखकर विस्मित होकर उसकी प्रशंसा करती हुई वापिका में मंद मंद घुसी और फिर मंद मंद वापिस निकली। उन्होंने राजमहल में जाकर उस रमणी के रूप की वार्ता धन के भंडार जैसी अपनी स्वामिनी चंद्रयशा रानी को कही। रानी ने दासियों को कहा कि उसे यहाँ शीघ्र ही ले आओ, वह मेरी पुत्री चंद्रवती की बहन जैसी होगी। शीघ्र ही दासियाँ उस तालाब पर आयीं। वहाँ नगराभिमुख हुई लक्ष्मी की जैसी दवदंती वहाँ ही बैठी हुई दिखाई दी। उन्होंने कहा भद्रे! इस नगर के राजा ऋतुपर्ण की रानी चंद्रयशा तुमको आदर से बुला रही है, इसलिए वहाँ चलो और दुख को तिलांजलि दो। यदि यहाँ इस तरह शून्य होकर बैठी रहोगी तो कोई दुरात्मा से छलपूर्वक अथवा व्यंतारादिक से अविष्ट होकर अनर्थ पाओगी।

(गा. 755 से 764)

इस प्रकार चंद्रयशा के कहलाये हुए वचनों से जिसका मन आर्द्र हो गया ऐसी दवदंती पुत्रीत्व के स्नेह से क्रीत हुई सी वहाँ जाने को तत्पर हो गई। आपको हमारी स्वामिनी ने पुत्री स्वरूप मान्य किया, इससे आप भी हमारी स्वामिनी ही हो। ऐसा कह विनय दर्शाती व दासियां उसे राजमहल में ले गई। यह चंद्रयशा दवदंती की माता पुष्पदंती की सहोदरा बहन थी। जिससे वह उसकी मौसी होती थी। पंरतु वैदर्भी को ज्ञात नहीं था, इसलिए वह कैसे पहचाने? परंतु दवदंती नाम की मेरी भाणजी है ऐसा चंद्रयशा जानती थी, परंतु उसे बाल्यवय में देखा होने से इस समय वह भी उसे पहचान न सकी। तो भी रानी ने दूर से ही उसे पुत्री प्रेम से अवलोका। कारण इष्ट अनिष्ट का निर्णय करने में अंतःकरण ही मुख्य प्रमाण है। तब चंद्रयशा ने मानो श्रम से हुई उसकी दुर्बलता को दूर करना चाहती हो वैसे आदर से आलिंगन किया। वैदर्भी ने नेत्रों में से अश्रु गिराते हुए रानी के चरणों में नमन किया उस समय उसके अश्रुजल से रानी के चरण धोती हुई मानो उसकी प्रीति को बदला चुकाने हेतु उसके चरण प्रक्षालती हो, वैसे वह दिखने लगी।

(गा. 765 से 773)

चंद्रयशा ने पूछा– तुम कौन हो? तब उसने सार्थवाह को जो हकीकत कही थी, वह सर्व वृत्तांत उसको कह सुनाया। यह सुनकर चंद्रयशा बोली– हे कल्याणी! राजकुमारी चंद्रवती के साथ तू भी मेरे घर सुख से रह। एक वक्त चंद्रयशा ने अपनी पुत्री चंद्रवती को कहा वत्से! यह तेरी बहन मेरी भाणजी दवदंती की जैसी ही है परंतु उसका यहाँ आगमन संभवित नहीं है, क्योंकि जो अपने भी स्वामी नलराजा हैं, वह तो उनकी पत्नि है। उनकी नगरी तो यहाँ से एक सौ चौवालीस योजन दूर होती है, तो उसका यहाँ आगमन कैसे संभव हो? और उसकी ऐसी दुर्दशा भी कहाँ से हो?

(गा. 774 से 776)

चंद्रयशा रानी नगर के बाहर जाकर प्रतिदिन दीन और अनाथ लोगों को यथारूचि दान देती थी। एक बार वैदर्भी ने देवी से कहा कि आपकी आज्ञा हो तो आपके स्थान पर मैं दान दूँ कि यदि मेरे पति याचक के वेश में आ जावे तो पहचान लूं। तब से चंद्रयशा ने यह काम उसे सौंपा। वह पति की आशा से क्लेश को सहन करती यथास्थित रूप से दान देने लगी। वैदर्भी प्रत्येक याचक को प्रतिदिन पूछती कि तुमने ऐसा रूप वाला कोई पुरूष देखा है?

(गा. 777 से 780)

एक बार भीमसुता दानशाला में खड़ी थी, इतने में जिसकी आगे डिंडिम बज रहा है, ऐसे एक चोर को रक्षकगण वहाँ स्थान ले जा रहे थे। उसको देखकर वैदर्भी ने रक्षकों को पूछा इस चोर ने क्या अपराध किया है कि जिससे इसको वध करने की सजा हुई है? रक्षकों ने कहा कि इस पुरूष ने राजकुमारी चंद्रवती का रत्नकंरडक चोरा है, इस अपराध से इसको वध की सजा हुई है। वैदर्भी की दयालु मूर्ति देखकर चोर बोला– देवी! आपकी दृष्टि मुझ पर पड़ी है तो अब मैं मरण के शरण किसलिए होउँ? आप ही मेरे शरणभूत हो। तब दवदंती रक्षकों के पास आई और चोर को कहा, तू भय मत रख, अवश्य ही जीवित रहने का कुशल होगा। इस प्रकार कहकर दवदंती बोली कि यदि मैं सती होऊँ तो इस चोर के बंधन छूट जाय। इस प्रकार सतीत्व की श्रावणा करके उसने झारी में से जल लेकर तीन बार पानी छांटा तो तुंरत ही उस चोर के बंधन टूट गये। उस समय वहाँ कोलाहल होने लगा। इससे यह क्या हुआ?

(गा. 781 से 787)

इस प्रकार विचार करता हुआ ऋतुपर्ण राजा परिवार सहित वहाँ आया विस्मय से नेत्र विकसित करके दाँत की कांति से अधरो को उज्ज्वल करता हुआ, वह नेत्र रूप कुमुद में कौमुदी रूपी दवदंती को देखकर उसके प्रति इस प्रकार बोला– हे यशस्विनी! सर्वत्र मत्स्य न्याय का निषेध करने के लिए राजधर्म स्थापित किया हुआ है, जिससे दुष्ट जनों का निग्रह और शिष्ट जनों का पालन होता है। राजा पृथ्वी का कर, लेकर उससे चोर आदि के उपद्रव से रक्षा करता है अन्यथा चोर आदि दुष्ट लोगों का किया हुआ पाप उसे लगता है। इससे हे वत्से! यदि मैं इस रत्न के चोर का निग्रह नहीं करूँ तो फिर लोक निर्भय होकर परधन हरण करने को तत्पर हो जावे। वैदर्भी बोली– हे तात! मेरी दृष्टि से देखने पर भी यदि देहधारी का विनाश हो फिर मेरा श्राविका की कृपालुता किस काम की? यह चोर मेरी शरण में आया है, अतः हे तात! इसका अपराध क्षमा करो। इसकी पीड़ा का दुष्ट रोग की तरह मुझ में संक्रमण हो गया है। इस प्रकार इस महासती और धर्मपुत्री के अतिआग्रह से ऋतुपर्ण राजा ने चोर को छोड़ दिया। छूट जाने पर चोर ने पृथ्वी की रज से ललाट पद तिलक करके दवदंती को कहा कि आप मेरी माता हो तत्पश्चात प्राणदान का उपकार रातदिन भी न भूलता हुआ वह चोर प्रतिदिन वैदर्भी के पास आकर उनको प्रणाम करता था।

(गा. 788 से 791)

एक बार वैदर्भी ने चोर को पूछा कि तू कौन है? और कहां से आया है? यह निःशंक होकर कहे तब चोर बोला– तापसपुर नामक नगर में विपुल संपति का बसंत नाम का सार्थवाह है, उसका मैं पिंगल नाम का दास हूँ। वासनों में आसक्त हो जाने पर उनसे पराभव होने पर मैंने उस बसंत सेठ के घर में सेंध मारकर उसका सारभूत खजाना लेकर रात को वहाँ से भाग गया। हाथ में वह द्रव्य लेकर प्राण की रक्षा करने के लिए मैं भाग रहा था कि इतने में रास्ते में लुटेरे मिले। उन्होंने मुझे लूट लिया। दुष्टजनों की कुशलता कितनी ही हो अंततः कहीं न कहीं तो होनी होती ही है तब यहाँ आकर इन ऋतुपर्ण राजा की सेवा में रहना। मनस्वी व्यक्ति दूसरे किसी की सेवा करते नहीं, यदि करे तो राजा की सेवा करते हैं। एक बार मैं राजमहल में घूम रहा था तो वहाँ पर मैंने नीच बुद्धि से चंद्रवती का रत्नकंड पड़ा हुआ देखा। परस्त्री को देखकर दुर्बुद्धि व्यभिचारी की तरह उस करंडक का हरण कर लेने का मेरा मन चलित हो गया।

(गा. 792 से 804)

तब चील जैसे हार को उठा लेती है उसी प्रकार मैंने उस रत्नकंरडक का हरण कर लिया। तब पैर तक उतरीय वस्त्र करके मैं वहाँ से बाहर निकला। इतने में महाचतुर ऐसे ऋतुपर्ण राजा ने मुझ में अनेक चोर के लक्षण देखकर शीघ्र मुझे पहचान लिया, क्योंकि चतुर जन को कुछ भी अलक्ष्य नहीं है। पश्चात राजा की आज्ञा से तुरंत ही रक्षकपुरूषों ने मुझे बाँध लिया और मुझे वध स्थान पर ले चले। उस समय दूर से ही आपकी शरण अंगीकार करके तार स्वर में पुकार करके मुझे बध्य मेंढे की तरह आपने छुड़ा दिया। हे माता! जब आप तापसपुर में से चले गये तब विंध्याचल से लाए हुए हाथी की तरह बसंत सेठ ने भोजन भी छोड़ दिया। तब यशोभद्रसूरि और अन्य लोगों ने बहुत समझाया, तब सात दिन उपवास करके आठवें दिन उन्होंने भोजन लिया। एक बार लक्ष्मी से कुबेर जैसे ये बंसत सेठ महामूल्यवान भेंट लेकर कुबेर राजा को मिलने गये। उनकी भेंट से संतुष्ट होकर कुबेर राजा ने छत्र चंवर के चिह्नों के साथ तापसपुर का राज्य बसंत सेठ को दे दिया।

(गा. 805 से 812)

उन्होंने अपना सामंत का पद देकर बसंत श्री शेखर ऐसा नाम स्थापित किया। कुबेर राजा से विदा करे हुए बसंत सेठ बंबावाद्य के नाद के साथ तापसपुर आये और उस नगर के राजा का पालन करने लगे। इस प्रकार उस चोर की हकीकत सुनकर वैदर्भी बोली– हे वत्स! तूने पूर्व में दुष्कर्म किया है, इससे अब दीक्षा लेकर संसार समुद्र से तिर जा। पिंगल ने कहा माता की आज्ञा प्रमाण है। उस समय वहाँ विचरते विचरते दो मुनि आ पहुँचे। वैदर्भी ने निर्दोष भिक्षा से उनको प्रतिलाभित किया और पूछा कि भगवान। यह पुरूष यदि योग्य हो तो प्रसन्न होकर इसे दीक्षा दो। उन्होंने कहा योग्य है। तब पिंगल ने व्रत लेने की याचना की। उसे देवग्रह में ले जाकर उसी समय दीक्षा दे दी।

(गा. 813 से 818)

अन्यदा विदर्भ राजा ने यह समाचार सुने कि नल राजा उनके अनुज बंधु कुबेर के साथ द्युत में राज्यलक्ष्मी हार गये और कुबेर ने उनको प्रवासी कर दिया। वे दमयंती को लेकर एक महाअटवी में घुसे हैं। उसके बाद वे कहाँ गये? जीवित हैं या मर गये? यह कोई भी नहीं जानता। राजा ने यह बात रानी को कही। यह सुनकर पुष्पदंती रानी ने बहुत रूदन किया। स्त्रियों को आतुरता में

नेत्राक्षु दूर नहीं होते। तब राजा ने हरिमित्र नाम के एक आज्ञाचतुर राजबटुक को नल राजा की खोज में भेजा। नल और दवदंती को सर्वत्र खोजता वह राजबटुक अचलपुर में आया। वहाँ उसके राजसभा में प्रवेश किया। राजा के समक्ष आने पर उसको चंद्रयशा ने पूछा कि पुष्पदंती और उसका परिवार कुशल तो है ना। हरिमित्र बोला– हे ईश्वरी! देवी पुष्पदंती और उनका परिवार तो कुशल हैं, परंतु नल और दवदंती की कुशलता के विषय में चिंता है? देवी ने पूछा– अरे! यह क्या बात कहते हो? तब बटुक ने नल और दवदंती की द्यूत से हुई संपूर्ण दुःभव हालत कह सुनाई। जिसे सुनकर चंद्रयशा रोने लगी। उसे देखकर पूरा राजलोक भी हर्ष वार्ता का अनध्यायी हो वैसे रूदन करने लगा। सब को दुखातुर देख उसके उदर में क्षुधा लगी होने से वह बटुक दानशाला में गया। कारण कि दानशाला भोजन दान करने में चितामणी स्वरूप है।

(गा. 819 से 829)

वहाँ वह भोजन करने बैठा। उस समय दान शाला की अधिकारिकी के रूप में बैठी हुई अपने स्वामी की पुत्री दवदंती को उसने पहचान लिया। शीघ्र ही रोमांचित हो उसने दवदंती के चरणों में वंदना की। क्षुधा की कथा तो वह भूल गया, और हर्ष से प्रफुल्लित नेत्र से वह बोला हे देवी! ग्रीष्मऋतु में लता की भांति आपकी ऐसी अवस्था कैसे हो गई? आज सद्भाग से आपको जीवित देखा इससे सब को भी शुभ हुआ। इस प्रकार दवदंती को कहकर वह बटुक ने शीघ्र ही देवी चंद्रयशा के पास जाकर बधाई दी कि आपकी दानशाला में ही दवदंती है। यह सुनकर चंद्रयशा शीघ्र ही दानशाला में आई और कमलिनी की हंसी हो वैसे मिली। उसने दवदंती को आलिंगन किया, बाद में बोली हे वत्से! मुझे धिक्कार है। क्योंकि अद्वितीय सामुद्रिक लक्षणों से स्पष्ट जानने पर भी मैं तुझे पहचान न सकी। हे अन्धे! तूने भी आत्मगोपन करके मुझे क्यों छला? कभी दैवयोग में ऐसी दुर्दशा हो भी जाय तो भी अपने मातृकुल में क्या लज्जा रखनी। हे वत्से! तूने नलराजा को छोड़ा था उन्होंने तुझे छोड़ दिया।

(गा. 830 से 835)

परंतु अवश्य उन्होंने ही तुझे छोड़ दिया होगा। कारण कि तू तो महासती है, इससे तू उनको नहीं छोड़ सकती। दुर्दशा में आए पति को तू छोड़ दे तो जरूर सूर्य पश्चिम में उदित हो जाय। अरे नल! तुमने इस सती को कैसे छोड़ दिया।

उसने अपने पास ही क्यों नहीं रखा ऐसी सती प्रिया को छोड देना यह क्या तेरे कुल को शोभा देता है? हे वत्से! मैं तेरे दुख को ग्रहण करती हूँ इससे तू दुख को त्याग दे। और मैंने तुझे पहचाना नहीं अतः तू मेरा अपराध क्षमा कर। फिर बोले! अंधकार रूप सर्प में गरूड रूप और कृष्ण पक्ष की रात्रि में भी प्रकाशित ऐसा जो तिलक तेरे जन्म से ही ललाट में सहज उत्पन्न हुआ था वह कहाँ गया? ऐसा कह अपने मुखकमल में से थूक का रस लेकर उसके द्वारा वैदर्भी के ललाट का उसने मार्जन किया और बारंबार उसके मस्तक को सूँघने लगी।

(गा. 836 से 841)

उस समय तत्काल अग्नि में से तपा कर निकाले स्वर्ण पिंड की तरह और मेघ में से मुक्त हुए सूर्य की तरह उसका ललाट चमकने लगा। तब चंद्रयशा ने दवदंती को देवता की प्रतिमा की भांति गंधोदक से अपने हाथ से नहलाया। और मानो ज्योत्सना के रसमय हो, ऐसे दो उज्ज्वल और सूक्ष्म वस्त्र उसको दिये, जो कि उसने धारण किये। तब हर्षरूपी जल की तलैया जैसी चंद्रयशा प्रीति युक्त वैदर्भी को लेकर राजा के पास आई।

(गा. 842 से 845)

उस समय सूर्य अस्त हो गया, काजल से भाजन भरे या सुई बिंधाई जाय ऐसे सघन अंधकार से आकाश भर गया। परंतु उस गाढ अंधकार को छड़ीदारों ने रोक रखा हो, वैसी वैदर्भी के तिलक तेज से वह राज्यसभा में घुस नहीं सका। राजा ने देवी से पूछा– इस समय सूर्य अस्त हो गया है और यहाँ पर दीपक या अग्नि भी नहीं है तो भी दिन जैसा प्रकाश कैसे हो रहा है? तब रानी ने ज्योतिरूप जल के बड़े द्रह जैसा और जन्म से ही सहज सिद्ध हुआ वैदर्भी का भालतिलक राजा को बतलाया। तब राजा ने कौतुक से तिलक का अपने हाथ से ढंक दिया, तब अंधकार से सभाग्रह गिरि गुफा जैसा हो गया। तब राजा ने हाथ उठाकर अत्यंत हर्ष को पाए हुए पिता रूप होकर दमयंती के राज्य भ्रंश आदि की कथा पूछी। दमयंती ने नीचा मुख करके रोते रोते नल कुबेर की द्यूत से लेकर सर्व कथा कह सुनाई। राजा ने अपने उतरीय वस्त्र से वैदर्भी के नेत्रों केा पोंछकर बोला कि हे पुत्री! रूदन मत कर, क्योंकि विधि से कोई बलवान नहीं है।

(गा. 846 से 853)

उस समय कोई देव आकाश में से उतरकर राज्यसभा में आया और अंजली जोड़ कर वैदर्भी को कहने लगा हे भद्रे! मैं पिंगल चोर हूँ। आपकी आज्ञा से दीक्षा लेकर विहार करते करते एक बार मैं तापसपुर में गया। वहाँ शमशान में कायोत्सर्ग करके रहा। इतने में चिता में से दावानल प्रसरने लगा। उससे मैं जलने लगा। तो भी धर्मध्यान से च्युत नहीं हुआ, स्वंयमेव आराधना की और नवकार मंत्र के स्मरण में तत्पर रहा। एवं पृथ्वी पर गिर पड़ा। वहाँ मेरा शरीर उस अग्नि में समाधिरूप हो गया। वहाँ से मरकर मैं पिंगल नाम का देव हुआ हूँ। देवगति में उत्पन्न होते ही अवधिज्ञान द्वारा मुझे ज्ञात हुआ कि दवदंती ने मुझे वध में से बचाकर दीक्षा लेने का उपदेश दिया था। उसके प्रभाव से मैं देवता हुआ हूँ। हे भद्रे! जो तुमने उस वक्त मुझ महापापी की अपेक्षा की होती तो मैं धर्म को प्राप्त किये बिना मृत्यु के पश्चात नरक में जाता। परंतु हे महासती! आपकी कृपा से मैंने स्वर्गलक्ष्मी को प्राप्त किया है। अतः मैं आपको देखने आया हूँ, आपकी विजय हो। ऐसा कहकर सात कोटि सुवर्ण की वृष्टि करके वह देव बिजली के समूह के सदृश आकाश में अंतर्ध्यान हो गया। इधर साक्षात आर्हत धर्म की आराधना का फल देखकर विद्वान राजा ऋतुपर्ण ने आर्हत धर्म को अंगीकार किया।

(गा. 854 से 863)

तब अवसर प्राप्त हुआ जानकर हरिमित्र राजबटुक ने कहा कि हे राजन्! अब आज्ञा दो कि देवी दवदंती पिता के घर जावे क्योंकि पितृगृह से वह चिरकाल से विलग है उस वक्त चंद्रयशा ने भी वैसा करने की अनुमति दे दी। तब राजा ने बड़े सैन्य के साथ वैदर्भी को विदर्भ देश की तरफ रवाना किया। दवदंती को आता सुनकर भीमराजा अतिशय प्रेम वश दुर्धरवेग वाले वाजि अश्व पर चढकर शीघ्र ही गये और दवदंती के पास पहुंचे। पिताजी को सामने आता हुआ देख ही वैदर्भी ने बहिन का त्याग कर दिया पैरों से चलती हुई सस्मित मुखकमल से सामने दौडी। और पिताजी के चरणकमल मे गिर पड़ी। चिरकाल से की उत्कंठा से मिले पिता और पुत्री के नेत्र जल से वहाँ की पृथ्वी भी भीग गई। साथ में अपनी माता पुष्पदंती भी आई हुई है, ये समाचार मिलते ही गंगानदी को यमुना नदी मिले वैसे दृढ आलिंगन से दोनों ही मिले। उनके गले में लिपटी नलप्रिया ने मुक्तकंठ से रूदन किया।

(गा. 864 से 872)

प्राणियों को इष्ट जन के मिलने से दुख ताजा होता है। तब वे जल से मुखकमल धोकर दुख के उदगार व्यक्त कर परस्पर बातें करने लगे। पुष्पदंती ने वैदर्भी को उत्संग में बिठाकर कहा कि हे आयुष्मति। सद्भाग्य से हमें तेरे दर्शन हुए हैं, इससे विदित होता है कि अभी हमारे भाग्य जागृत हैं। अब अपने घर रहकर सुख से समय व्यतीत कर। दीर्घकाल में तुझे पति दर्शन भी हो जायेंगे। क्योंकि जीवित नर ही लाभ प्राप्त करते हैं। राजा ने हरिमित्र को संतुष्ट होकर पांच सौ गाँव दिये। और कहा कि यदि नल राजा को ढूँढ लाओगे तो तुझे आधा राज्य दे दूँगा। उसके बाद राजा ने नगर में जाकर दवदंती के आगमन का उत्सव किया और सात दिन तक देवअर्चना और गुरूपूजा विशेष प्रकार से कराई। आठवें दिन विदर्भपति ने दवदंती से कहा कि अब नलराजा के समाचार शीघ्र मिले, ऐसा करवाने का मैं पूरा प्रयत्न करूँगा।

इधर जिस समय नलराजा दमयंती को छोड़कर अरण्य में घूम रहे थे, उस समय एक ओर वन के तृण में से निकलता हुआ धुँआ उनको दिखाई दिया। अंजन के जैसा श्याम रंग के उस धुँए के गोरे आकाश में ऐसे व्यापक हो गए कि जैसे पंखवाला कोई गिरी आकाश में जा रहा हो, ऐसा भ्रम होने लगा। एक निमेष मात्र में तो वहाँ भूमि में से विद्युत वाला मेघ के जैसा ज्वालामाल से विकराल अग्नि का भभका निकला। थोड़ी देर में जलते बांस की तड़तड़ाहट और वनवासी पशुओं का आनंद स्वर सुनने में आया। ऐसा दावानल प्रदीप्त होने पर उसमें से अरे! क्षत्रियोतम ईश्वाकुवंशी उर्वीश! मैं तुम्हारा कुछ उपकार करूँगा, अतः मेरी रक्षा करो। ऐसे शब्द सुनाई देने पर उन शब्दों के अनुसार नलराजा गहन लताग्रह के समीप आए। वहाँ उसके मध्य में रहा हुआ रक्षा करो, रक्षा करो ऐसा बोलता हुआ एक विशालकाय सर्प उनको दिखाई दिया। नल ने पूछा कि हे सर्प! तू मुझे मेरे नाम को और मेरे वंश को किस प्रकार जानता है? और तुझे ऐसी मनुष्य की वाणी कैसे प्राप्त हुई वह कह। सर्प बोला– मैं पूर्व जन्म में मनुष्य था, उस जन्म के अभ्यास से इस भव मे भी मुझे मानुषी भाषा प्राप्त हुई है।

(गा. 873 से 884)

फिर हे यशोनिधि– मुझे उज्ज्वल अवधिज्ञान है। इससे मैं तुमको तुम्हारे नाम को और तुम्हारे वंश को जानता हूँ। इस प्रकार सुनकर नलराजा को दया आई। इससे उन्होंने इस कांपते सर्प को खींच लेने के लिए वनलता के उपर

अपना वस्त्र डाला। उस वस्त्र का किनारा पृथ्वी को छू गया। तब वाला द्वारा उर्मिका चींटी के जैसे उस सर्प ने अपने शरीर से उस वस्त्र को लपेट लिया। तब सर्प से वेठित हुए उस उत्तरीय वस्त्र को कुएं में से रज्जु की तरह कृपालु राजा ने उत्कर्ष के साथ खींच लिया। वहाँ से आगे चलकर उखर भूमि पर जहाँ अग्नि लगे नहीं, वहाँ उस सर्प को रखने की इच्छा करते समय उस सर्प ने राजा नल के हाथ पर डंक मारा। तब पसीने की बिंदु की जैसे उस नाग ने भूमि पर आच्छोटन पूर्वक फेंकते रखते हुए नल ने कहा– हे भद्र! तूने कृतज्ञ होकर यह अच्छा प्रत्युपकार किया। मैं तेरा उपकारी हूं। उसको वापिस ऐसा ही बदला मिलना चाहिए। परंतु यह तो तेरी जाति का ही गुण है कि जो तुझको दूध पिलाता है उसको ही तुम काटते हो। इस प्रकार नल राजा कह ही रहे थे कि उनके शरीर में विष पसरने लगा। इससे उनका पूरा शरीर अधिज्य किए धनुष की जैसे कुबडा हो गया। उस समय नलराजा के केश प्रेत की तरह पीले हो गये। उंट के जैसे होठ लंबे हो गये और रंक की जैसे हाथ पैर दुबले और उदर स्थूल हो गया। सर्प के विष से ग्रसित नल के क्षण भर में नट की तरह सर्व अंग विभत्स और विकृत आकृति वाले हो गये। इससे उसने सोचा कि ऐसे रूप से मेरा जीना वृथा है अतः परलोक में उपकारी ऐसी दीक्षा ग्रहण करूँ।

नल इस प्रकार चिंतन कर रहे थे कि इतने में उस सर्प ने सर्प का रूप छोडकर दिव्य अलंकार और वस्त्र को धारण करने वाला तेजस्वी देव रूप प्रकट किया। तब वह बोला हे वत्स! तू खेद मत कर। मैं तेरा पिता निषध हूँ। मैंने तुझे राज्य देकर दीक्षा ली थी। दीक्षा के परिणामस्वरूप मैं ब्रहमदेवलोक में देवता हुआ हूँ। वहाँ अवधिज्ञान द्वारा मैंने तुझे ऐसी दीक्षा को प्राप्त हुआ देखा।

(गा. 894 से 897)

तब माया से सर्परूप होकर दुर्दशा में पड़े तेरे अंगों को जैसे बड़े फोड़े के उपर फफोला हो, वैसे मैंने ऐसी विरूपता की है परंतु मेरी की हुई यह विरूपता कड़वे औषध के पान के जैसे तेरे उपकार के लिए ही है, ऐसा मानना। कारण कि तूने पहले जिन राजाओं को जीत कर दास बनाया है, वे सब तेरे शत्रु बने हुए हैं, वे तेरे इस विरूपने से तुझे पहचानेंगे नहीं, अतः कुछ भी उपद्रव करेंगे नहीं। अभी दीक्षा लेने का मनोरथ भी करना नहीं, कारण कि यद्यपि तुझे इतनी ही भूमि चिरकाल तक भोगनी है। जब तेरा दीक्षा का समय आएगा, तब उत्तम

मुहुर्त्त बताने वाले ज्योतिषी की तरह मैं आकर तुझे बता दूँगा। इसलिए अब स्वस्थ हो जा। हे पुत्र! यह श्रीफल और रत्न का करंडक ग्रहण कर और यत्न से क्षात्रव्रत की तरह इसकी रक्षा करना। जब तुझे तेरे स्वरूप की इच्छा हो तब यह श्रीफल फोड़ना, उसमें तू अदूष्य देवदूष्य वस्त्र देखेगा और यह रत्न का करंडक खोलेगा तो उसमें मनोहर हार आदि आभूषण देखेगा। जब तू इन वस्त्रों और आभरणों को धारण करेगा, तब तू पहले के समान देवाकृति तुल्य रूप को प्राप्त कर लेगा। नल ने पूछा– पिताजी! आपकी वधू दवदंती को जहाँ मैंने छोड़ा था वहाँ ही रही है, या अन्य स्थान पर गई है वह कहो। तब उस देव ने जिस स्थान पर उसका त्याग किया था उस स्थान से लेकर दवदंती विदर्भ देश में अपने पिता के यहाँ गई, वहाँ तक का सर्व वृत्तांत उसके सतीत्वपने की स्थितिपूर्वक कह सुनाया। तब उन्होंने नल से कहा– हे वत्स! तू अरण्य में क्यों भटक रहा है? तेरी जहां जाने की इच्छा हो, वहाँ मैं तुझे पहुँचा दूँ। नल ने कहा हे देव! मुझे सुसुझार नगर पहुँचा दो, तब वह देव वैसा करके अपने स्थान को चला गया।

(गा. 898 से 912)

नल राजा उस नगर के समीपस्थ नंदनवन में रहे, वहाँ एक सिद्धायतन जैसा कोई चैत्य उसको दिखाई दिया। उन चैत्य में कुब्ज बने नल ने प्रवेश किया। उस चैत्य में श्री नेमिनाथ जी की प्रतिमा देखी, तब उन्होंने पुलकित अंग से उनकी वंदना की। नल सुसुमार नगर के द्वार के पास आए। उस समय उस नगर में एक उन्मत हाथी बंधन तोड़ कर भ्रमण कर रहा था। पवन भी जो उसके ऊपर के भाग को स्पर्श करे तो वह आसन स्कंधप्रदेश को कंपित करता था। ऊपर स्फुर्ति से सूंड द्वारा वह पक्षियों को भी खींच लेता था। महावत हषि विष सर्प की भांति उसकी दृष्टि में भी पड़ते नहीं थे। और महावत की तरह वह उद्यान में वृक्षों को भी तोड रहा था। उस समय वहाँ का राजा दधिपर्ण जो कि उस गजेंद्र को वश में करने में असमर्थ थे, वे किले के ऊपर चढ कर ऊँचे स्वर में बोले कि जो कोई मेरे इस गजेंद्र को वश में कर देगा उसको अवश्य मैं वांछित फल दूँगा। क्या कोई यहाँ गजारोहण कला में धुरंधर है? उस वक्त कुबड़े नल ने कहा वह हाथी कहाँ हैं? उसे मुझे बताओ। आपके देखते ही मैं उसे वश में कर लूँगा। इस प्रकार वह कुब्ज बोल ही रहा था कि इतने में तो वह गजेंद्र ऊँची गर्जना करता हुआ उसके पास आया, तब चरण से मानो पृथ्वी को स्पर्श न करता हो, वैसे वह

कुबड़ा हाथी के सामने दौड़ा। उस समय अरे कुबडा! मरने को मत जा, मरने जा नहीं, दूर हट जा। इस प्रकार बार बार लोग उसे कहने लगे। तो भी वह तो केसरीसिंह की तरह निःशंक उसके सामने गये। हाथी के पास आकर उसे छलने के लिए गेंद की तरह प्रसरने हटने कूदने पड़ने और लौटने लगा।

(गा. 813 से 923)

बार बार उसकी पूंछ पकडकर उस पराक्रमी नल ने सर्प को जैसे वादी से खेदता है वैसे ही उसे बहुत खेदित कर दिया। पश्चात श्रम को जीतने वाले नलराजा उस गजेंद्र को शमित हुआ देख आरोहक में अग्रसर हों, वैसे उस पर गरूड की भांति उड़ कर चढ बैठे। आगे के आसन पर बैठकर उसके स्कंध पर दो पैर रख कुंभस्थल पर मुष्टिओं के द्वारा ताड़न करके उसके बंधन को ग्रंथि कर दृढ कर ली। फिर कपोल पर ताड़न करने से मुख फाड़कर चीत्कार शब्द करते उस हाथी को उस कुबड़े नल ने अंकुश द्वारा नाचते नचाते आगे चलाया। उस वक्त लोगों ने उसकी जय घोषणा की और राजा ने स्वंय उसके गले में सुवर्ण की चैन पहनाई। बलवान नल ने उस हाथी को मोम का हो, ऐसा नरम कर दिया। उसे उसके बंधन स्थान में ले जाकर उसकी कक्षा नाड़ी द्वारा नीचे उतर गया। वहाँ से निर्मल यशवाला नल राजा के पास जाकर उसको प्रणिपात करके उनके पास बैठे।

(गा. 924 से 930)

उस समय दधिपर्ण ने पूछा, हे गजशिक्षा चतुर! तू इसके अतिरिक्त और भी कोई कला जानता है? तुझ में अनेक कलाएँ संभावित हैं। नल ने कहा– हे राजन्! दूसरा तो मैं क्या कहूँ, परंतु सूर्यपाक रसवती भी मैं करना जानता हूँ वह देखने की आपकी इच्छा है? सूर्यपाक रसोई के कुतुहूली राजा ने तुरंत राजमहल में जाकर उसे कुबड़ को तंदुल शाक और वेशवार आदि लाकर दे दिये। तब नल ने सूर्य की धूप में उन पात्रों को रखकर सारी विद्य का स्मरण करके तत्काल दिव्य रसोई तैयार कर दी। तब मानो कि कोई कल्पवृक्ष ने दी हो, ऐसी वह मनोहर रसोई राजा ने परिवार के साथ खाई। श्रम को दूर करने वाली और परम आनंद को देने वाली रस रसवती का स्वाद लेकर दधिपर्ण राजा ने पूछा कि इस प्रकार की रसवती तो मात्र नलराजा ही बना सकते हैं, दूसरा कोई जानता ही नहीं हैं, क्योंकि चिरकाल तक नलराजा की सेवा करते हुए मुझे इस रसवती का

परिचय है। तो क्या तुम नल हो ? परंतु नल की ऐसी विरूप आकृति नहीं है। फिर उस नगर से और इस नगर में दौ सो योजन का अंतर है, तो वे यहां कैसे आ सकते हैं। इसी प्रकार वह भरतार्धक राजा एकाकी भी कैसे हो सकते हैं ?

(गा. 931 से 939)

फिर मैंने तो देवताओं और विद्याधरों का भी पराभव करे वैसा उनका रूप देखा है, अतः तू तो वह नहीं है। ऐसा कहकर उस पर संतुष्ट हुए दधिपर्ण उस कुबड़े को वस्त्र अलंकार आदि और एक लाख टंक एक प्रकार का द्रव्य तथा पांच सौ गांव दिये। कुब्ज नल ने पांच सौ गांव के अतिरिक्त अन्य सभी स्वीकार कर लिया। तब राजा ने कहा, रे कुब्ज! अन्य और कुछ भी तुझे चाहिए क्या ? तब कुब्ज ने कहा आपके राज्य की सीमा में से शिकार और मदिरापान का निवारण कराओ ऐसी मेरी इच्छा है, उसे आप पूर्ण करो। राजा ने उसके वचन को मान्य करके उसके शासन में सर्वत्र शिकार और मदिरापान की वार्ता को भी बंद करवा दी।

(गा. 940 से 943)

एक बार राजा दधिपर्ण ने उस कुबड़े को एंकात में बुलाकर पूछा कि तू कौन है ? कहाँ से आया है ? और कहाँ का निवासी है ? वह बता। वह बोला– कोशलनगरी में नल राजा का मैं हुंडिक नाम का रसोइया हूँ, और नल राजा के पास से मैंने सर्व कलाएं सीखी है। उसके भाई कुबेर ने द्यूतकला से नल राजा की सर्व पृथ्वी जीत ली, और नलराजा दवदंती को लेकर अरण्य में गये। वहाँ वे शायद मर गये होंगे ऐसा जानकर मैं आपके पास आया। मायावी और पात्र को नहीं पहचानने वाले उनके भाई कुबेर का मैं आश्रित नहीं हुआ। इस प्रकार नलराजा के मरण की बात सुनकर दधिपर्ण राजा हृदय वज्राहत हो परिवार के साथ आक्रंद करने लगे। तब नेत्राक्षु के मेघरुप दधिपर्ण ने नलराजा का प्रेतकार्य किया कुबडे ने वह स्मितहास्यपूर्वक सब देखा।

(गा. 944 से 949)

एक बार दधिपर्ण राजा ने दवदंती के पिता के पास किसी कारण से मित्रता के कारण कोई एक दूत भेजा। भीमराजा ने दूत का सत्कार किया। वह सुखपूर्वक उनके पास रहा। एक बार बात बात में प्रसंग आने पर इस वक्ता दूत ने कहा कि एक नलराजा का रसोईया मेरे स्वामी के पास आया है, वह नलराजा के पास

सूर्यपाक रसोई सीखा हुआ है। यह सुनकर दवदंती ऊँचे कान करके पिता से बोली– पिताजी! किसी दूत को भेजकर तलाश कराओ कि वह रसोइया कैसा है? क्योंकि नलराजा के अतिरिक्त कोई सूर्यपाक रसोई जानता नहीं है हो सकता है कि वे गुप्तवेशधारी नलराजा ही हों! तब भीमराजा ने स्वामी के कार्य में कुशल ऐसा कुशल नाम का एक उतम ब्राह्मण को बुलाकर सत्कारपूर्वक आज्ञा दी कि तुम सुसुमारपुर जाकर राजा के उस नये रसोईये को देखो और वह कौनसी कौनसी कलाएं जानता है साथ ही उसका रूप कैसा है? यह देखकर निश्चय करो। आपकी आज्ञा प्रमाण है ऐसा कह वह ब्राह्मण शुभ शकुन से प्रेरित हो शीघ्र सुसुमारपुर आया। वहाँ पूछता पूछता वह कुबडे के पास गया और उनके पास बैठा।

(गा. 950 से 958)

उनके सर्व संग विकृति वाले देखकर उसे बहुत खेद हुआ। उसने सोचा कि यह कहाँ? और नलराजा कहाँ? कहाँ मेरू और कहाँ सरसों। दवदंती को वृथा ही नल की भाँति हुई है। ऐसा निश्चय मन में अच्छी तरह धारण करके वह नलराजा के निदांगर्भित दो श्लोक बोला, उसमें उसने कहा कि सभी निर्दय, निर्लज्ज, निःसत्व और दुष्ट लोगों में नलराजा एक ही मुख्य है कि जिन्होंने अपनी स्त्री का त्याग किया। अपनी विश्वासी और मुग्धा स्त्री को अकेली छोड़कर चले जाते थे अल्पमति नलराजा के चरणों को उत्साह कैसे आया होगा? इस प्रकार बार बार वह बोलने लगा इससे यह सुनकर अपनी दवदंती को याद करते नलराजा नेत्रकमल में अनवरत अश्रु निपातित कर रोने लगे। जब ब्राह्मण ने पूछा कि तू क्यों रोता है? तब वह बोला, तुम्हारा करूणामय गीत सुनकर मैं रोता हूँ। तब कुबड़े ने उन श्लोकों का अर्थ पूछा, तब वह ब्राह्मण द्यूत से लेकर कुंडिनपुर पहुँचने तक की दवदंती की सारी कथा कह सुनाई। फिर कहा– अरे कुब्ज! तू सूर्यपाक रसोई बनाता है, ये सुसुमारपुर नगर के राजा के दूत ने आकर हमारे भीमराजा को कहा। यह सुनकर भीमराजा की पुत्री दवदंती ने अपने पिता को प्रार्थना पूर्वक कहा कि सूर्यपाक रसोई बनाने वाले नल ही होने चाहिये, दूसरा कोई वैसा नहीं है।

(गा. 957 से 966)

इसलिए तुझे देखने के लिए भीमराजा ने मुझे भेजा है, परंतु तुझे तो देखकर मुझे विचार होता है कि दुराकृतिवाला तू कुबडा कहाँ? और देव सदृश रूपवंत नल राजा कहाँ? कहाँ जुगनू और कहाँ सूर्य? परंतु यहां आते समय मुझे

शकुन बहुत अच्छे हुए थे, इससे यदि तू नल राजा न हो तो वह सब व्यर्थ जाए। इस प्रकार उस ब्राह्मण की बात सुनकर दवदंती को हृदय में ध्यान करता हुआ वह कुबडा अधिक अधिक रूदन करने लगा और अत्याग्रह से उस ब्राह्मण को अपने घर ले गया। पश्चात उसने इस प्रकार कहा कि महासती दवदंती और महाशय नलराजा की कथा कहने वाले तेरा किस प्रकार स्वागत करूं? ऐसा कहकर स्नान भोजन आदि से उसका सत्कार किया और दधिपर्ण के दिये हुए आभरणादि उसे दिये। वह कुशल ब्राह्मण कुशलक्षेम कुंडिनपुर वापिस लौटा। दमयंती को और उसके पिता को देखते हुए कुबड़े की सब बात कही। उसमें मुख्यतः उसने मदोन्नत हुए हाथी को खेदित करके उस पर आरोहण किया। साथ ही सूर्यपाक रसोई बनाई उसका भी उल्लेख किया। साथ ही राजा ने सुवर्णमाला, एक लाख टंक और वस्त्राभूषण दिये उसकी बात कही। स्वंय ने दो श्लोक बनाकर कहे और कुबड़े ने सत्कारपूर्वक उसे जो कुछ दिया सर्व हकीकत कह सुनाई। यह सब सुनकर वैदर्भी ने कहा पिताजी! नलराजा का ऐसा विरूप रूप आहार दोष से या कर्मदोष से हो गया होगा, परंतु गज शिक्षा में निपुणता ऐसा अदभूत दान और सूर्यपाक रसवती यह नलराजा के सिवा किसी से हो नहीं सकता। इसलिए हे तात! किसी भी उपाय से उस कुब्ज को यहाँ बुलाओं कि जिससे उसकी इंगितादि चेष्टाओं से परीक्षा कर लूंगी।

(गा. 967 से 978)

भीमराजा बोले– हे पुत्री! तेरा झूठा स्वंयवर रचा कर दधिपर्ण राजा को बुलाने के लिए पुरूष को भेजूँ। तेरा स्वंयवर सुनकर वह तुंरत ही यहाँ आएगा। क्योंकि वह तेरे पर लुब्ध था और तूने नल का वरण कर लिया। उस दधिपर्ण के साथ कुब्ज भी आएगा क्योंकि यह यदि नलराजा होंगे तो तुझे दूसरे वर को देने का सुनकर वह सहन नहीं कर सकेगा। फिर नल अश्व के हृदय के विशेषज्ञ हैं, इससे यदि वह कुबडा नल होगा तो रथ को हाँकते उस रथ के अश्व से ही वह पहचाना जा सकेगा। क्योंकि जब वह रथ चलाता है, तब उससे प्रेरित अश्व मानो पवन ही अश्वमूर्ति हो गए हों, वैसे पवनवेगी हो जाते हैं। साथ उनको आने का दिन भी नजदीक का ही दूँगा ताकि नल यहाँ शीघ्र ही आवें क्योंकि कोई दूसरा साधारण व्यक्ति भी स्त्री का पराभव सहन नहीं करता, तो नल राजा कैसे सहन कर सकते हैं।

(गा. 979 से 984)

इस प्रकार निर्णय करके भीमराजा ने दूत भेजकर सुसुमारपुर के दधिपर्ण को पंचमी के दिन दवदंती के स्वंयवर में आने का आमंत्रण भेजा। इसलिए कुंडिनपुर आने के लिए तत्पर हुआ दधिपर्ण राजा मन में सोचने लगा कि मैं वैदर्भी को प्राप्त करने का बहुत दिनों से इच्छुक हूँ। अब उसे प्राप्त करनेका अवसर आया, परंतु वह तो दूर है और स्वंयवर तो कल ही है, कल ही इतनी दूर कैसे पहुँचा जाए? अब क्या करूँ? ऐसी चिंता से वह थोडे पानी में मछली तड़पे जैसे तड़पने लगा।

(गा. 985 से 986)

यह समाचार सुनकर कुब्ज विचार में पड़ गया कि सती दमयंती दूसरे पुरूष की इच्छा ही नहीं कर सकती। तो मेरे होते तो उसे दूसरा कौन ग्रहण करा सकता है। इसलिए इस दधिपर्ण राजा को मैं वहाँ छः प्रहर में ही ले जाऊँ, जिससे उनके साथ मेरा भी प्रासंगिक गमन हो जावे। तब उसने दधिपर्ण को कहा तुम अति खेद या फिक्र मत करो, खेद या चिंता का जो कारण हो वह कहो क्योंकि रोग की बात कहे बिना रोगी की चिकित्सा होती नहीं है। दधिपर्ण ने कुब्ज को कहा नलराजा की मृत्यु हो गई है, इससे वैदर्भी दूसरी बार स्वंयवर कररही है। चैत्र मास की शुक्ल पंचमी को उसका स्वंयवर है। उस बीच मात्र छः प्रहर शेष हैं, इतने से समय में मैं वहाँ किस प्रकार पहुँचू? उनका दूत वहाँ से बहुत दिनों में जिस मार्ग से यहां आया मैं उस मार्ग से डेढ दिन में कैसे पहुँच सकता हूँ। इसलिए मैं तो दमयंती में व्यर्थ में ही लुब्ध हो रहा हूं। कुबड़े ने कहा हे राजन्! आप जरा भी खेद मत करो। आपको थोड़े ही समय में वहाँ पहुंचा दूँ, इसलिए मुझे आप अश्व सहित रथ दो।

(गा. 987 से 994)

राजा ने कहा स्वेच्छा से ही रथाश्व को ले आ। तब नल ने उत्तम रथ सर्व लक्षणों से लक्षित दो जातिवंत घोड़े ले लिए। उसकी सर्व कार्य में कुशलता देखकर दधिपर्ण विचार में पड़ गया कि यह कोई सामान्य पुरूष नहीं है, यह देव या कोई खेचर हो ऐसा लगता है। रथ में घोड़ो को जोतकर कुब्ज ने राजा को कहा अब रथ में बैठो, मैं तुमको प्रातःकाल में विदर्भानगरी में पहुँचा दूँगा। तब राजा तांबूलवाहक, छत्रधारक, दो चंवरधारी और कुब्ज इस प्रकार छःओ लोग सज्जित होकर रथ में बैठे। कुब्ज ने वो श्रीफल और करंडक को वस्त्र से कटि पर

बांधकर पंच नमस्कार का स्मरण करके घोड़ों की लगाम खींची। अश्व के हृदय को जानने वाले नल द्वारा चलाए गए वे रथ देवविमान की तरह स्वामी के मन के वेग से चलता। इतने में वेग से चलते रथ के पवन द्वारा दधिपर्ण राजा का उतरीय वस्त्र उड़ गया, मानो उसने नलराजा का अवतरण किया हो, वैसे दिखने लगे। दधिपर्ण ने कहा रे कुब्ज। क्षणभर के लिए रथ को रोक दे, जिससे पवन से उडा हुआ मेरा वस्त्र ले सकूँ। तब कुबड़ा हंस कर बोला– हे राजन्! आपका वस्त्र कहां है? उसके गिरने के पश्चात तो हम पच्चीस योजन दूर आ चुके हैं। उसे देखकर उसने कुब्ज सारथि को कहा कि इस वृक्ष पर जितने फल हैं, उन्हें गिने बिना भी मैं बता सकता हूँ।

(गा. 995 से 1005)

यह कौतुक मैं लौटते समय तुझे बताउंगा। कुब्ज ने कहा हे राजन्! आप कालक्षेप का भय किसलिए रखते हो? मेरे जैसा अश्व के हृदय को जानने वाला सारथि होने पर यह भय रखना नहीं और मैं तो एक मुष्टि के प्रहार से वृक्ष के सर्व फलों को मेघ के जलबिंदु के समान पृथ्वी पर आपके सामने ही गिरा दूँ। तब राजा ने कहा यदि ऐसा है तो रे कुब्ज! तू ये फल गिरा दे ये संख्या में ठीक अट्ठारह हजार होंगे, यह कौतुक देख। तब कुब्ज ने उनको गिरा दिये और राजा ने वे गिने तो बराबर अट्ठारह हजार हुए, एक भी अधिक या कम हुआ नहीं। कुब्ज ने दधिपर्ण की याचना से अश्वहृदय विद्या उसे दी और उसके पास से संख्यविद्या यथाविधि स्वंय ने ग्रहण की। प्रातःकाल होने पर तो जिनका सारथि कुब्ज है, ऐसा रथ विदर्भनगरी के पास आ पहुंचा। यह देखकर राजा दधिपर्ण का मुख कमल के समान विकसित हो गया।

(गा. 1006 से 1012)

इधर इसी समय वैदर्भी ने रात्रि के शेष भाग में एक स्वप्न देखा। तब हर्षित होकर अपने पिता के समक्ष इस प्रकार कह सुनाया कि आज रात्रि के शेष भाग में जब मैं सो रही थी, इतने में निवृति देवी के द्वारा कोशलानगरी का उद्यान आकाशमार्ग से यहाँ लाया हुआ मैंने देखा। इतने में एक पुष्पों और फलों से सुशोभित आम्रवृक्ष मैंने देखा। उसकी आज्ञा से मैं उस पर चढ गई। पश्चात उस देवी ने मेरे हाथ में एक प्रफुल्लित कमल दिया। मैं जब वृक्ष पर चढी तब उस समय कोई एक पक्षी, जो कि पहले से ही उस पर चढा हुआ था, वह तत्काल

पृथ्वी पर जा गिर पडा। इस प्रकार स्वप्न का वृत्तांत सुनकर भीमराजा बोले– हे पुत्री! यह स्वप्न अति शुभ फलदायक है। जो तूने निवृत्ति को देखा, वह तेरी उदित हुई पुण्यराशि समझना। उसका लाभ हुआ आकाश में जो उद्यान तुमने देखा इससे यह समझना कि तेरी पुण्यराशि तुझे कोशलानगरी का ऐश्वर्य देगी। आम्रवृक्ष पर चढने से तेरा पति के साथ जल्दी ही समागत होगा, साथ ही पहले से चढा हुआ जो पक्षी वृक्ष से गिरा, वह कुबेर राजा राज्य से भ्रष्ट होंगे। इस प्रकार निःसंशय तू समझना। प्रातःकाल में तुझे स्वप्न दर्शन हुआ है, इससे आज ही तुझे नलराजा मिलेंगे, क्योंकि प्रभातवेला में स्वप्न शीघ्र फलदायी होते हैं।

(गा. 1013 से 1020)

इस प्रकार पिता पुत्री बात कर रहे थे कि इतने में दधिपर्ण राजा के नगर द्वार के पास आने के समाचार एक मंगल नाम के पुरूष ने महाराजा को दिये । शीघ्र ही भीमराजा दधिपर्ण के पास आए और मित्र की तरह आलिंगन करके मिले। उसको स्थान आदि देकर, उनका सत्कारादि करके कहा कि हे राजन्! आपका कुबड़ा रसोइया सूर्यपाक रसवती करना जानता है वह हमको बताइये। उसे देखने की हमको बहुत इच्छा है, अभी अन्य बातें करने की जरूरत नहीं है। तब दधिपर्ण ने वह रसोई बनाने की कुबड़े को आज्ञा दी। तब उसने कल्पवृक्ष की भांति पलभर मात्र में वह करके बता दी। तब दधिपर्ण के आग्रह से साथ ही स्वाद की परीक्षा करने के लिए वह रसवती, भीमराजा ने परिवार के साथ खाई। उस रसोई के भात से भरा हुआ एक थाल दवदंती ने मंगाया और खाया। उस स्वाद से उसने जान लिया कि यह कुबडा नलराजा ही है। दवदंती ने अपने पिता को कहा कि – पूर्व में किसी ज्ञानी आचार्य ने मुझे कहा था कि इस भारतक्षेत्र में सूर्यपाक रसोई नल के अतिरिक्त अन्य कोई जानता नहीं है, अतः यह कुबड़ा था हुंड़ा जो भी हो, यह नलराजा ही हैं। इसमें जरा भी संशय नहीं है। इनके ऐसे होने में अवश्य ही कोई कारण है।

(गा. 1021 से 1028)

जिस प्रकार इस रसोई से नल की परीक्षा ली, उसी प्रकार दूसरी भी एक परीक्षा है, कि यदि नलराजा की अंगुली का मुझे स्पर्श हो तो तत्काल मेरे शरीर में रोमांच हो जाए। इसलिए यह कुबड़ा अंगुली से तिलक रचता हो वैसे मेरा स्पर्श करो। इस निशानी से नलराजा वास्तविक रूप से पहचान लिये जाएंगे। भीमराजा

ने भी उसको पूछा तू नलराजा है? वह बोला– तुम सभी भ्रांत हुए हो, क्योंकि देवता जैसे स्वरूपवान नलराजा और कहाँ दिखने में भी असुंदर ऐसा मैं कहाँ? तब राजा के अति आग्रह से वह कुबड़ा आर्द्र गीले अक्षर को मार्जन करने के लिए जैसे पत्र को छूते हैं वैसे अतिलाघव से अंगुली द्वारा दवदंती के वक्षःस्थल का स्पर्श किया। अंगुली के सहज मात्र स्पर्श होते ही अद्वैत आनंद मिलने से वैदर्भी का शरीर बिल्ववृक्ष जैसे रोमांचित हो उठा। तब वैदर्भी ने कहा कि हे प्राणेश! उस समय तो मुझे सोई हुई छोड़कर चले गए होंगे, परंतु अब कहाँ जायेंगे?

(गा. 1029 से 1034)

अतिदीर्घ काल पश्चात आप मेरी दृष्टिपथ में आए हो। इस प्रकार बार बार कहती हुई उस कुब्ज को अंतर्गह में ले गई। वहाँ कुब्ज ने उस श्रीफल और करंडक में से वस्त्रांलकार निकाले। उसे धारण करने से अपने असली स्वरूप को प्राप्त हुये। वैदर्भी ने वृक्ष को लता के सदृश अपने यर्थाथ स्वरूपवाले पति का सर्वांग आलिंगन किया। तब कमलनयन नलराजा द्वार के पास आये। तब भीमराजा ने आलिंगन करके अपने सिंहासन पर उसे बिठाया। आप ही मेरे स्वामी हो यह सब आपका है। इसलिए मुझे आज्ञा दो, कि क्या करूँ? इस प्रकार बोलता हुए भीमराजा उनके आगे छड़ीदार की तरह अंजलि जोड़कर खड़े रहे। दधिपर्ण ने नलराजा को नमन करके कहा कि सर्वदा तुम मेरे नाथ हो मैंने अज्ञान से आपके प्रति जो कुछ अन्याय प्रवृत्ति की है उसे क्षमा करना।

(गा. 1035 से 1039)

किसी समय धनदेव सार्थवाह विपुल समृद्धि के साथ हाथ में भेंट लेकर भीमरथ राजा को मिलने आया। वैदर्भी के पहले के उपकारी उन सार्थवाह का भीमराजा ने बंधु के समान अत्यंत सत्कार किया। पूर्वकृत उपकार से उत्कंठित दवदंती ने अपने पिता से कहा राजा ऋतुपर्ण चंद्रयशा उनकी पुत्री चन्द्रवती और तापसपुर के राजा बसंत श्री शेखर को बुलाया। इसलिए वे सब वहाँ आए। भीमराजा ने अतिशय सत्कार द्वारा नये नये आतिथ्य से प्रसन्नचित्त होकर एक महिने तक वहाँ रहे।

(गा. 1040 से 1043)

एक बार वे सभी भीमराजा की सभा मे एकत्रित होकर बैठे थे कि इतने में प्रातःकाल में अपनी प्रभा से आकाश को प्रकाशित करता हुआ कोई देव वहाँ

आया। उसने अजंलि जोड़कर वैदर्भी से कहा मैं वह विमलमति नामका तापस पति हूं कि जिसे आपने पूर्व में प्रतिबोध दिया था उसे याद करो। वहाँ से मृत्यु होने पर मैं सौधर्म देवलोक में श्री केसर नाम के विमान में श्रीकेसर नाम का देव हुआ हूँ। मेरे जैसे मिथ्यादृष्टि को तुमने अर्हदधर्म में स्थापित किया। उस धर्म के प्रभाव से तुम्हारी कृपा से अभी मैं देव बना हूँ। ऐसा कह सात कोटि सुवर्ण की वृष्टि करके कृतज्ञता प्रकाशित करके वह देव किसी स्थान में अंतर्धान हो गया। तब बसंतश्री शेखर दधिपर्ण, ऋतुपर्ण, भीम और महाबलवान राजाओं ने मिलकर नलराजा का राज्याभिषेक किया और उनकी आज्ञा से पृथ्वी के राजाओं ने सैन्य आदि को संलग्न कर लिया।

इस प्रकार अपने अपने सैन्य को वहाँ एकत्रित किया। पश्चात शुभ दिन में अतुल पराक्रमी नलराजा ने अपनी राज्यलक्ष्मी पुनः लेने की इच्छा से उन राजाओं के साथ अयोध्या की ओर प्रयाण किया। कुछ एक दिनों में सैन्य की रज से सूर्य को भी ढंक देते नलराजा अयोध्या पहुंचे एवं रतिवल्लभ नामक उद्यान में उन्होंने पडाव किया। नल को इस प्रकार उत्तम वैभव संयुक्त आया हुआ जानकर भय से कंठ में प्राण हो गया हो वैसे कुबेर अत्यंत आकुल व्याकुल हो गया। नल ने दूत भेजकर उसको कहलाया कि हम पुनः द्यूत रमे कि और उसमें ऐसा भी करें कि जिसमें मेरी सर्वलक्ष्मी तेरी हो जाय और तेरी सर्वलक्ष्मी मेरी हो जाय। यह सुनकर कुबेर रण के भय से मुक्त होने से खुश हुआ और विजय की इच्छा से उसने पुनः द्यूत खेलना प्रारंभ किया। उसमें अनुज बंधु से विशेष भाग्यवान ऐसे नल ने कुबेर की सर्व पृथ्वी को जीत लिया क्योंकि सद्भाग्य का योग होता है तब विजय तो मनुष्य के कर कमलों में हंसरूप हो जाती है। नल ने कुबेर का सर्व राज्य जीत लिया। इस पर भी तथा कुबेर के अतिक्रूर होने पर भी यह मेरा अनुज बंधु है ऐसा सोचकर नल ने उस पर क्रोध नहीं किया। बल्कि क्रोधरहित नल ने अपने राज्य से अलंकृत होकर कुबेर को पूर्व की भांति युवराज पद दिया। नल ने अपना राज्य हस्तगत करके दवदंती के साथ कोशलानगरी के सर्व चैत्यों की उत्कंठापूर्वक वंदना की। भरतार्ध के निवासी राजा भक्ति से राज्याभिषेक की मांगलिक भेंट लेकर के आये। तत्पश्चात सर्व राजा जिनके अखंड शासन को पालते हैं ऐसे नल ने बहुत हजार वर्ष तक कोशला का राज्य किया।

(गा. 1051 से 1060)

एक बार निषेध राजा जो स्वर्ग में देवता हुए थे, उन्होंने आकर विषयसागर में निमग्न हुए मगरमच्छ जैसे नलराजा को इस प्रकार प्रतिबोध दिया कि रे वत्स! इस संसार रूप अरण्य में तेरे विवेक रूप धन को विषय रूपी चोर लूट रहे हैं, तथापि तू पुरूष होकर क्यों उनका रक्षण नहीं करता? मैंने पूर्व में तुझे दीक्षा का समय बताने का कहा था तो अब समय आ गया है। अतः आयुष्य रूप वृक्ष के फलस्वरूप दीक्षा ग्रहण कर ऐसा कहकर निषध देव अन्तर्ध्यान हो गये।

(गा. 1061 से 1065)

उस समय जिनसेन नाम के एक अवधिज्ञानी सूरी वहाँ पधारे। दवदंती और नल ने उनके समीप जाकर उनकी आदर से वंदना की। फिर उन्होंने अपना पूर्वभव पूछा। तब वह कहकर मुनि बोले कि पूर्व में तुमने मुनि को क्षीरदान दिया था, फलस्वरूप तुमको यह राज्य प्राप्त हुआ। उस समय मुनि पर तुमने बारह घड़ी तक क्रोध किया, जिससे इस भव में बाहर वर्ष का वियोग रहा है। यह सुनकर पुष्कर नाम के अपने पुत्र को राज्य देकर नल और दवदंती ने मुनिभगवंत के पास व्रत ग्रहण किया। वह चिरकाल तक पाला। नल को विषयवासना उत्पन्न हुई, इससे उनको दवदंती को भोगने का मन हुआ। यह बात जानकर आचार्य ने उनका त्याग किया। तब उनके पिता निषध देव ने आकर उनको प्रतिबोध दिया। तब व्रत पालने में अशक्त नल ने अनशन ग्रहण किया। यह बात सुनकर नल पर अनुरक्त दवदंती ने भी अनशन व्रत लिया।

(गा. 1066 से 1071)

इस प्रकार कथा कहकर कुबेर वसुदेव को कहते है वसुदेव! वह नल मरकर मैं कुबेर हुआ हूँ और दवदंती मृत्यु के पश्चात मेरी प्रिया हुई थी। वह वहाँ से च्यवकर यह कनकवती हुई है। उस पर पूर्वभव के पत्नीपन के स्नेह से अतिशय मोहित होकर मैं यहाँ आया हूँ, क्योंकि स्नेह सैंकडों जन्म तक चलता है। हे दर्शाह वसुदेव! इस भव में यह कनकवती सर्वकर्म का उन्मूलन करके निर्वाण को प्राप्त करेगी। पूर्व में इंद्र के साथ में महाविदेह क्षेत्र में तीर्थकर प्रभु को वंदना करने गया था, वहाँ विमलस्वामी वे अर्हंत ने मुझे यह वृत्तांत बताया था।

(गा. 1072 से 1075)

इस प्रकार वसुदेव को कनकवती के पूर्वभव की कथा कहकर कुबेर अंतर्ध्यान हो गया। सौभाग्यवंत में शिरोमणि और अद्वितीय रूपवान वसुदेव चिरकाल के अतिशय अनुराग के योग से कनकवती से विवाह कर अनेक खेचरियों के साथ क्रीड़ा करने लगे।

(गा. 1076 से 1077)

चतुर्थ सर्ग

एक समय वसुदेव सो रहे थे वहाँ सूर्पक नाम के विद्याधर ने आकर उनका हरण कर लिया। तत्काल जागृत होने पर उन्होंने सूर्पक पर मुष्टि का प्रहार किया, जिससे सूर्पक ने उसे छोड़ दिया। तब वहाँ से छूटकर वसुदेव गोदावरी नदी में पड़ें। वहाँ वे तैरकर कोल्लापुर में आए, और वहाँ के राजा पदमरथ की पुत्री पदमश्री से विवाह किया। वहाँ से उनका नीलकंठ विद्याधर ने हरण किया। मार्ग में पुनः उन्हें छोड़ दिया तब वे चंपापुरी के पास सरोवर में गिरे। उसे भी तैरकर नगर में आकर मंत्री की पुत्री से विवाह किया। वहाँ भी सूर्पक विद्याधर ने पुनः उनका अपहरण किया और मार्ग में गिरा दिया। तब वे गंगा नदी के जल में गिरे। उस नदी को तैर कर मुसाफिरों के साथ चलते हुए एक पल्ली में आए। वहाँ पल्लिपति की जरा नाम की कन्या से विवाह किया। उससे जराकुमार नामक पुत्र हुआ वहाँ से निकल कर अंवतिसुंदरी, सूरसेना, नरद्वेशी, जीवयशा और अन्य भी राजकन्याओं से विवाह किया।

(गा. 1 से 6)

एक बार वसुदेव अन्यत्र जा रहे थे। इतने में किसी देवता ने आकर उनको कहा कि हे वसुदेव। रूधिर राजा की कन्या रोहिणी के स्वंयवर में पहुँचा देता हूँ। वहाँ जाकर तुम पटह ढोल बजाना। तब वसुदेव अरिष्टपुर में रोहिणी के स्वयंवर मंडप में गये। वहाँ जरासंध आदि राजा भी आकर बैठे थे। उस समय मानो साक्षात चंद्र की स्त्री रोहिणी पृथ्वी पर आई हो। ऐसी रोहिणी कुमारी मंडप में आई। उस समय स्वंय रूचिकर हो जाय ऐसी इच्छा से सर्व राजा विविध प्रकार की चेष्टाएं रोहिणी की तरफ करने लगे। परंतु उनमें से कोई भी अपने अनुरूप न लगने से उसे कोई भी राजा अच्छा नहीं लगा।

(गा. 7 से 9)

उस समय वसुदेव दूसरा वेश लेकर वाद्य बजाने वालों के बीच में बैठकर पटह बजाने लगे। उस वाद्य में से ऐसे स्फुट अक्षर निकल रहे थे कि हे कुंरगाक्षि! यहाँ आ! मृगी के समान क्या देख रही हो ? मैं तेरा योग्य भर्ता हूँ और तेरे संगम का उत्सुक हूँ। इन शब्दों केा सुनकर रोहिणी ने उनके सामने देखा। देखते ही रोमांचित हो उठी, और उसने उनके कंठ में स्वंयवर माला आरोपित की। उस समय वहाँ आए हुए समस्त राजा इसे मारो ऐसा कोलाहल करने लगे कारण कि रोहिणी ने एक वाजित्र बजाने वाले का वरण किया इससे उन सभी का उपहास हुआ था। कोशला के राजा दंतवक ने अत्तिवक्र वाणी से मजाकियों की तरह रूधिर राजा को उपहास में कहा कि यदि तुमको यह कन्या ढोली को ही देनी थी, तो हम सब कुलीन राजाओं को किसलिए बुलाया ? यह कन्या गुणों को जानने वाली नहीं है, इसलिए इसने जो वाजित्र बजाने वाले का वरण किया तो यह बात उपेक्षा करने योग्य नहीं है।

(गा. 10 से 16)

कारण कि बाल्यवय में कन्या का शासक पिता होता है। तब रूधिर राजा बोला– हे राजन्! इस विषय में तुमको कुछ भी विचार करने की जरूरत नहीं है। कारण कि स्वंयवर में जिसे कन्या वरण करे वही पुरूषप्रमाण है। उसका पति होता है इस पर न्यायवेता बोले विदुर यद्यपि तुम्हारा वचन उपयुक्त है तथापि इस पुरूष के कुल आदि के विषय में पूछना चाहिये। उस समय बोले कि मेरे कुल आदि के विषय में कुछ भी पूछने का यह अवसर नहीं है। इस कन्या ने मेरा वरण किया है, इससे जैसा तैसा भी हूँ पर पर मैं योग्य ही हूँ। मेरा वरण की हुई कन्या को यदि कोई सहन नहीं करे तो उसे हँसकर भुजाबल बनाकर मैं मेरा कुल बताऊँगा। वसुदेव के उद्यत वचन सुनकर क्रोधित हुए जरासंध ने समुद्रविजय आदि राजाओं को इस प्रकार आज्ञा दी कि पहले तो यह रूधिर राजा ही राजाओं में विरोध उत्पन्न करने वाले हैं ओर दूसरा यह ढोली ढोल बजा बजाकर उन्मुक्त हो गया है। इसने यह राजकन्या प्राप्त की, इससे भी इसे तृप्ति मिली नहीं। इसने पवन द्वारा नमे हुए वृक्ष का फल प्राप्त करके वामन पुरूषगर्व करते हैं, वैसे ही यह भी गर्व कर रहा है इसलिए इस रूधिर राजा को और इस वादक दोनों को ही मार डालो। ऐसी जरासंध की आज्ञा होते ही समुद्रविजय आदि राजा युद्ध करने के लिए तैयार

हुए। उस समय दधिमुख नामक खेचरपति स्वंय सारथी होकर रथ लाए और उसमें रण करने में उद्यत ऐसा वसुदेव ने उनको बिठाया।

(गा. 17 से 26)

रण में दुर्धर वसुदेव को वेगवती की माता अंगारवती ने जो धनुषादि शस्त्र दिये। वे उन्होंने ग्रहण किये। जरासंध के राजाओं ने रूधिर राजा के सैन्य को नाश कर दिया इसलिए वसुदेव ने दधिमुख को प्रेरित करके रथ के घोड़ों को आगे बढाया। वसुदवे ने पहले उठे हुए शत्रुंजय राजा को जीत लिया दंतवक्र को भग्न कर दिया और शल्य राजा को भगा दिया उस समय समुद्रविजय राजा ने कहा यह कोई सामान्य वाजित्र नहीं हो सकता। अन्य राजाओं से भी जीतना असाध्य है। अतः तुम ही तत्पर होकर इसे मार डालो। इसे मारोगे तो राजकन्या रोहिणी तुम्हारी ही है। अतः सब राजाओं को विजय करके जो खिन्न हो गये उनकी खिन्नता दूर करो। समुद्रविजय बोले हे राजन! मुझे परस्त्री नहीं चाहिये, परंतु आपकी आज्ञा से इस बलवान नर के साथ मैं युद्ध करूँगा। इस प्रकार कहकर राजा समुद्रविजय ने भाई के साथ युद्ध प्रारंभ किया। उन दोनों का चिरकाल तक विश्व को आश्चर्यकारी शस्त्राशास्त्र से युद्ध चला। तब वसुदेव ने एक अक्षर सहित बाण फेंका। समुद्रविजय ने उस बाण को लेकर उस पर लिखे अक्षरों को इस प्रकार पढा कि छल कपट से निकल कर गया हुआ तुम्हारा बंधु वसुदेव तुमको नमस्कार करता है। इन अक्षरों को पढते ही समुद्रविजय हर्षित हुए और सांयकाल के समय बछड़े को मिलने को उत्सुक गाय के समान वत्स वत्स ऐसे कहते हुए रथ में से उतरकर उनके चरण में गिरे। समुद्रविजय उसे उठा कर दोनों हाथों से आलिंगन करके मिले।

(गा. 27 से 37)

ज्येष्ठ बंधु ने पूछा कि हे वत्स! आज सौ वर्ष हुए तू कहां गया था? तब वसुदेव ने शुरू से लेकर सर्व वृत्तांत उनको कह सुनाया। ऐसे पराक्रमी बंधु से समुद्रविजय को जितना हर्ष हुआ उतना ही तब ऐसा जवाई मिलने से रूधिर राजा को भी हर्ष हुआ। जरासंध ने उसे अपने सामंत का बंधु जाना तो उसका भी कोप शांत हो गया। कारण कि अपने जन को गुणाधिक जानकर सर्व को हर्ष होता है। तब उस प्रसंग पर उपस्थित राजाओं और स्वजनों ने मिलकर शुभ दिन में उत्सव के साथ वसुदेव और रोहिणी का विवाहोत्सव किया। रूधिर राजा से

पूजित जरासंध आदि सभी अपने अपने स्थानक गये ओर यादव कंस सहित एक वर्ष तक वहीं पर रहे।

(गा. 38 से 42)

एक बार वसुदेव ने एकांत में रोहिणी से पूछा कि अन्य बडे बडे राजाओं को छोड़कर मुझ जैसे बाजिंत्र बजाने वाले को तुमने कैसे वरण किया? रोहिणी बोली– मैं हमेशा प्रज्ञप्ति विद्या को पूजती हूँ। एक बार उन्होंने आकर मुझ से कहा कि दसवाँ दशार्ह तेरा पति होगा, उसे तू स्वयंवर में ढोल बजाने वाले के रूप में पहचान जाना। स्वामी उसी प्रतीति से मैंने आपका वरण किया।

(गा. 43 से 45)

एक वक्त समुद्रविजय आदि सभा में बैठे थे, उतने में कोई प्रौढ वयी स्त्री आशीष देती देती आकाश में से उतरी। उसने आकर वसुदेव से कहा कि घनवती नाम की मैं बालचंद्रा की माता हूं और मेरी पुत्री के लिए तुमको लेने के लिए मैं यहां आई हूं। मेरी पुत्री बालचंद्रा सर्व कार्यों में वेगवती है परंतु तुम्हारे वियोग से रात दिन पीडित रहती है। यह सुनकर वसुदेव ने समुद्रविजय के मुख की ओंर देखा तब वे बोले– वत्स! जा परंतु पूर्व के समान चिरकाल तक मत रहना। तब राजा की आज्ञा लेकर अपने पूर्व अपराधों का खमाकर वसुदेव उस अधेड स्त्री के साथ गगनवल्लभ नगर गये। राजा समुद्रविजय कंस के साथ अपने नगर में आ गये और निरंतर वसुदेव के आगमन में उत्सुक होकर रहने लगे। यहां वसुदेव कांचनद्रंश्ट नाम के खेचरपति कन्या के पिता की कन्या बालचंद्रा से समारा है पूर्व के विवाह करूंगा उसके पश्चात पूर्व परिणीत सर्व उतम स्त्रियों केा अपनी अपनी स्थानक से लेकर संख्याबद्ध खेचरों से युक्त होकर श्रेष्ठ विमान में बैठकर वसुदेव शौर्यपुर में आए। उस समय चिरकाल से उत्कंठित ऐसे समुद्रविजय ने उर्मिरूप भुजा को प्रसार कर चंद्र का आलिंगन करते समुद्र की तरह उनका दृढ आलिंगन किया।

(गा. 46 से 53)

पंचम सर्ग

हस्तिनापुर में कोई एक श्रेष्ठी रहता था उसके ललित नाम का पुत्र था वह अपनी माँ का बहुत लाड़ला था। एक बार उसकी माता को अत्यधिक संतापदायक गर्भ रहा। उसने विविध उपायों से उस गर्भ को गिराना चाहा, तो भी वह गर्भ गिरा नहीं। पूर्ण समय पर सेठानी के पुत्र हुआ। उसने उसे कहीं डाल देने के लिए दासी को दिया। वह सेठ को दिख जाने पर उन्होंने दासी से पूछा कि यह क्या करती हो? दासी बोली– यह पुत्र सेठानी को अनिष्ट दायक हैं, अतः वे इसका त्याग करवा रहीं है। यह जानकर सेठ ने दासी के पास से उस पुत्र को ले लिया और गुप्त रीति से उसका पालन पोषण कराने लगा। पिता ने उसका गंगदत्त नाम रखा। माता से छुपाकर ललित के साथ खिला भी था। एक बार बसंतोत्सव आया। तब ललित ने पिता से कहा कि आज गंगदत्त को साथ में जिमाओं तो बहुत अच्छा हो। श्रेष्ठी बोले– पुत्र तेरी माता यह देखेगी तो ठीक नहीं होगा।

(गा. 1 से 7)

ललित ने कहा'– हे तात! मेरी माता देखे नहीं, वैसा मैं प्रयत्न करूँगा। तब सेठ ने वैसा करने की आज्ञा दी। तब गंगदत पर्दे में रहकर खाने बैठा। सेठ और ललित उसके आडे बैठ गये। वे खाते खाते गुप्त रीति से गंगदत्त को भोजन देने लगे। इतने में अचानक उत्कट हुए पवन ने पर्दे को हटा दिया, तो गंगदत्त सेठानी को दिखाई दे गया। उसने उसके बाल खींचकर घसीटा। खूब पीटकर उसे घर की नाली में डाल दिया। यह देखकर महामति सेठ और ललित उद्वेग को प्राप्त हुए और सेठानी से छुपाकर पुनः वहाँ से ले जाकर नहला कर उसको अनेक प्रकार से बोध दिया।

(गा. 8 से 11)

उस समय कुछ साधु भिक्षा के लिए घूमते–घूमते वहाँ आए। उनको पिता और पुत्र ने सेठानी से उस पुत्र पर कुपित होने का कारण पूछा। तब वे साधु बोले– एक गाँव में दो भाई रहते थे। एक बार काष्ट लेने के लिए वे गाँव से बाहर गये और काष्ट की गाडी भरकर वापिस लौटे। उस समय बड़ा भाई आगे चल रहा था। उसने मार्ग में गाड़ी के चीले पर जाती हुई एक सर्पिणी देखी। इससे छोटा भाई जो गाड़ी चला रहा था, उसने कहा कि अरे भाई! इस चीले में सर्पिणी पड़ी है, अतः बचाकर गाड़ी चलाना। यह सुनकर उस सर्पिणी को विश्वास हो गया। इतने में वो छोटा भाई भी गाड़ी के साथ वहाँ आ गया। उसने इस सर्पिणी को देखकर कहा कि इस सर्पिणी के बड़े भाई ने बचाया है परंतु मैं इसके ऊपर से ही गाड़ी चलाऊँगा, कारण कि उसकी अस्थि का भंग सुनकर मुझे बहुत हर्ष होगा। तब उस क्रूर छोटे भाई ने वैसा ही किया। यह सुनकर वह सर्पिणी यह मेरा बैरी है ऐसा चिंतन करती हुई मर गई। हे श्रेष्ठी! वह सर्पिणी मरकर तेरी स्त्री हुई है और उन दोनों में ज्येष्ठ बंधु था, वह यह ललित हुआ है। पूर्व जन्म के कर्म से वह माता को अतिप्रिय है और जो कनिष्ठ बंधु था, वह यह गंगदत हुआ है। वह पूर्व कर्म से अपनी माता को बहुत अनिष्ट लगता है, क्योंकि पूर्व कर्म अन्यथा होते नहीं है।

(गा. 12 से 20)

मुनि के ऐसे वचन सुनकर सेठ और ललित ने संसार से विरक्त होकर तत्काल दीक्षा ग्रहण की और व्रत पालकर काल करके वे दोनों महाशुक्र देवलोक में देवता हुए। पश्चात् गंगदत्त ने भी चरित्र ले लिया। अंत समय में माता का अनिष्टपना याद करके विश्वल्लभ होने का नियाणा करके मृत्युपरांत महाशुक्र देवलोक में गये।

(गा. 21 से 23)

ललित का जीव महाशुक्र देवलोक से च्यवकर वसुदेव की स्त्री रोहिणी के उदर से उत्पन्न हुआ। उस समय अवशेष रात्रि में उसने बलभद्र के जन्म को सूचित करने वाले हाथी, समुद्र, सिंह और चंद्र इन चार स्वप्नों को मुख में प्रवेश करते देखा। पूर्ण समय पर रोहिणी ने रोहिणी पति चंद्र जैसे पुत्र को जन्म दिया। मगधादिक देश के राजाओं समुद्रविजय आदि ने उसका उत्सव किया। वसुदेव ने राम जैसा उत्तम नाम रखा। जो बलभद्र के नाम से प्रख्यात हुआ। सब के मन को रमाता राम अनुक्रम से बड़े हुए। उसने गुरूजन के पास

से सर्वकलाएं ग्रहण की। उनकी निर्मल बुद्धि द्वारा दर्पण की जैसे उनमें सर्व आगम शास्त्र संक्रांत हो गए।

(गा. 24 से 27)

एक बार वसुदेव और कंसादि के परिवार के साथ समुद्रविजय राजा बैठे थे। इतने में स्वच्छंदी नारद मुनि वहाँ आये। समुद्रविजय कंस और अन्य सभी राजाओं ने खडे होकर उदय होते सूर्य की भांति उनकी पूजा की। उनकी पूजा से प्रसन्न हुए नारद क्षणभर बैठकर पुनः वहाँ से अन्यत्र जाने को आकाश में उड़ गये क्योंकि वे मुनि सदा स्वेच्छाचारी हैं। उनके जाने के बाद कंस ने पूछा कि ये कौन थे? तब समुद्रविजय बोले कि– पहले इस नगरी के बाहर यज्ञयशा नाम का एक तापस रहता था। उसके यज्ञदत्ता नाम की स्त्री थी। सुमित्र नामका एक पुत्र था। उस सुमित्र के सोमयक्ष नामकी पत्नि थी। अन्यदा कोई जंभृक देवता आयुष्य का क्षय होने पर वहाँ से च्यवकर सोमयशा की कुक्षि में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। वह यह नारद हुआ है। वे तापस एक दिन उपवास करके दूसरे दिन वन में जाकर उंछवृत्ति के द्वारा आजीविका करते हैं। इसलिए वे एक बार इस नारद को अशोक वृक्ष के नीचे रखकर उंछवृति के लिए गये थे। उस समय यह असमान कांति वाला बालक जृंभक देवताओं को देखने में आया। अवधिज्ञान द्वारा नारद को अपना पूर्वभव का मित्र जानकर उन्होंने उस पर रही हुई अशोक वृक्ष की छाया को स्तंभित कर दिया।

(गा. 28 से 35)

तब वे देवगण अपने कार्य के लिए जाकर अर्थ सिद्ध करके वापिस लौटे। उस वक्त स्नेह समर युक्त हो ये नारद को यहाँ से उठाकर वैताढय गिरी पर ले गये। उन देवताओं ने छाया को स्तंभित किया तब से ही यह अशोकवृक्ष पृथ्वी में छायावृक्ष नाम से विख्यात हो गया। जृंभक देवताओं ने वैताढ्यगिरी की गुफा में उसे रखकर प्रतिपालन किया। आठ वर्ष के होने पर उसको उन देवों ने प्रज्ञप्ति आदि सर्व विद्याएँ सीखी। उन विद्याओं के प्रभाव से वे आकाशगामी भी हुए हैं। ये नारद मुनि इस अवसर्पिणी में नवें हुए हैं और ये चरमशरीरी अंतिम शरीरी तदभव मोक्षगामी हैं। इस प्रकार त्रिकालज्ञानी सुप्रतिष्ठ नाम के इस मुनि की उत्पति मुझे पूर्व में कही थी। ये कलह प्रिय है। अवज्ञा करने से उनको क्रोध चढता है। वे एक स्थान पर रहते नहीं है, और सर्वत्र पूजे जाते हैं।

(गा. 36 से 42)

एक बार कंस ने स्नेह से वसुदेव को मथुरा आने के लिए निंमत्रण दिया, तब दशार्दपति समुद्रविजय की आज्ञा लेकर वे मथुरा में गये। एक बार जीवयशा सहित बैठे कंस ने वसुदेव को कहा कि मृतिकावती नाम की एक बडी नगरी है उसके देवक नाम का राजा है वे मेरे काका होते हैं। उनके देवकन्या जैसी देवकी नाम की पुत्री है। उससे तुम वहाँ जाकर विवाह करो। मैं तुम्हारा सेवक हूँ, इसलिए मेरी इस प्रार्थना का तुम खंडन मत करना। इस प्रकार दाक्षिण्य निधि दसवें दशार्द वसुदेव ने कहा। उन्होंने इसे स्वीकार किया और कंस के साथ वहाँ चल दिये।

(गा. 43 से 47)

मृतिकावती के जाते समय मार्ग में नारद मिले, अतः वसुदेव और कंस ने विधि से उनकी पूजा की। नारद ने प्रसन्न होकर पूछा तुम कहाँ जा रहे हो? वसुदेव बोले ये मेरे सुहद कंस उनके काका देवक राजा की कन्या देवकी से विवाह करने जा रहा हूँ। नारद बोले– यह कार्य कंस ने अच्छा किया, क्योंकि विधाता निर्माण करता है। परंतु योग्य के साथ योग्य को जोड़ने में वह अपंडित है। वह तो मनुष्य को ही जोड़ता है जैसे पुरूषों में तुम रूप से अप्रतिम रूपवान हो, वैसे स्त्रियों में देवकी भी अप्रतिम रूपवती है। तुमने बहुत सी खेचर कन्याओं से विवाह किया है परंतु देवकी को देखोगे तो फिर ये सभी असाार लगेंगी। हे वसुदेव! इस योग्य संयोग में तुमको कहीं से भी विघ्न नहीं होगा मैं भी जाकर देवकी को तुम्हारे गुण का वर्णन कहता हूँ। इस प्रकार कहकर नारद शीघ्र ही उड़कर देवकी के घर गए। देवकी ने उनकी पूजा की तब नारद ने आशीष देकर कहा कि तुम्हारे पति वसुदेव होंगे। देवकी ने पूछा ये वसुदेव कौन है? नारद बोले– वह युवा ऐसे दसवें दशार्ह है और विद्याधरों की कन्याओं को अतिप्रिय है। अधिक क्या कहूँ? देवताओं का रूप भी जिनके तुल्य नहीं है, ऐसे वे वसुदेव हैं। इस प्रकार कहकर नारदमुनि अन्तर्ध्यान हो गए। नारद की इस वाणी से वसुदेव ने देवकी के हृदय में प्रवेश किया।

(गा. 48 से 56)

वसुदेव और कंस क्रमशः मृतिकावती नगरी में आ पहुँचे। विवेकी देवक राजा ने वसुदेव की और कंस की पूजा की। तब अमूल्य आसन पर बिठाकर उनको आगमन का कारण पूछा। कंस ने कहा, काका? आपकी दुहिता देवकी इस वसुदेव को दिलाने आया हूँ। मेरा यहाँ आने का प्रयोजन यही है। देवक ने

कहा, कन्या के लिए वर स्वंय ही यहाँ आवे, यह रीति नहीं है। इस रीति से आने वाले वर को मैं देवकी नहीं दूँगा। ऐसे देवक राजा के वचन सुनकर कंस और वसुदेव खिन्न मन होकर अपनी छावनी में आए। देवक राजा अपने अंतःपुर में गए। वहाँ देवकी ने हर्ष से पिता को प्रणाम किया तब हे पुत्री! योग्य वर को प्राप्त कर। ऐसी देवक ने आशीष दी। देवक ने देवी रानी को कहा कि आज वसुदेव को देवकी दिलाने के लिए कंस ने उत्सुक होकर मेरे पास माँग की, परंतु पुत्री के विरह को सहन न करने के कारण मैंने यह बात कबूल नहीं की। यह सुनकर देवी खिन्न हुई देवकी ने उँचे स्वर में रोना चालू किया।

(गा. 57 से 64)

उनका वसुदेव की ओर प्रतिभाव देखकर देवक ने कहा तुम खेद मत करो, अभी तो मैं पूछने को आया हूँ। तब देवी ने कहा, ये वसुदेव देवकी के योग्य वर पुत्री के पुण्य से ही यहाँ वरण करने के लिए आए हैं। इस प्रकार उनके विचार जानकर तत्काल देवक ने मंत्री को भेजकर कंस और वसुदेव को वापिस बुलाया। पहले जिनका अपमान किया था अब उनका बहुत सत्कार किया। पश्चात शुभ दिन में तार स्वर से गाते धवल मंगल के साथ वसुदेव और देवकी का विवाहोत्सव हुआ। देवक ने पाणिग्रहण के समय वसुदेव को सुवर्ण आदि विपुल पहरामणी और दस गोकुल के पति नंद को कोटि गायों के साथ दी। वसुदेव और कंस नंद सहित मथुरा में आए, वहाँ कंस ने अपने सुहद की खुशहाली में बड़ा महोत्सव आरंभ किया।

(गा. 65 से 70)

इसी समय उन्होंने पूर्व में चारित्र ग्रहण किया था ऐसे कंस के अनुज बंधु अतिमुक्त मुनि तपस्या से कृश अंग वाले कंस के घर पारणे के लिए आए। उस समय मदिरा के वश हुई कंस की स्त्री जीवयशा अरे देवर! आज उत्सव के दिन आए, वह बहुत अच्छा किया। इसलिए आओ, मेरे साथ नृत्य और गायन करो ऐसा कहकर वह मुनि के कंठ से चिपक गई और गृहस्थ की जैसे उनकी बहुत कदर्थना की। उस वक्त ज्ञानी मुनि ने कहा कि जिसके निमित्त यह उत्सव हो रहा है उसका सातवां गर्भ तेरे पति और पिता को मारने वाला होगा। वज्र जैसी उस वाणी को सुनकर तत्काल जीवयशा की जिसके भय से मदावस्था चली गई थी, उसने उन महामुनि को छोड दिया और शीघ्र ही अपने पति को ये समाचार दिये।

कंस ने विचार किया कि कभी वज्र निष्फल हो सकता है किंतु मुनि का भाषित निष्फल नहीं होता।

(गा. 71 से 76)

तो भी जब तक ये समाचार किसी को नहीं मिलते, तब तक मैं वसुदेव के पास से देवकी के सात गर्भ मांग लूँ। मेरे मित्र वसुदेव से मांग करने पर देवकी के गर्भ दे दे तो अन्य रीति से प्रयत्न करूं कि जिससे मेरी आत्मा का कुशल हो। इस प्रकार सोच कर जो कि स्वंय मदरहित तथापि मदावस्था का दिखावा करता हुआ और दूर से अंजलि जोडता हुआ कंस वसुदेव के पास आया। वसुदेव ने खडे होकर योग्यता के अनुसार उसको मान दिया और सभ्रम से हाथ से स्पर्श करके कहा कंस! तुम मेरे प्राणप्रिय मित्र हो। इस समय ऐसा लगता है कि तुम कुछ कहने के लिए आये हो, तो जो इच्छा हो वह कहो। जो कहोगे वह मैं करूँगा। कंस ने अंजलि जोड़कर कहा मित्र! पहले भी जरासंध के पास से जीवयशा को दिलाकर तुमने मुझे कृतार्थ किया है तो अब मेरी ऐसी इच्छा है कि देवकी के सात गर्भ जन्मते ही मुझे अर्पण करो।

(गा. 77 से 82)

सरल मन वाले वसुदेव ने वैसा करना कबूल किया। मूल वृत्तांत को नहीं जानने वाली देवकी ने भी उसको कहा, हे बंधो! तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही होगा। वसुदेव के और तेरे पुत्र में कोई अंतर नहीं है। हमारा दोनों का योग भी विधि की तरह तुम से ही हुआ है, इस उपंरात हे कंस! मानो अधिकारी ही न हो वैसे कैसे ऐसे बोलते हो? वसुदेव बोले– सुंदरी! अब अधिक बोलने से क्या? तेरे सात गर्भ जन्मते ही कंस के आधीन हो जावे। कंस बोला कि यह तुम्हारा मुझ पर बहुत बडा प्रसाद है। उन्मत्तपने के बहाने इस प्रकार कहकर वसुदेव के साथ मदिरा पान करके वह अपने घर गया। उसके पश्चात वसुदेव ने मुनि का सर्व वृत्तांत सुना सब जाना कि कंस ने मुझ से छल किया। तब अपने सत्य वचन से उसे दिया वचन बहुत पश्चाताप का कारण हुआ।

(गा. 83 से 88)

इसी समय में भदिलपुर में नाग नाम का एक सेठ रहता था। उसके सुलसा नाम की स्त्री थी। वे दोनों परम श्रावक थे। अतिमुक्त नाम के चारण मुनि ने उस सुलसा के संबंध में उसके बाल्यवय में कहा था कि यह बाला निंदु (मृतपुत्रा

बंध्या) होगी। यह सुनकर सुलसा ने इंद्र नैगमेषी देव आराधना करी। इससे देव संतुष्ट हुआ तब उसने देव से पुत्र की याचना की। देवता ने अवधिज्ञान से जानकर कहा हे धार्मिक स्त्री! कंस ने मारने के लिए देवकी से गर्भ मांगे हैं। वे मैं तेरे प्रसव के समय तुझको अर्पण कर दूँगा। ऐसा कह कर उस देव ने अपनी शक्ति से देवकी और सुलसा को साथ ही राजस्वला किया और वे दोनों साथ साथ सगर्भा हुई। दोनों ने साथ ही जन्म दिया। तब सुलसा के मृतगर्भ के स्थान पर उस देवता ने देवकी के सजीवन गर्भ को रख दिया और उसके मृतगर्भ को देवकी के पास रखा। इस प्रकार उस देवता ने गर्भ परिवर्तन कर दिया। कंस ने उस सुलसा के मृतगर्भ को पत्थर की शिला पर जोर–जोर से पटका। एवं स्वयं ने उनको मारा, ऐसा मानने लगा। इस प्रकार देवकी के छहों गर्भ सुलसा के घर पुत्र की तरह उसका स्तनपान करके सुखपूर्वक बढने लगे। उनका अनीकयश अनंतसेन अजितसेन निहतारी, देवयशा और शत्रुसेन इस प्रकार नाम रखे गये।

(गा. 89 से 97)

अन्यदा ऋतुस्नाता देवकी ने निशा के अंत में सिंह, सूर्य, अग्नि, गज, ध्वज विमान और पदमसरोवर ये सात स्वप्न देखे। उस समय उस गंगदत का जीव महाशुक्र देवलोक से च्यवकर उसकी कुक्षि में अवतरा। तब जैसे खान की भूमि रत्न को धारण करती है उसी प्रकार देवकी ने गर्भ धारण किया। अनुक्रम से भाद्रवा मास की कृष्ण अष्टमी को मध्यरात्रि में देवकी ने कृष्ण वर्ण वाले पुत्र को जन्म दिया। जो पुत्र देव के सानिध्य से जन्मते ही शत्रुओं के दृष्टिपात का नाश करने वाला हुआ। जब उनका जन्म हुआ तब उसके पक्ष के देवताओं ने कंस के रखे हुए चौकीदार पुरूषों ने अपनी शक्ति से मानो विषपान किया हो वैसे निद्रावश कर दिया। उस समय देवकी ने अपने पति को बुलाकर कहा, हे नाथ! मित्र रूप में शत्रु ऐसे कंस ने तुमको वाणी से बांध लिया ओर उस पापी ने मेरे छः पुत्रों को जन्मते ही मार डाला। इसलिए इस पुत्र की माया द्वारा भी रक्षा करो।

(गा. 98 से 103)

बालक की रक्षा करने के लिए माया करने में पाप लगता नहीं है। मेरे इस बालक को आप नंद गोकुल में ले जाओ, वहाँ मामा की भांति रहकर यह पुत्र बडा हो जाएगा। उसके ऐसे वचन सुनकर तूने बहुत अच्छा विचार किया ऐसे बोलते हुए स्नेहार्द्र वसुदेव उस बालक को लेकर, जब सब पहरेदार सो गये थे,

ऐसे घर से बाहर निकले। उस समय देवताओं ने उस बालक पर छत्र धरा। पुष्प की वृष्टि की और आठ उग्र दीपकों से मार्ग में उद्योत करने लगे। तब श्वेत वृषभ रूप होकर उन देवताओं ने दूसरों को न देखे वैसे नगरी के द्वार खोल दिये। जब वसुदेव गोपुर दरवाजे के पास आये, तब पिंजरें में रहे हुए अग्रसेन राजा ने यह क्या ? ऐसे विस्मय से वसुदेव को पूछा। तब यह कंस का शत्रु है ऐसा कह उस बालक को उग्रसेन को बताया और कहा, हे राजन्! इस बालक से आपके शत्रु का निग्रह होगा और इस बालक से ही आपका उदय होगा परंतु यह बात किसी से कहना नहीं। उग्रसेन ने कहा, ऐसा ही होगा।

(गा. 104 से 110)

तब वसुदेव नंद के घर पहुंचे। उस समय नंद की स्त्री यशोदा ने भी एक पुत्री को जन्म दिया था। वसुदेव ने पुत्र को देकर उनकी पुत्री ले ली, और देवकी के पास ले जाकर उसके पार्श्व में पुत्र के स्थान पर सुला दिया। वसुदेव इस प्रकार परिवर्तन करके बाहर गये, तब कंस को पुरूष जाग उठे और क्या हुआ ? कौन जन्मा ? ऐसे पूछते हुए अंदर आए। वहाँ पुत्री हुई है यह उन्होंने देखी। वे उस पुत्री को कंस के पास ले गए। उसे देखकर कंस विचार में पड़ गया कि जो सातँवा गर्भ मेरी मृत्यु के लिए होने वाला था, वह तो कन्या मात्र हुआ है इससे सोचता हूँ कि मुनि का वचन मिथ्या हुआ। तो अब इस बालिका को क्यों मारना ? ऐसा विचार करके उस बाला की एक ओर की नासिका छेद कर उसे वापिस देवकी के पास भेज दिया।

(गा. 111 से 115)

यहाँ कृष्ण रंग के कारण कृष्ण नाम से बुलाते देवकी का पुत्र देवताओं से रक्षा कराता नंद के घर वृद्धि पाने लगा। एक मास व्यतीत हुआ कि देवकी ने वसुदेव से कहा हे नाथ! उस पुत्र को देखने के लिए मैं उत्कंठित हुई हूँ, अतः आज मैं गोकुल जाऊँगी। तब वसुदेव ने कहा, प्रिये। यदि तुम अचानक ही वहाँ जाओगी तो कंस को जानकारी हो जाएगी। इसलिए कोई भी कारण बताकर तुम्हारा गोकुल में जाना उचित है। तुम बहुत सी स्त्रियों को साथ लेकर गाय के मार्ग में गोपूजा करते करते गोकुल में जाओ। देवकी वैसा ही करती हुई नंद के गोकुल में आई। वहाँ हृदय में श्रीवत्स का लंछन वाला, नीलकमल जैसी कांति वाला प्रफुल्लित कमल जैसे नेत्र वाला कर चरण में चक्रादिव्य के चिह्न वाला और

मानो निर्मल किया हुआ नीलमणि हो वैसा हृदयानंदन पुत्र यशोदा के उत्संग में रहा हुआ देखा। पश्चात देवकी गोपूजा के बहाने से हमेशा वहाँ जाने लगी। तब से ही लोगों में गोपूजा के व्रत का प्रवर्तन हुआ।

(गा. 116 से 122)

अन्यदा सूर्पक की दो पुत्री शकुनि और पूतना विद्याधारिणियाँ जो पिता का वैर लेने के लिए वसुदेव का अन्य उपकार करने में असमर्थ थी, वे डाकण की जैसी पापिणियों खेचरियों यशोदा और नंद आदि के यहाँ रहे कृष्ण को मारने के लिए गोकुल में आई। शकुनि ने गाडी के ऊपर बैठकर नीचे रहे हुए कृष्ण को दबाया। और उसके पास कटु शब्द किया। पूतना ने विष से लिप्त अपना स्तन कृष्ण के मुख में दिया। उस समय कृष्ण की सानिध्य में रहे हुए देवताओं ने उस गाडे से ही उन दोनों पर प्रहार करके मार डाला। नंद जब घर आये तब अकेले रहे कृष्ण को बिखरे हुए गाडे को और उन दोनों खेचरियों को मरी हुई देखा। मैं लुट गया ऐसा बोलते हुए नंद ने कृष्ण को उत्संग में लिया और आक्षेप से ग्वालों को कहा यह गाडा किस प्रकार बिखर गया? और ये राक्षस जैसे रूधिर से व्याप्त मरी हुई ये स्त्रियां कौन है? अरे! यह मेरा वत्स कृष्ण एकाकी ही उसके भाग्य से ही जीवित रहा है। गोप बोला हे स्वामिन्! बाल होने पर भी इस तुम्हारे बलवान बालक ने गाड़े को बिखेर दिया और इसने अकेले ही इन दोनों खेचरियों को मार डाला। यह सुनकर नंद ने कृष्ण के सब अंगों को देखा। उसके सर्व अंग अक्षत देखकर नंद ने यशोदा से कहा, हे भद्रे! इस पुत्र को अकेला छोड़कर दूसरा काम करने तू क्यों जाती है?

(गा. 123 से 131)

आज तूने थोडे समय के लिए छोड़ा तो वह ऐसे संकट में आ गया। किंतु अब तेरे घी के घड़े धुल जाते हो तो भी कृष्ण को छोडकर अन्यत्र जाना मत। तुझे मात्र इसे ही संभालना है, दूसरा कुछ भी काम करने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार अपने पति के वचन सुनकर हाय! मैं लुट गई। ऐसा कुंदन करने लगी और हाथों से छाती को कूटती हुई यशोदा ने कृष्ण के पास आकर उसको उठा लिया। मेरे लाल! तुझे कहीं लगी तो नहीं? ऐसा पूछती हुई कृष्ण के सर्व अंगों का निरीक्षण हस्त स्पर्श से करने लगी सब जगह से हाथ फेरा और उसके मस्तक पर चुंबन किया और छाती से दबा लिया। तब से यशोदा आदरपूर्वक निंरतर उसे

अपने पास ही रखने लगी। उस पर भी उत्साहशील कृष्ण छल करके इधर–उधर भागने लगे।

(गा. 132 से 136)

एक दिन एक रस्सी कृष्ण के उदर के साथ बांधी और एक रस्सी उरवल के साथ बांधकर उसके भाग जाने के भय से यशोदा पड़ौसी के घर गई। उस वक्त सूर्पक विद्याधर का पुत्र अपना पितामह संबंधी बैर को याद करके वहाँ आया ओर पास में ही अर्जुन जाति के दो वृक्ष के अंतर में उसे लाने का प्रयत्न करने लगे। तब कृष्ण के रक्षक देवताओं ने उन अर्जुन के वृक्षों का तोड़ दिया। ऐसी बात सुनकर नंद यशोदा सहित वहाँ आये। उन्होंने धूल से धूसरित हुए कृष्ण के मस्तक पर चुंबन किया। उस वक्त उदर को दाम रस्सी से बांधा हुआ देखकर सभी गोप उनको दामोदर कहकर बुलाने लगे। गोपों और गोपांगनाओं को वे बहुत प्यारे प्राणवल्लभ होने से वे उनको रात दिन छाती पर गोद में और मस्तक पर रखने लगे।

(गा. 137 से 142)

कृष्ण दही का मंथन करने की मथनी में से चपलता से मक्खन ले लेकर खा जाते थे, परंतु स्नेहार्द्र और कौतुक देखने के इच्छुक गोपाल उनको रोकते नहीं थे। किसी को मारते स्वेच्छा से फिरते और कुछ उठा ले जाते तो यशोदा पुत्र गांव वालों को आनंदित करते थे। उसको कोई कष्ट न आ जाए इसलिए कृष्ण जब दौड़ते तब गोपाले उनको पकड रखने के लिए पीछे दौड़ते थे, परंतु फिर भी वे रोक नहीं पाते थे। मात्र उनके स्नेह रूप गुण डोरी से आकर्षित होकर उनके पीछे जाते थे।

(गा. 143 से 145)

समुद्रविजयादि दशार्हों ने भी सुना कि कृष्ण ने बालक होने पर भी शकुनि और पूतना को मार डाला गाडा तोड़ डाला और अर्जुन जाति के दोनों वृक्षों का उन्मूलन कर डाला। यह बात सुनकर वसुदेव सोचने लगे कि मैंने मेरे पुत्र को छुपाया है फिर भी वह अपने पराक्रम से प्रसिद्ध हो जाएगा और कंस भी उसे जान जायेगा इससे वह उसका अमंगल करने का प्रयास करेगा। यद्यपि वह भी वैसे करने में अब समर्थ होगा नहीं, परंतु उस बालक की सहायता करने के लिए मैं एक पुत्र को भेजूँ तो ठीक, परंतु यदि अक्रूर आदि में से किसी को भेजूँगा तो

उसे तो वह क्रूर बुद्धिवाला कंस पहचान जाने से उसको शक हो जाएगा। इसलिए बलराम को ही वहाँ भेजना योग्य है, क्योंकि अभी तक कंस उसे पहचानता नहीं है। ऐसा निश्चय करके कृष्ण की कुशलता के लिए रोहिणी सहित राम को शौर्यपुर से बुलवाने के लिए वसुदेव ने एक व्यक्ति को समझाकर भेजा। उनके आने के बाद बलराम को अपने पास बुलाकर सर्व हकीकत यथार्थ रूप से समझाकर शिक्षा (सीख) देकर नंद और यशोदा को पुत्र रूप से अर्पण किया।

(गा. 146 से 151)

बलराम के गोकुल आने के बाद दस धनुष ऊँची शरीर वाले और सुंदर आकृतिवाले वे दोनों दूसरे सर्व काम छोड़कर निर्निमेष नेत्रों द्वारा ग्वाले लोगों द्वारा देखे जाते हुए क्रीड़ा करने लगे। बलराम से कृष्ण धनुर्वेद साथ ही अन्य कलाओं को सीखने लगे और गोपों से सेवा कराते हुए सुख से रहने लगे। किसी समय वे दोनों मित्र होते तो किसी समय शिष्य और आचार्य होते थे। इस प्रकार क्षणमात्र भी अवियोगी रूप से रहने पर भी वे विविध प्रकार की चेष्टाएँ करने लगे। मार्ग में चलते हुए केशव मदोन्मत बैलों को पूँछ से पकड़कर खड़े रखते थे, उस समय राम भाई के बल को जानने पर भी उदासी भाव से देखते रहते। जैसे जैसे कृष्ण बडे होते गए वैसे–वैसे गोंपागनाओं के चित्त में उनको देखने मात्र से काम विकार उत्पन्न होने लगा कृष्ण को बीच में बैठाकर वे उनके चारों ओंर फुंदडी खाकर रास गाने लगी।

(गा. 152 से 157)

कमल पर जैसे भंवरियां मंडराती हैं वैसे निर्भय चित्त से उनके चारों ओंर प्रदक्षिणा लगाने लगी। उनके सामने देखती रहती गोपांगनाएँ जैसे अपने नेत्रों को बंद ही नहीं करती थी वैसे कृष्ण –कृष्ण बोलती हुई अपने ओष्टपुट को भी बंद ही नहीं करती थी। कृष्ण पर मुग्ध गोपांगनाएँ दूध दुहते समय दूध की धारा को पृथ्वी पर गिरती हुई भी नहीं देख पाती थी। कृष्ण जब पराङ्मुख होकर जाते हैं तब अपने सामने दिखाने के लिए बिना कारण ही वे त्रास पाई हो वैसे पुकार करती थी, क्योंकि वे त्रास पाए हुए का रक्षण करने वाले थे। अनेक बार सिंदुवारदि पुष्पों की मालाएँ गूँथ–गूँथ कर गोपियाँ स्वंय ही स्वंयवर माला की तरह उन मालाओं को कृष्ण के हृदय पर पहनाती थी। फिर कभी जानबूझ कर गोपियाँ गीत नृत्यादिक में त्रुटि करती कि जिससे शिक्षा के बहाने कृष्ण आलाप

करके स्वंय ही बतावें। मुग्ध गोपियां आसक्त विकार का गोपन नहीं कर सकने वाली गोपिंया किसी भी बहाने से कृष्ण को बुलाती थी और उनका स्पर्श करती थी। मोरपंख के आभरण वाले कृष्ण गोपियों के गान से अविच्छिन्न रूप से पूरते कर्ण वाले होने पर भी गोपाल गूजरी को बोलते थे। जब कोई भी गोपी याचना करती तब कृष्ण अगाध जल में रहे हुए कमलों को भी हंस की तरह शीघ्र ही लीलामात्र में तैरकर ला देते।

(गा. 158 से 165)

बलराम को गोपियाँ उपालंभ देती कि आपके छोटे भाई देखने पर तो हमारे चित्त को हर लेते हैं, और न दिखने पर हमारे जीवन का हरण करते हैं। गिरिश्रृंग पर बैठकर वेणु को मधुर स्वर में बजाते और नृत्य करते कृष्ण बलराम को बारबार हंसाते थे। जब गोपियाँ गाती थी ओर कृष्ण नाचते थे तब बलराम रंगाचार्य की तरह उद्भट रूप से हस्ताल देते थे। इस प्रकार वहाँ क्रीड़ा करते हुए राम कृष्ण के सुषमा आरे के काल की तरह अत्यंत सुख में ग्यारह वर्ष व्यतीत हो गए।

(गा. 166 से 169)

इधर शौर्यपुर में समुद्रविजय जी की प्रिया शिवादेवी ने एक बार कुछ शेष रात्रि रही तब हाथी, वृषभ, सिंह, लक्ष्मीदेवी, पुष्पमाल, चंद्र, सूर्य, ध्वज, कुंभ, पद्मसरोवर समुद्र विमान, रत्नपुंज और अग्नि ये चौदह महास्वप्न देखे। उस समय कार्त्तिक कृष्णा द्वादशी को चित्रा नक्षत्र में चंद्र का योग आने पर अपराजित विमान से च्यव कर शंख राजा का जीव शिवा देवी की कुक्षि में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। उस समय नारकी के जीवों को भी सुख हुआ और तीन जगत में उद्योत हुआ। अरिहंत प्रभु के कल्याणक के समय अवश्य ही इस प्रकार होता है। पश्चात शिवादेवी ने जागने पर समुद्रविजय राजा को स्वप्न की सर्व बात कह सुनाई। समुद्रविजय जी ने स्वप्नार्थ पूछने के लिए कोष्टुकि को बुलाया तब वह तुंरत आया। इतने में एक चारण श्रमण स्वयंमेव वहाँ पधारे। राजा ने खड़े होकर उनकी वंदना की और एक उत्तम आसन पर बैठाया। तब उन कोष्टुकि को और मुनि को राजा ने स्वप्न का फल पूछा। उन्होंने कहा कि तुम्हारे तीन जगत के पति ऐसे तीर्थंकर पुत्र होंगे। इस प्रकार कहकर वे मुनि चले गये। राजा और रानी उनकी वाणी से मानो अमृत से नहा लिये हों, ऐसे अत्यंत हर्षित हुए। उस दिन से

देवी की तरह सुख को देने वाले और प्रत्येक अंग में लावण्य और सौभाग्य के उत्कर्ष देने वाले गूढ गर्भ को शिवादेवी ने धारण किया।

(गा. 170 से 178)

अनुक्रम से गर्भस्थिति पूर्ण होने पर श्रावण मास की शुक्ल पंचमी की रात्रि को चित्रा नक्षत्र में चंद्र योग आने पर कृष्ण वर्ण वाले और शंख के लंछन वाले पुत्र को शिवादेवी ने जन्म दिया। उस समय छप्पन दिग्कुमारियों ने अपने अपने स्थान से वहाँ आकर शिवादेवी और जिनेंद्र का प्रसूतिकर्म किया। शक्रेन्द्र ने वहाँ आकर पाँच रूप किये, जिसमें एक रूप द्वारा प्रभु को हाथ में ग्रहण किया, दो रूप द्वारा चँवर ढुलाए, वाजित्र बजाने लगे एक रूप से मस्तक पर उज्ज्वल छत्र धारण किया और एक रूप हाथ में वज्र लेकर नर्तक की भांति प्रभु के आगे नाचते नाचते चले। इस प्रकार मेरूपर्वत के शिखर पर अतिपांडूकबला नाम की शिला के पास आए। वह शिला ऊपर के अति उच्च सिंहासन पर भंगवत को गोद में लेकर शकेंद्र बैठे। उस वक्त अच्युतादि त्रेसठ इंद्र भी तत्काल ही वहाँ आए और उनको उन्होंने श्री जिनेंद्र का भक्तिपूर्वक अभिषेक किया। पश्चात ईशानेंद्र के उत्संग में प्रभु को अपर्ण करके शकेंद्र ने विधिपूर्वक स्नान कराया। और कुसुमादिक से पूजा कर आरती उतारी नमस्कार करके अंजलि जोड़कर भक्ति से निर्झर वाणी द्वारा इंद्र ने इस प्रकार स्तुति करना प्रारंभ किया।

(गा. 179 से 186)

हे मोक्षगामी और शिवादेवी की कुक्षि रूप शुक्ति में मुक्तामणि सदृश प्रभो! आप कल्याण के एक स्थान रूप और कल्याण को करने वाले हो। जिनके समीप में ही मोक्ष रहा हुआ है ऐसे समस्त वस्तुएँ जिनको प्रकट हुई है ऐसे और विविध प्रकार की ऋद्धि के निधान रूप श्री बावीसवें तीर्थंकर प्रभु! आपको नमस्कार हो। आप चरम देहधारी जगदगुरू हैं आपके जन्म से हरिवंश और इस भरत क्षेत्र की भूमि भी पवित्र हो गई है। हे जगदगुरू! आपकी कृपा एक आधार है, ब्रहमस्वरूप के एक स्थान हो और ऐश्वर्य के अद्वितीय आश्रय हो। हे जगत्पति! आपके दर्शन करके ही अतिमहिमा द्वारा प्राणियों के मोह का विध्वंस हो जाने से आपका देशनाकर्म सिद्ध हो जाता है। हरिवंश में अपूर्व मुक्ताफल समान हे प्रभो! आपके कारण बिना वत्सल और निमित्त बिना भर्ता हैं। अभी अपराजित विमान की अपेक्षा भी भरतक्षेत्र उतम है, क्योंकि उसमें लोगों को

सुख के लिए बोध देने वाले आप अवतरे है। हे भगवतं! आपके चरण निंरतर मेरे मानस के विषय में हंस रूप को भजो ओर मेरी वाणी आपके गुणों की स्तवना करने में चरितार्थ सफल होवे।

(गा. 187 से 194)

इस प्रकार स्तुति करके जगन्नाथ प्रभु को उठाकर इंद्र शिवादेवी के पास लाये और उनके पास से जैसे लिया वैसे ही वहाँ रख दिया। पीछे भगवन् का पालन करने के लिए पांच अप्सराओं को छायामाता के रूप में वहाँ रहने की आज्ञा करके इंद्र नंदीश्वर द्वीप गये और वहाँ यात्रा करके अपने स्थानक में गये।

(गा. 195 से 196)

प्रातःकाल सूर्य के समान उद्योत करने वाले महाकांतिमान पुत्र को देखकर समुद्रविजय राजा ने हर्षित होकर महान जन्मोत्सव किया। भगवंत जब गर्भ में थे तब माता ने अरिष्टमयी चक्र धारा स्वप्न में देखी थी इससे पिता ने उनका नाम अरिष्टनेमि स्थापित किया। अरिष्टनेमि का जन्म सुनकर हर्ष के प्रकर्ष से वसुदेव आदि ने मथुरा में भी महोत्सव किया।

(गा. 197 से 199)

किसी समय देवकी के पास आए हुए कंस ने उसके घर में ध्राणपुट नासिका छेदी हुई उस कन्या को देखा। इससे भयभीत होकर कंस ने अपने निवास पर आकर उत्तम नैमेतिक को बुलाकर पूछा कि देवकी के सातवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी ऐसा एक मुनि ने कहा था वो वृथा था क्या? नैमितिक ने कहा कि ऋषि का कहा हुआ कभी मिथ्या होता ही नहीं है, तुम्हारा अंत लाने वाला देवकी का सातवाँ गर्भ किसी भी स्थान पर जीवित है यह जानिये। इसकी परीक्षा के लिए अरिष्ट नाम का तुम्हारा बलवान बैल, केशी नाम का अश्व और दुर्दांत खर और मेष को वृंदावन में खुला छोड़ दो। पर्वत जैसे दृढ इन चारों को स्वेच्छा से क्रीडा करते करते जो मार डाले उसे ही देवकी का सातवाँ गर्भ और तुमको मारने वाला जानना। क्रमागत ज्ञानियों ने कहा है कि भुजाबल में वासुदेव पुत्र अद्वितीय है। वह वासुदेव सुवन महाक्रूर कालीनाग का दमन करेंगे, चाणूर मक्का वध करेंगे पमोत्तर और चंपक नाम के दो हाथियों को मारेंगे और वहीं तुमको भी मारेंगे।

(गा. 200 से 208)

इस प्रकार नैमितिक के वचन से अपने शत्रु जानकर अरिष्टादिक चारों बलवान पशुओं को कंस ने वृंदावन में खुला छोड़ दिया और चाणूर तथा मुष्टिक नामक दोनों मल्लों को भी श्रम करने का आदेश दिया। मूर्तिवंत अरिष्ट जैसा अरिष्ट बैल शरदऋतु में जाते–आते गोपालकों पर उपद्रव करने लगा। वह बैल नदी के तट पर कीचड़ उड़ावे वैसे श्रृंगों के अग्रभाग से गायों को उड़ाने लगा। सींग के अग्रभाग से घी के अनेक भाजनों को फोड़ने लगा। उसके ऐसे उपद्रव से हे कृष्ण! हे राम! हमारी रक्षा करो, हमारी रक्षा करो ऐसे अतिदीन कलकल शब्द ग्वाले करने लगे। उनका ऐसा कलकलाहट सुनकर संभ्रम से कृष्ण क्या हुआ? ऐसे बोलते हुए राम सहित वहाँ दौड़े चले आए। तब वहाँ उस महाबलवान वृषभ को देखा। उस समय हमें गाये नहीं चाहिए और न ही घी, सो वृद्धों द्वारा निषेध करने पर भी कृष्ण ने उस वृषभ को बुलाया। उनके आहवान से सींगों को नमाकर रोष से मुख का आकुंचन करके वह बैल गोविंद के सामने दौड़ा। तब उसे सींगों से पकड़कर उसका गला मोड़कर निरूच्छवास करके कृष्ण ने उसे मार डाला। अरिष्ट के मरण से मानो उनकी मृत्यु का ही मरण हुआ हो ऐसे वे ग्वाले खुश हुए और कृष्ण को देखने की तृष्णा रखते हुए उसे पूजने लगे।

(गा. 209 से 216)

कृष्ण वृंदावन में क्रीड़ा करते थे उस समय उन्होंने कृष्ण के केशी नाम के बलवान अश्व और यमराज के जैसे दुष्ट आश्य रखता हुआ मुँह फाड़ता हुआ वहाँ आया। दांतो से बछडों को पकड़ता हुआ, खुरों से गर्भिणी गायों को मारता हुआ और भयंकर चित्कार करता हुआ देख उस अश्व की कृष्ण ने तर्जना की। फिर उसे मारने के इच्छुक प्रसारित और दांत रूपी करवत से दारूण उसे मुख में वज्र के जैसा अपना हाथ कृष्ण ने मोड़कर डाल दिया। ग्रीवा तक ले जाकर उसके द्वारा उसका मुख ऐसा फाड़ डाला कि जिससे उस अरिष्ट के समूह की तरह तत्काल प्राणरहित हो गया। उसी वक्त कंस का पराक्रमी खर और मेढा वहाँ आये, उनको भी महाभुज कृष्ण ने लीलामात्र में मार डाला।

(गा. 217 से 221)

इन सबको मारने के समाचार सुनकर कंस ने अच्छी तरह से परीक्षा करने के लिए शार्ड धनुष के पूजोत्सव के बहाने सभा में स्थापना की। उसकी उपासना करने के लिए अपनी कुमारिका बहन सत्यभामा को उसके पास बिठाया और

बडा उत्सव प्रारंभ किया। कंस ने ऐसी घोषणा कराई कि जो इस शार्ड धनुष को चढाएगा उसे यह देवांगना जैसी सत्यभामा दी जावेगी। यह घोषणा सुनकर दूर दूर से बहुत से राजा वहाँ आए परंतु कोई भी उस धनुष को चढ़ाने में समर्थ हुआ नहीं। ये समाचार वसुदेवी की स्त्री मदनवेगा के पुत्र अनाधृष्टि ने सुनी तो वह वीरमानी कुमार वेग वाले रथ में बैठकर गोकुल में आए।

(गा. 222 से 226)

वहाँ राम और कृष्ण को देखकर उनके आवास में एक रात्रि आनंदवार्ता करने को कहा। प्रातःकाल अनुज बंधु राम को वहाँ छोड कर मथुरा का मार्ग बताने के लिए कृष्ण को साथ लेकर वहाँ से चला। बड़े–बड़े वृक्षों के कारण संकीर्ण हुए मार्ग पर चलते हुए उनका रथ एक बड़ के एक वृक्ष से जा टकराया। उस रथ को छुडाने में अनाधृष्टि समर्थ नहीं हुआ। उस समय पैदल चलते हुए कृष्ण ने लीलामात्र से उस वड़ वृक्ष को उखाड़ फेंक दिया और रथ का मार्ग सरल कर दिया। अनाधृष्टि कृष्ण का पराक्रम देखकर बहुत खुश हुआ इसलिए वह रथ से नीचे उतर कर उसने कृष्ण का आलिंगन किया और रथ में बैठाया। अनुक्रम से यमुना नदी पार कर मथुरानगरी में प्रवेश करके जहाँ पर अनेक राजागण बैठे थे, ऐसी शार्ड धनुष वाली सभा में वे आए। वहाँ मानो धनुष के अधिष्ठात्री देवता हो ऐसी कमल लोचना सत्यभामा उनको दिखाई दी।

(गा. 227 से 233)

सत्यभामा ने कृष्ण के सामने सतृष्ण दृष्टि से देखा और उसी क्षण वह कामदेव के बाण से पीड़ित होकर उसने मन ही मन में कृष्ण का वरण कर लिया। प्रथम अनाधृष्टि धनुष के पास जाकर उसे उठाने लगा, किंतु पंकिल भूमि में पैर फिसल गया हो, उसी भांति वह ऊँट की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसका हार टूट गया, मुकुट गिर गया और कुंडल भी गिर पड़े। यह देख सत्यभामा स्वल्प और अन्य सभी विकसित नेत्रों से खूब हंसने लगे। इन सभी के हास्य को सहन नहीं करके कृष्ण ने पुष्पमाला की तरह सहजता से ही उस धनुष को उठा लिया और उसकी प्रत्यंचा चढ़ा ली। कुंडलाकार करे उस तेजस्वी धनुष से इंद्रधनुष की तरह नवीन बरसते मेघ की तरह सुशोभित होने लगे। अनाधृष्टि ने घर जाकर द्वार के पास रथ में कृष्ण को बैठाकर खुद अकेला घर में गया और पिता वसुदेव को कहा कि हे तात! मैंने अकेले ने शार्ड धनुष को चढा दिया है जिसे

दूसरे राजा तो स्पर्श तक भी कर सकते थे। ऐसा सुनते ही वसुदेव ने आक्षेप से कहा कि तब तो तू शीघ्र ही चला जा क्योंकि तुझे धुनष चढाने वाला जानेगा तो कंस तत्काल ही तुझे मार डालेगा। ऐसा सुनकर अनाधृष्टि भयभीत होकर घर से शीघ्र बाहर निकला और कृष्ण के साथ जल्दी जल्दी नंद के गोकुल में आया, वहाँ से राम कृष्ण की आज्ञा लेकर अकेला शौर्यपुर गया।

(गा. 234 से 243)

इधर लोगों में बातें होने लगी कि नंद के पुत्र ने धनुष चढाया। उस धनुष को चढाने से कंस अत्यंत खेदित हुआ। फलस्वरूप धनुष के महोत्सव के स्थान पर बाहुयुद्ध करने के लिए सर्व मल्लों को आज्ञा दी। इस प्रसंग पर आमंत्रित राजा मल्लयुद्ध देखने की इच्छा से मंच पर आ आकर बैठ गये और बडे मंच पर बैठे हुए कंस के समक्ष दृष्टि रखने लगे। कंस का दुष्ट भाव जानकर वसुदेव ने अपने सर्व ज्येष्ठ बंधुओं को और अक्रूर आदि पुत्रों को भी वहाँ बुलाया। तेजस्वी सूर्य के सदृश तेजस्वी उन सभी का कंस ने सत्कार करके ऊँचे मंच पर बैठाया।

(गा. 244 से 247)

मल्लयुद्ध के उत्सव की वार्ता सुनकर कृष्ण ने राम से कहा, आर्य बंधु! चलो अपन मथुरा में जाकर मल्ल युद्ध का कौतुक देखें। यह स्वीकार करके राम ने यशोदा से कहा– माता! हमको मथुरापुरी जाना है, इसलिए हमारे स्नानादि की तैयारी करो। उसमें यशोदा को कुछ अनुत्साहित देखकर बलदेव ने कृष्ण द्वारा होने वाले मातृवध की प्रस्तावना करने के लिए हो वैसे आक्षेप से कहा, अरे यशोदा! क्या तू पूर्व का दीक्षीभाव भूल गई ? जो हमारी आज्ञा को जल्दी करने में देरी करती है। राम के ऐसे वचनों से कृष्ण के मन में बहुत दुख हुआ इससे वे निस्तेज हो गए। उनको बलराम यमुदा नदी में स्नान कराने को ले गए। वहाँ राम ने कृष्ण को पूछा हे वत्स! चौमासे के मेघवायु के स्पर्श से दर्पण की तरह तुम निस्तेज कैसे लगते हो ?

(गा. 248 से 253)

कृष्ण ने बलदेव को गद गद स्वर में कहा, भद्र! तुमने मेरी माता यशोदा को आक्षेप से दासी कहकर क्यों बुलाया ? तब राम ने मिष्ट और मनोहर वचनो से कृष्ण को कहा, वत्स! वह यशोदा तेरी माता नहीं है नंद पिता नहीं है परंतु देवक राजा की पुत्री देवकी तुम्हारी माता हैं और विश्व में अद्वितीय हैं वीर और

महासौभाग्यवान वसुदेव तेरे पिता हैं। स्तनमय से पृथ्वी सिंचन करती हुई देवकी नेत्रों में अश्रु लाकर प्रत्येक महिने में तुमको देखने के लिए यहाँ आती है। दाक्षिण्यता के सागर अपने पिता वसुदेव कंस के आग्रह से मथुरा में रहे हुए हैं। मैं तुम्हारा बड़ा सम्पन्न सौतेला भाई हूँ। तुम्हारे पर विघ्न की शंकावाले पिता की आज्ञा से मैं तुम्हारी रक्षा करने के लिए यहाँ आया हूँ। कृष्ण ने पूछा तो पिता ने मुझे यहाँ क्यों रखा है? तब राम ने कंस का भातृवध संबंधित सर्व वृत्तांत कह सुनाया। यह सुनकर वायु द्वारा अग्नि की तरह कृष्ण को दारूण क्रोध चढ़ा और उन्होंने तत्क्षण कंस को मारने की प्रतिज्ञा की। तब नदी में स्नान करने के लिए प्रवेश किया।

(गा. 254 से 261)

कंस का प्रिय मित्र हो, ऐसा कालिय नाम का सर्प यमुना के जल में मग्न हुए कृष्ण को डंसने के लिए उनके सामने दौड़ा। उसके फण में स्थित मणि के प्रकाश से यह क्या है? ऐसे संग्रम पाकर राम कुछ कह ही रहे थे कि इतने में तो कृष्ण ने कमलनाल की तरह उसको पकड लिया। फिर कमल नाल से वृषभ जैसे नासिका में अकेल डाले वैसे किया। उसके ऊपर चढकर कृष्ण से ने उसे बहुत देर से जल में घुमाया। बाद में उसे निर्जीव जैसा करके, अत्यंत दुखी करके कृष्ण बाहर निकले। उस वक्त स्नानाविधि करने वाले ब्राह्मण ने वहाँ आकर कौतुक से कृष्ण को घेर लिया। गोपों से घिरे हुए राम तथा कृष्ण मथुरा की ओर चले, कुछेक समय में वे नगरी के दरवाजे के पास आये।

(गा. 262 से 266)

उस समय कंस की आज्ञा से महावत ने पद्मोत्तर और चंपक नामक दो हाथियों को तैयार कर रखे थे, उनके आगे कृष्ण राम के समक्ष रौदने हेतु बढाया जिससे वे दोनों उनके सन्मुख दौड़े। कृष्ण ने खींच कर मुट्ठि के प्रहार से सिंह की तरह पद्मोत्तर को मार डाला और राम ने चंपक को मार दिया। उस समय नगर जन परस्पर विस्मित होकर बताने लगे कि ये दोनों अरिष्ट वृषभ आदि को मारने वाले नंद के पुत्र हैं। तब नील और पीत वस्त्र को पहनने वाले और वनमाला को धारण करने वाले और ग्वालों से घिरे हुए वे दोनों भाई मल्लों के अक्षवाट अखाड़े में आए। वहाँ एक महामंच पर बैठे हुए लोगों को उठाकर दोनों भाई परिवार के साथ निःशंक होकर बैठ गए। तब राम ने कृष्ण को कंस

का शत्रु बताया तत्पश्चात् अनुक्रम से समुद्रविजयादि दशार्ह काकाओं को और उनके पीछे बैठे अपने पिता की पहचान कराई। उस समय ये देव जैसे दोनों पुरूष कौन है? इस प्रकार मंच पर स्थित सभी राजा गण और नगर जन परस्पर विचार करते हुए उनको देखने लगे।

(गा. 267 से 273)

कंस की आज्ञा से प्रथम तो उस अखाड़े में अनेक मल्ल युद्ध करने लगे। उसके पश्चात् कंस से प्रेरित पर्वत की आकृति युक्त चाणूर मल्ल उठा। मेघ की तरह उग्र गर्जना करता हुआ और करास्फोट द्वारा सर्व राजाओं को आह्वान करता हुआ वह बोला, जो कोई वीर पुत्र हो अथवा जो कोई वीरमानी दुर्धर पुरूष हो वह मेरी बाहुयुद्ध की श्रद्धा पूरी करे।

(गा. 274 से 277)

इस प्रकार अति गर्जना करने वाले उस चाणूर मल्ल का गर्व सहन नहीं करने वाले महाभुज कृष्ण मंच पर से नीचे उतरकर उसके सामने करास्फोट किया। सिंह के पूँछ के आस्फोट की भाँति कृष्ण के करास्फोट के उग्रध्वनि के भूमि और अंतरिक्ष को गुंजायमान कर डाला। यह चाणूर बय और वपु से बड़ा श्रम करने में कठोर बाहु युद्ध से ही आजीविका करने वाला दैत्य के जैसा क्रूर है और यह कृष्ण तो दुग्धमुख मुग्ध कमलोदर से भी कोमल और वनवासी होने से मल्लयुद्ध से अनजान है इस लिए इन दोनों का युद्ध उचित नहीं है यह अघटित हो रहा है ऐसे विश्वनिंदित काम को धिक्कार है। इस प्रकार ऊँचे स्वर से बोलते हुए लोगों का चारों तरफ कोलाहल होने लगा। तब कंस ने क्रोध से कहा इन दोनों गोपबालकों को यहाँ कौन लाया है? गाय का दूध पीकर उन्मुक्त हुए ये दोनों बालक स्वेच्छा से यहाँ आए हैं, तो वे स्वेच्छा से युद्ध करें। इसमें इनको कौन रोके? फिर भी जिनको भी इन दोनों की पीड़ा होती हो वे अलग होकर मुझे बताएँ। कंस के इन वचनों को सुनकर सभी जन चुप हो गए। अपने नेत्र कमल को विकसित करते हुए कृष्ण बोले– चाणूर मल्ल कुंजर राजपिंड से पुष्ट हुआ है सदा मल्लयुद्ध का अभ्यास करता है और शरीर में महासमर्थ है, फिर भी गाय के दूध का पान करके जीने वाला मैं गोपाल का बालक सिंह का शिशु जैसे हाथी को मारे वैसे उसको मार डालता हूँ।

(गा. 278 से 286)

आप सब लोग अवलोकन करें। कृष्ण के इन पराक्रमी वचनों को सुनकर कंस भयभीत हो गया। इसलिए कंस ने तत्काल ही एक ही साथ युद्ध करने के लिए दूसरे मुष्टिक नाम के मल्ल को आज्ञा दी। मुष्टिक को उठा हुआ देखकर बलराम तुरंत ही मंच से नीचे उतरे और रणकर्म में चतुर ऐसे उन्होंने युद्ध करने के लिए उसे बुलाया। कृष्ण और चाणूर तथा राम और मुष्टिक नागपाश जैसी भुजाओं के द्वारा युद्ध में प्रवृत हुए। उनके चरणन्यास से पृथ्वी कंपायमान होने लगी और करास्फोट के शब्दों से ब्रह्माण्ड मंडप कंपायमान हो गया। राम और कृष्ण ने उस मुष्टिक और चाणूर को तिनके के पूले की तरह ऊँचा उछाला यह देख लोग खुश हो गये। चाणूर और मुष्टिक ने राम कृष्ण को सहज ऊँचा उछाला, यह देख सभी लोग ग्लानमुखी हो गये। उसी समय कृष्ण ने हाथी की तरह दंतमूसल से पर्वत पर ताडना करने के समान दृढ़ मुष्टि से चाणूर की छाती पर ताड़न किया।

(गा. 287 से 293)

तब जय के इच्छुक चाणूर ने कृष्ण के उरस्थल में वज्र जैसी मुष्टि से प्रहार किया। उस प्रहार से मधपान की भांति कृष्ण की आँखों के आगे अंधेरा आ गया और अति पीडित हो आँखे मींच कर वे पृथ्वी पर गिर पड़े। उस समय छल में चतुर कंस ने दृष्टि द्वारा चाणूर को प्रेरित किया, तो पापी चाणूर मूर्च्छित होकर पड़े कृष्ण को मारने के लिए दौड़ा। उसको मारने के इच्छुक जानकर बलदेव ने तत्क्षण वज्र जैसे हाथ के प्रकोष्ट पोंचे से उस पर प्रहार किया। उस प्रहार से चाणूर सात धनुष पीछे खिसक गया। इतने में कृष्ण भी आश्वस्त होकर खड़े हो गये एवं चाणूर को पुनः युद्ध का आह्वान करने लगे तब महापराक्रमी कृष्ण ने चाणूर को दो जानु के बीच में दबोचा भुजा के द्वारा उसका मस्तक झुकाकर ऐसा मुष्टि से प्रहार किया कि जिससे चाणूर रूधिर की धारा से वमन करने लगा। उसके लोचन अत्यंत विछल हो गये। इससे कृष्ण ने उसको छोड़ दिया। उसी क्षण कृष्ण से भयभीत हो उसके प्राणो ने भी उसको छोड़ दिया अर्थात उसकी मृत्यु हो गई।

(गा. 294 से 300)

इधर क्रोध से कंपित हो कंस बोला, अरे! इन दोनों अधम गोपबालकों को मार डालो। विलंब मत करो, और इन दोनों सर्पों का पोषण करने वाले नंद को भी मारो। उस दुर्मति नंद का सर्वस्व लूट कर यहाँ ले आओ। साथ ही नंद का पक्ष

लेकर बीच में आवे उसे भी उस जैसा ही दोषित गिनकर मेरी आज्ञा से मार डालो। उस समय क्रोध से लाल नेत्र करके कृष्ण ने कहा अरे पापी! चाणूर को मारा फिर अभी भी तू खुद की आत्मा को मरा हुआ नहीं मान रहा। तो प्रथम मेरे द्वारा नाश होते तेरी आत्मा की अब तू रक्षा कर तब क्रोध करके नंद आदि के लिए आज्ञा करना। ऐसा कहकर कृष्ण उछाल मार कर मंच पर चढकर केशों से पकड़कर कंस को पृथ्वी पर पटक दिया। उसका मुकुट पृथ्वी पर गिर पड़ा, वस्त्र खिसक गए और नेत्र भय से संग्रम हो गये। कसाई के घर बांधे हुए पशु की तरह उस कंस को कृष्ण ने कहा, अरे अधम! तूने तेरी रक्षा के लिए वृथा ही गर्भ हत्याएँ करी, अब तू ही रहने वाला नहीं है।

(गा. 301 से 308)

अब अपने कर्म का फल भोग। उस समय उन्मत हाथी की सिंह पकड़े वैसे हरि ने कंस को पकड़ा हुआ देख सब लोग आश्चर्यचकित हो गये और अंतर में डरने लगे। उसी समय राम ने बंधने से श्वासरहित करके यज्ञ में लाए हुए पशु की तरह मुष्टिक को मार डाला। इतने में कंस की रक्षा करने के लिए रहे हुए कंस के सुभट विविध प्रकार के आयुधों केा हाथ में लेकर कृष्ण को मारने के लिए दौड़े। तो राम ने एक मंच के स्तंभ को उखाड़कर हाथ में लेकर मधुमक्खी के छते पर से मक्खियां उड़ावें वैसे उन सब को भगा दिया। तब कृष्ण ने मस्तक पर चरण रखकर कंस को मार डाला और गंदगी को समुद्र बाहर फेंक देता है वैसे उसे केश से खींचकर रंगमंडप से बाहर फेंक दिया। कंस ने पहले ही जरासंध के सैनिक बुला रखे थे। वे राम कृष्ण को मारने के लिए तैयार होने लगे। उनको तैयार होते देख राजा समुद्रविजय भी तैयार हो युद्ध करने के लिए आए क्योंकि उनका आगमन उनके लिए ही था। जब उद्वेल समुद्र की तरह राजा समुद्रविजय उठकर वहाँ आये तो जरासंध के सैनिक दसों दिशाओं में भाग गये।

(गा. 309 से 316)

अनाधृष्टि समुद्रविजय की आज्ञा से बलराम कृष्ण को अपने रथ में बिठकार वसुदेव के घर ले गया। सर्व यादव और समुद्रविजय आदि भी वसुदेव के घर गए और वहाँ एकत्रित होकर सभा करके वहाँ बैठे। वसुदेव अर्धासन पर बलराम को और उत्संग में कृष्ण को लेकर नेत्र में अश्रु लाकर उनके मस्तक पर पुनः–पुनः चुंबन करने लगे। उस समय वसुदेव के अग्रज सहोदर बंधुओं ने

उनको पूछा कि यह क्या? तब वसुदेव ने अतिमुक्त मुनि के वृत्तांत से लेकर सर्व हकीकत कह सुनाई। तब राजा समुद्रविजय ने कृष्ण को अपने उत्संग में बिठाया और उनके पालन करने से प्रसन्न होकर राम की बारंबार प्रशंसा करने लगे। उस समय देवकी भी छिद्रनासिका वाली पुत्री को साथ लेकर वहाँ आयी और एक उत्संग में से अन्य उत्संग में संचरित कृष्ण का उसने दृढ आलिंगन किया।

(गा. 317 से 322)

तब सभी यादव हर्षाश्रु वर्षाते हुए बोले हे महाभुज वसुदेव! तुम अकेले ही इस जगत को जीतने में समर्थ हो फिर भी तुम्हारे बालकों को जन्मते ही उस क्रूर कंस ने मार डाला। यह तुमने कैसे सहन किया? वसुदेव बोले– मैंने जन्म से ही सत्प्रवत का पालन किया है इससे उस व्रत की रक्षा के लिए पहले वचन दे देने से ऐसा दुष्टकर्म सहन किया। अंत में देवकी के आग्रह से इस कृष्ण को नंद के गोकुल में छोड़ आया और उसके बदले नंद की पुत्री को यहां ले आया, तब देवकी का सातवाँ गर्भ कन्या को जानकर उस पापी कंस ने अवज्ञा से नासिका का एक नथुना छेदकर इस बालिका को छोड़ दिया। इस प्रकार वार्तालाप होने के पश्चात भाई और भ्रातृपुत्रों की संमति से समुद्रविजय ने कारागृह में से अग्रसेन राजा को छुड़ाकर बुला लिया और उनके साथ यमुना के किनारे जाकर सबने कंस का प्रेतकार्य किया।

(गा. 323 से 329)

कंस की माता ने और पत्नियों ने यमुना नदी में उसको जलांजलि दी परंतु उसकी रानी जीवयशा ने मान धरकर जलांजलि नहीं दी वह तो कुपित होकर बोली कि, इन राम और कृष्ण गोपाल का सर्व संतान सहित दशार्हों का हनन कराकर तब मेरे पति का प्रेतकार्य करूँगी, नहीं तो मैं अग्नि में प्रवेश करूँगी। ऐसी प्रतिज्ञा लेकर वह जीवयशा मथुरा से निकलकर तत्काल अपने पिता जरासंध की आश्रित करी रजगृही नगरी में आई। इधर राम और कृष्ण की अनुज्ञा से समुद्रविजय ने उग्रसेन को मथुरापुरी का राजा बनाया। उग्रसेन ने अपनी पुत्री सत्यभामा कृष्ण को दी और क्रोष्टुकि कथित शुभ दिन में उनका यथाविधि विवाह हुआ।

(गा. 330 से 334)

इधर जीवयशा खुले केश से रूदन करती हुई मानो मूर्तिमान लक्ष्मी हो वैसी जरासंध की सभा में आई। जरासंध ने रूदन का कारण पूछा। तब उसने बहुत प्रयास से मुनि अतिमुक्त का वृत्तांत और कंस के घात तक की सर्व कथा कह सुनाई। यह सुनकर जरासंध बोला कंस ने पहले देवकी को मारा नहीं, यह अच्छा नहीं किया। यदि पहले ही उसे मार दिया होता तो क्षेत्र के बिना खेती किस प्रकार से होती ? हे वत्से! अब तू रूदन मत कर। मैं मूल से कंस के सर्व घातकों के सपरिवार मार डाल कर उनकी स्त्रियों को रूलाऊँगा। इस प्रकार जीवयशा को शांत करके जरासंध ने सोमक नाम के राजा को सर्व हकीकत समझा कर समुद्रविजय के पास भेजा। वह शीघ्र ही मथुरापुरी आया और उसने राजा समुद्रविजय को कहा आपके स्वामी जरासंध तुमको ऐसी आज्ञा करते हैं कि हमारी पुत्री जीवयशा और उसके स्नेह के कारण उसके पति कंस दोनों हमको प्राणों से भी प्यारे हैं। यह सर्वविदित है तुम हमारे सेवक हो, तो सुख से रहो परंतु उस कंस का द्रोह करने वाले राम कृष्ण को हमको सौंप दो और फिर यह देवी का सातवाँ गर्भ है जो तुमको अर्पण तो किया हुआ ही है। फिर भी तुमने उसे गोपन रखने का जो अपराध किया है, इससे पुनः हमको सौंप दो।

(गा. 335 से 343)

सोमक के इन वचनों को सुनकर समुद्रविजय ने उनको कहा सरल मन वाले वसुदेव ने मुझ से परोक्ष रूप में छः गर्भ कंस को अर्पण किये वह भी उचित नहीं किया और राम तथा कृष्ण ने अपने भ्रातृवध के वैर से कंस को मारा तो इसमें उनका क्या अपराध है ? हमारा यह एक दोष है कि यह वसुदेव बाल्यवय से ही स्वेच्छाचारी है इससे उसकी अपनी बुद्धि से प्रवृति करने से मेरे छः पुत्र मारे गये। ये राम और कृष्ण तो मुझे प्राणों से भी प्यारे हैं, और उनको मारने की इच्छा से तेरे स्वामी ने मांग की है, यह उनका एकदम अविचारीपन सूचित करता है। तब सोमक राजा ने कुपित होकर कहा अपने स्वामी की आज्ञा में सेवकों को युक्तायुक्त का विचार करना योग्य नहीं है। हे राजन्! जहाँ तुम्हारे छः गर्भ गये हैं, वहाँ ये दोनों दुर्मति राम और कृष्ण भी जायेंगे। उनको रखने के विचार से तक्षक नाग के मस्तक पर खुजली किसलिए करते हो ? बलवान के साथ विरोध करना यह कुशलता नहीं होती।

(गा. 344 से 351)

तुम जरासंध के समक्ष हाथी के सामने मेढा के समान हो? उस वक्त कृष्ण ने क्रोध से कहा, अरे सोमक! हमारे पिता ने सरलता से तेरे स्वामी के साथ आज तक स्नेह संबंध रखा है, इससे क्या तेरा स्वामी बड़ा सामर्थ्यशाली हो गया है? यह जरासंध हमारा स्वामी नहीं है, परंतु उसके ऐसे वचनों से तो यह दूसरा कंस ही है। इसलिए यहाँ से जा और तेरी इच्छा मुताबिक अपने स्वामी को कह देना। कृष्ण के ऐसे वचन सुनकर सोमक ने समुद्रविजय से कहा हे दशार्हमुख! यह तुम्हारा पुत्र कुलांगार है फिर भी तुम इसकी अपेक्षा क्यों करते हो? उसके ऐसे वचन से कोप से प्रज्वलित हुए अनाधृष्णि ने कहा अरे! बारबार हमारे पिता से पुत्रों की याचना करता हुआ तू शरमाता क्यों नहीं? अपने जवाई कंस के ही वध से तेरा स्वामी इतना दुखी हुआ है तो क्या हमारे छः भाइयों के वध से हम दुखी नहीं हुए? अब ये पराक्रमी राम और कृष्ण और दूसरा अक्रूर आदि हम तेरे भाषण को सहन नहीं करेंगे। इस प्रकार अनाधृष्णि द्वारा तिरस्कृत एवं समुद्रविजय द्वारा अपेक्षित वह सोमक राजा रोष विह्वल हो अपने स्थान पर चला गया।

(गा. 352 से 357)

दूसरे दिन दशार्हपति ने अपने सर्व बांधवों को एकत्रित करके हितकारक क्रोष्टुकि नैमेतिक को पूछा हे महाशय! हमारा त्रिखंड भरतक्षेत्र के स्वामी जरासंध के साथ विग्रह हो गया है, तो अब इसका परिणाम क्या आएगा यह बताओ। कोष्टुकि बोला हे राजेंद्र! ये पराक्रमी राम और कृष्ण अल्पसमय में उसे मारकर त्रिखंड भरत के अधिपति होंगे। परंतु अभी तुम पश्चिम दिशा की ओर समुद्रतट को लक्ष्य में रखकर जाओ। वहाँ जाते ही तुम्हारे शत्रुओं का क्षय प्रारंभ हो जाएगा। मार्ग में चलते चलते यह सत्यभामा जिस स्थान पर दो पुत्रों को जन्म दे, उस स्थान पर एक नगरी बसाकर तुम निशंक रूप से रहना। क्रोष्टुकि ऐसे वचनों से राजा समुद्रविजय ने यह उद्घोषणा कराकर अपने सर्व स्वजनों को प्रयाण से समाचार दिये। एवं ग्यारह कुलकोटि यादवों को लेकर उन्होंने मथुरा नगरी छोड़ी। अनुक्रम से शौर्यपुर आये। वहाँ से भी सात कुल कोटि यादवों को लेकर आगे चले।

(गा. 358 से 364)

उग्रसेन राजा भी समुद्रविजय का अनुसरण करके साथ चले। क्रमशः सभी विंध्यगिरी के मध्य में होकर सुखपूर्वक आगे चलने लगे।

(गा. 365)

इधर उस सोमक राजा ने अर्धचिक्री जरासंध के पास आकर सर्व वृत्तांत कह सुनाया। जो कि क्रोध रूपी अग्नि में ईंधन जैसा हो गया। उस समय क्रोधित जरासंध के काल नाम के पुत्र ने कहा ये तपस्वी यादव तुम्हारे आगे क्या है? इसलिए मुझे आज्ञा दो, मैं दिशाओं के अंतभाग में से अग्नि में से अथवा समुद्र के मध्यभाग में से जहाँ भी होंगे वहाँ इन यादवों को खींच खींच कर लाकर मारकर यहाँ आऊँगा। इसके बिना वापिस यहाँ नहीं आऊँगा। जरासंध ने पांच सौ राजाओं के साथ विपुल सेना देकर काल को यादवों पर चढाई करने की आज्ञा दी। काल अपने भाई यवन और सहदेव सहित अपशकुनों का निवारण करता हुआ आगे चला। यादवों के पद चिह्नों को देख देखकर चलता हुआ काल विंध्याचल के नजदीक की भूमि कि जहाँ से यादव नजदीक में ही थे, वहाँ आ पहुँचा।

(गा. 366 से 371)

काल को नजदीक आया हुआ देखकर राम और कृष्ण के रक्षक देवताओं ने एक द्वार वाले ऊँचे और विशाल पर्वत की विकुर्वण की और यहाँ रहा हुआ यादवों का सैन्य अग्नि से भस्म हो गया। ऐसा बोलती हुई औार बड़ी चिता के पास बैठकर रूदन करती हुई एक स्त्री दिखलाई दी। उसे देखकर काल काल की तरह ही उसके पास आया, तो वह स्त्री बोली तुझ से त्रास पाकर सब यादवों ने इस अग्नि में प्रवेश कर लिया, दशार्ह राम और कृष्ण ने भी अग्नि में प्रवेश कर लिया। इससे बंधुओं का वियोग हो जाने से मैं भी इस अग्नि में प्रवेश करती हूँ इस प्रकार कहकर उसने अग्नि में प्रवेश किया। देवता इस कार्य से मोहित हुए काल अग्नि में प्रवेश करने को तैयार हुआ, और उसने अपने भाई सहदेव यवन और दूसरे राजाओं को कहा कि मैंने पिताजी ओर बहन के पास प्रतिज्ञा की है कि अग्नि आदि में से भी खींचकर मैं यादवों को मार डालूँगा। वे यादव मेरे भय से यहाँ अग्नि में घुस गये। तो मैं भी उनको मारने के लिए इस प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करता हूँ।

इस प्रकार कहकर वह काल ढाल तलवार सहित पंतग की तरह अग्नि में कूद पड़ा और क्षणभर में देवमोहित हुआ वह अपने लोगों को देखते ही देखते मृत्यु को प्राप्त हो गया। उस समय भगवान सूर्य अस्तगिरि पर गये। इससे यवन सहदेव आदि ने वहीं पर वास किया। जब प्रभात हुआ तब उन्होंने पर्वत और चिता आदि कुछ भी वहाँ देखा नहीं ओर हरेक लोगों ने आकर समाचार दिये कि यादव दूर चले गये हैं। कितने ही वृद्धजनों ने विचार करके निर्णय लिया कि

यह देवताओं द्वारा प्ररूपित माया थी। पश्चात यवन आदि सर्व वापिस लौट कर राजगृही आये और सर्व वृत्तांत जरासंध को बताया। यह सुन जरासंध मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। कुछ समय पश्चात सचेतन होकर वह हे काल! हे काल! हे कंस ! हे कंस! बोलता हुआ रोने लगा।

(गा. 380 से 384)

यहाँ काल की मृत्यु के समाचार जानकर मार्ग में चलते हुए यादवों को पूर्ण प्रतीति हो गई और क्रोष्टुकि को अत्यधिक हर्ष से पूजने लगे। मार्ग में एक वन में पड़ाव डाल कर रहे थे कि वहाँ अतिमुक्त चारणमुनि आ पहुँचे। दशार्हपति समुद्रविजय ने उनकी पूजा की। उन महामुनि को प्रणाम करे उनने पूछा– हे भगवन्! इस विपति में हमारा अंत में क्या होगा? मुनि बोले– भयभीत मत होओ आपके पुत्र कुमार अरिष्टनेमि त्रैलोक्य में अद्वैत पराक्रमी बाईसवें तीर्थकर होंगे और बलदेव एवं वासुदेव ऐसे राम और कृष्ण द्वारिका नगरी बसाकर रहेंगे।

(गा. 385 से 389)

जरासंध का वध करके अर्धभरत के स्वामी होंगे। यह सुनकर हर्षित होकर समुद्रविजय ने पूजा करके मुनि को विदा किया और स्वंय सुखपूर्वक प्रयाण करते हुए अनुक्रम से सौराष्ट्र देश में आए। वहाँ रैवत गिरनारगिरी के वायव्य दिशा की अढार कुलकोटि यादवों के साथ छावणी डाली। वहाँ कृष्ण की स्त्री सत्यभामा ने दो पुत्रों को जन्म दिया। उन दोनों पुत्रों की जातिवंत सुवर्ण जैसी कांति थी। पश्चात क्रोष्टुकि द्वारा बताए गए शुभ दिन में कृष्ण ने स्नान करके बलिदान के साथ समुद्र की पूजा की और अष्टम तप किया। तृतीय रात्रि को लवणसागर के अधिष्ठाता सुस्थित देव आकाश में रहकर अंजलि जोड़कर प्रकट हुआ। उन्होंने कृष्ण को पांचजन्य एवं राम को सुघोषा नामक शंख दिया। इसके अतिरिक्त दिव्यरत्नमाला और वस्त्र दिये। पश्चात कृष्ण को कहा, आपने मुझे किस लिए याद किया है? मैं सुस्थित नाम का देव हूँ, कहो आपका क्या काम करूँ? कृष्ण ने कहा, हे देव! पूर्व के वासुदेव की द्वारका नाम की जो नगरी यहाँ थी, जो तुमने जल में निमग्न कर दी है, अब मेरे निवास के लिए वही नगरी वाला स्थान बनाओ। स्थान निर्देश करके वह देव इंद्र के पास जाकर उनसे वास्तविकता का निवेदन किया।

(गा. 389 से 398)

इंद्र की आज्ञा से कुबेर ने उस स्थान पर बारह योजन लंबी और नौ योजन विस्तार वाली रत्नमयी नगरी बनाकर दी। अट्ठारह हाथ ऊँचा, नौ हाथ भूमि में स्थित और बारह हाथ चौडा, चारों ओर रकई वाला उसके आस पास किला बनाया। उसमें गोल चोको, गिरिकूटाकार और स्वास्तिक के आकार का सर्वतोभद्र मंदर, अवंतस और वर्द्धमान ऐसे नाम वाले एक मंजिला, दुमंजिला, तिमंजिला आदि मंजिल वाले लाखों महल बनाये। उनके चौक में, त्रिक के विचित्र रत्न माणिक्य द्वारा हजारों जिन चैत्य निर्मित करो। अग्निदिशा में सुवर्ण के किले वाला स्वास्तिक के आकार का समुद्रविजय राजा के लिए महल बनाया। उसके पास अक्षोभ्य और स्तमित के नंदार्वत और गिरिकूटाकार दो प्रासाद किले सहित बनाये। नैऋत्य दिशा में सागर के लिए आठ अंश वाला ऊँचा प्रासाद रचा और पांचवें छठे दशार्ह के लिए वर्धमान नाम के दो प्रासाद रचे। ईशान दिशा में कुबेरच्छद नाम का वसुदेव के लिए प्रासाद रचा। ये सर्व प्रासाद कल्पवृक्षों से परिवृत गजशाला और अश्वशालाओं के सहित किल्लेवाले, विशाल द्वार वाले आकर ध्वज पताका की श्रेणियों द्वारा शोभित थे।

(गा. 399 से 410)

उन सबके बीच में चौरस विशाल द्वार वाला पृथ्वीजय नामक बलदेव के लिए प्रासाद रचा और उसके समीप अट्ठारह मंजिल का और विविध गृह के परिवार सहित सर्वतोभद्र नाम का प्रासाद कृष्ण के लिए रचा गया। उन राम कृष्ण के प्रासाद के आगे इंद्र की सुधर्मा सभा जैसी सर्वप्रभा नाम की एक विविध माणिक्यमयी सभा रची। नगरी के मध्य में एक सौ आठ महाश्रेष्ठ जिनबिंबों से विभूषित मेरूगिरी के शिखर जैसा गवाक्ष वाला साथ ही विचित्र प्रकार की सुवर्ण की वेदिका वाला एक अर्हत का मंदिर विश्वकर्मा ने बनाया। सरोवर, दीर्घकाएँ, वापिकाएँ, चैत्यों, उद्यानों और रास्तें आदि सर्व अत्यंत रमणीय हैं जिसमें हों ऐसा एक रात दिवस में ही तैयार कर दिया। इस प्रकार की वासुदेव की द्वारिका नगरी देवताओं द्वारा निर्मित होने से इंद्रपुरी जैसी रमणीय बनी। उसके समीप में खैतगिरी दक्षिण में माल्यवान शैल पश्चिम में सोमनस पर्वत और उत्तर में गंधमादन गिरि था।

(गा. 411 से 418)

पूर्वोक्त प्रकार से द्वारिका की रचना करके प्रातःकाल कुबेर ने आकर कृष्ण को दो पीतांबर नक्षत्रमाला हार मुकुट कौस्तुभ नाम की महामणि शार्ड

धनुष्य अक्षय बाण वाले तूणीर नंदन नाम की खड्ग कौमोदकी गदा और गरूडध्वज रथ इतनी वस्तुएँ दी। राम को वनमाला, मूसल, दो नील वस्त्र ताल ध्वज रथ अक्षय तूणीर तरकश धनुष और हल दिये। दसों दशार्हों को रत्नों के आमरण दिये, क्योंकि वे राम कृष्ण के पूज्य थे। पश्चात सर्व यादवों ने कृष्ण को शत्रुसंहारक जानकर हर्ष से पश्चिम समुद्र के तीर पर उनका अभिषेक किया। उसके बाद राम सिद्धार्थ नाम के सारथि वाले तथा कृष्ण दारूक नाम के सारथि वाले रथ में बैठकर द्वारिका में प्रवेश करने को तैयार हुए और ग्रह नक्षत्रों से परिवृत सूर्य चंद्र की तरह अनेक रथों में बैठे हुए यादवों से परिवृत होकर उन्होंने जय जय के नाद के साथ द्वारिका में प्रवेश किया। कृष्ण की आज्ञा से कुबेर द्वारा निर्दिष्ट महलों में दशार्ह राम और कृष्ण अन्य यादव और उनका परिवार आकर रहा। कुबेर ने साढे तीन दिन तक सुवर्ण रत्न धन विचित्र वस्त्र और धान्य की वृष्टि करके उस अभिनव नगरी को धन वैभव पूर्ण कर दिया।

(गा. 419 से 426)

षष्ठम् सर्ग

अब द्वारका में कृष्ण वासुदेव राम सहित दशार्हों को अनुसरण करते और यादवों के परिवार से परिवृत सुखपूर्वक क्रीड़ा करते हुए रहने लगे। साथ ही दशार्हों एवं राम कृष्ण को हर्षित करते हुए अरिष्टनेमि भगवान श्री अनुक्रम से बढने लगे। अरिष्टनेमि की अपेक्षा सभी बंधु बड़े थे, परंतु अरिष्टनेमि के साथ वे छोटे होकर क्रीड़ागिरी पर तथा क्रीडोद्यान आदि भूमि में क्रीड़ा करने लगे। प्रभु जब दस धनुष ऊँची काया वाले हुए और यौवन वय को प्राप्त किया तब भी वे जन्म से ही काम विजेता होने से अविकारी मन वाले थे। माता पिता और राम कृष्ण आदि भ्रातागण हमेशा कन्या से परणने के लिए प्रार्थना करते परंतु प्रभु स्वीकार नहीं करते। राम और कृष्ण अपने पराक्रम से अनेक राजाओं को वश में करते एवं शक तथा ईशानेंद्र की तरह दोनों बंधु प्रजा का पालन करते।

(गा. 1 से 6)

एक समय नारद ज़ी घूमते घूमते कृष्ण के मंदिर में आए। राम तथा कृष्ण ने विधि से उनकी पूजा की। पश्चात वे अंतःपुर में गए। वहाँ सत्यभामा दर्पण में देख रही थी। उसमें व्यस्त होने से उसने आसन आदि द्वारा सत्कार करके पूजा नहीं की, इससे क्रोधित होकर नारद जी वहाँ से चले गये और मन में विचार करने लगे कि कृष्ण के अंतःपुर की सभी स्त्रियां सदैव मेरी पूजा करती है। परंतु यह सत्यभामा पति के प्रेम के कारण रूप और यौवन से गर्वित हो रही है। इससे दूर से ही मुझे देखकर भी खड़ी तो नहीं हुई, मेरी और दृष्टि भी नहीं की, इसलिए इस सत्यभामा से अधिक रूप वाली सपत्नि सौत लाकर इसे संकट में डाल दूं। ऐसा सोचते हुए नारद कुंडिनपुर नगर में आए।

(गा. 7 से 11)

कुंडिनपुर में भीष्मक नाम के राजा थे, उनकी यशोमती नाम की रानी थी। उनके रूक्मी नामक पुत्र और रूक्मिणी नाम की अत्यंत स्वरूपवान पुत्री थी। नारद वहाँ गये तब रूक्मिणी ने उनको नमस्कार किया। नारद ने कहा कि यह संबोधन समझ में नहीं आया पुत्री कृष्ण तेरे पति होंगे। रूक्मिणी ने पूछा कि ये कृष्ण कौन है? तब नारद ने कृष्ण के रूप सौभाग्य शौर्य आदि अद्वैत गुणों को कह सुनाया। यह सुन रूक्मिणी कृष्ण पर अनुरागी हुई और काम पीड़ित होकर कृष्ण को ही चाहने लगी। इधर रूक्मिणी का रूप चित्रपट पर आलेखित करके नारद कृष्ण के पास द्वारिका में आए और दृष्टि को अमृतांजन जैसा वह रूप कृष्ण को बताया। वह देखकर कृष्ण ने पूछा कि भगवन्! यह किस देवी का रूप आपने पट में आलेखित किया है? नारद हंसकर बोले– हरि! यह देवी नहीं है परंतु मानुषी स्त्री है और कुंडिनपति भीष्मक राजा की रूक्मिणी नामक पुत्री है। रूक्मी नामक उसका भाई है। उसका रूप देख विस्मित हुए कृष्ण ने तत्क्षण रूक्मि के पास एक दूत भेजकर प्रिय वचनों से उसकी मांग की। उसकी माँग सुनकर रूक्मी ने हँसकर कहा, अहो! कृष्ण हीनकुल वाला गोप होकर मेरी बहन की माँग करता है? वह कैसा मूढ है? और उसका यह कैसा निष्फल मनोरथ? इस मेरी बहन को तो मैथुनिक शिशुपाल राजा को दूँगा कि जिससे चंद्र और रोहिणी जैसा उनका अनुकूल योग होगा। इस प्रकार का उत्तर सुनकर दूत ने रूक्मी की कठोर शब्दों वाली उक्ति द्वारका में आकर कृष्ण को सुनाई।

(गा. 12 से 21)

इधर कुंडिनपुर में यह समाचार सुनकर रूक्मिणी की बुआ जो कि उसकी धात्री भी थी, उसे एंकात में ले जाकर रूक्मिणी को प्रेम पवित्र वाणी से बोली कि हे राजकुमारी! जब तुम बालिका थी तब एक बार मेरे उत्संग में बैठी थी, इतनें में तुमको देखकर अतिमुक्त नाम के मुनि ने कहा था कि यह पुत्री कृष्ण की पटरानी होगी। उस समय मैंने उनको पूछा था कि उन कृष्ण को किस प्रकार पहचानना? तब उन्होंने कहा था कि जो पश्चिम सागर के किनारे पर द्वारका बसाकर रहे उसे कृष्ण जान लेना। आज उन कृष्ण ने दूत द्वारा तुम्हारी माँग की तो भी तुम्हारे भाई रूक्मि ने उसकी माँग को स्वीकारा नहीं और दमघोष राजा के पुत्र शिशुपाल को तुमको देने का निर्णय किया है। रूक्मिणी बोली– हे माता! क्या मुनियों के वचन निष्फल होते हैं, प्रातः काल के मेघ का गर्जारव शब्द क्या कभी निष्फल हुआ है? इस प्रकार के वचनों से रूक्मिणी का अभिलाष

कृष्ण को ही वरण करने का जानकर उस बुआ ने एक गुप्त दूत भेजकर कृष्ण को इस प्रकार कहलाया कि माघ मास की शुक्ल अष्टमी को नागपूजा के बहाने में रूक्मिणी को लेकर नगर के बाहर उद्यान में आऊँगी। हे मानद! जो आपको रूक्मिणी का प्रयोजन हो तो उस समय आ पहुँचना। नहीं तो उसका शिशुपाल के साथ विवाह कर दिया जाएगा।

(गा. 22 से 30)

इधर रूक्मि ने अपनी बहन रूक्मिणी से विवाह करने के लिए शिशुपाल को बुलाया तो वह बड़ी सेना लेकर कुंडिनपुर आया। रूक्मिणी के वरण के लिए तैयार होकर शिशुपाल को आया हुआ जानकर नारद ने कृष्ण को समाचार दिये। तब कृष्ण भी अपने स्वजनों से अलक्षित रूप से चुपचाप बलराम के साथ अलग अलग रथ में बैठकर कुंडिनपुर आये। उस समय बुआ एवं सखियों से घिरी हुई रूक्मिणी नागपूजा का बहाना करके उद्यान में आई। वहाँ कृष्ण रथ में से नीचे उतरे और प्रथम अपना परिचय देकर रूक्मिणी की बुआ को नमस्कार करके रूक्मिणी को बोले, मालती के पुष्प की सुंगध से भ्रमर आता है, उसी प्रकार तेरे गुणों से आकर्षित होकर मैं कृष्ण तेरे पास आया हूँ। इसलिए इस मेरे रथ में बैठ जा। तब उसके भाव को जानकर बुआ ने आज्ञा दी, तो रूक्मिणी तुरंत कृष्ण के साथ रथ में हृदय की तरह आरूढ हो गई। जब कृष्ण कुछ दूर चले तब अपना दोष ढंकने के लिए बुआ और दासियाँ मिलकर चिलाई कि अरे रूक्मि! अरे रूक्मि! इस तुम्हारी बहन रूक्मिणी को चोर की तरह राम सहित कृष्ण बलात् हरणकर ले जा रहे हैं।

(गा. 31 से 39)

दूर जाने के पश्चात राम कृष्ण ने पाँचजन्य और सुघोष शंख फूंकें, जिससे समुद्र की तरह समग्र कुंडिनपुर क्षुभित हो गया। महापराक्रमी और महाबलवान रूक्मि और शिशुपाल बड़ी सेना लेकर राम कृष्ण के पीछे दौड़े। उनको पीछे आते देखकर उत्संग में बैठी रूक्मिणी भयभीत होकर बोली– हे नाथ! यह मेरा भाई और शिशुपाल बड़े क्रूर और बहुत पराक्रमी हैं, और उसके पक्ष के अन्य बहुत से वीर भी तैयार होकर उसके साथ आ रहे हैं। यहाँ आप दोनों भाई तो अकेले हो इसलिए मुझे डर लग रहा है कि अब क्या होगा? हरि उसके ऐसे भयत्रस्त वचनों को सुनकर हास्य करके बोले प्रिय भय मत कर,

क्योंकि तुम क्षत्रियाणी हो। यह बिचारा रूक्मि मेरे सामने क्या है? हे शुभे। तू मेरा अद्‌भुत बल देखना।

(गा. 40 से 44)

इस प्रकार कहकर उसको प्रतीति कराने के लिए कृष्ण ने अर्धचंद्र बाण के द्वारा कमलनाल की पंक्ति की तरह तालवृक्ष की श्रेणी को एक साथ छेद डाला और अंगूठे और अंगुली के बीच में रखकर अपनी मुद्रिका का हीरा मसूर के दाने के समान चूर्ण कर दिया। पति के ऐसे बल से रूक्मिणी हर्षित हो गई और प्रभातकाल के सूर्य सी पद्‌मिनी की तरह उसका मुख प्रफुल्लित हो गया। तब कृष्ण ने राम से कहा यह सब लेकर आप चले जाओ मैं अकेला ही अपने पीछे आते रूक्मि आदि को मार डालूँगा। राम ने कहा तुम जाओ मैं अकेला ही सबको मार दूँगा। दोनों के ऐसे वचन सुनकर रूक्मिणी भयभीत होकर बोली, हे नाथ! मेरे सहोदर रूक्मि को तो बचा लेना। राम ने कृष्ण की सम्मति से रूक्मिणी का वह वचन स्वीकारा और स्वंय अकेले युद्ध करने के लिए वहाँ खडे रहे और कृष्ण द्वारका की ओर चले गये।

(गा. 45 से 50)

अनुक्रम से शत्रुओं का सैन्य नजदीक आया तब राम मूसल उठाकर समुद्र को मथने की तरह रण में उस सैन्य का मंथन करने लगे। वज्र द्वारा पर्वतों की तरह राम के हल से हाथी भूमि पर गिर पड़े तथा और मूसल के घड़े के ठीकरी की तरह रथ आदि चूर्ण हो गये। अंत में शिशुपाल सहित रूक्मि की सेना पलायन कर गई, परंतु वीर रूक्मि अकेला ही वहाँ खड़ा रहा। उसने राम को कहा अरे गोपाल! मैंने तुझे देखा है। मेरे सामने खड़ा रह मैं तेरे गोपय के पान से हुए मद को उतार दूंगा। उसके ऐसे अभिमानी वचन सुनने पर भी कृष्ण के सामने बचाने का वचन स्मरण कर लेने से, उन वचनों को याद करके राम ने मूसल को छोड दिया ओर बाणों से रथ को तोड़ दिया। कवच छेद दिया और घोड़ों को मार डाला। जब रूक्मि वध कोटि में आ गया तब राम ने क्षुरपु बाण से उसके मुख के ऊपर केश का लुंचन करके हँसते हँसते बोले अरे मूर्ख! मेरी भ्रातृवधु का तू भाई होता है अतः तू मेरे लिए अवध्य है इसलिए चला जा। मेरे प्रसाद से तू मुंड हो जाने पर भी अपनी पत्नियों के साथ विलास कर। राम के ऐसे वचन से लज्जित होकर रूक्मि कुंडिनपुर नहीं जाकर वहाँ पर भोजकट नाम का नगर बसाकर रहने लगा।

(गा. 51 से 58)

इधर कृष्ण रूक्मिणी को लेकर द्वारका के पास आए। प्रवेश करते समय कृष्ण ने रूक्मिणी को कहा, हे देवी! देखो यह मेरी रत्नमयी द्वारका नगरी देवताओं ने रची है। हे शुभे! इस नगरी के देववृक्षमय उद्यानों में देवी के सदृश तुम अविच्छिन्न सुख पूर्वक मेरे साथ क्रीड़ा करोगी। रूक्मिणी बोली, हे स्वामिन्! आपकी अन्य पत्नियों को उनके पिताजी ने बड़े परिवार और विपुल समृद्धि के साथ आपको दिया है और मुझे तो आप अकेली को कैदी की तरह ले आये हो, तो मैं मेरी सपत्नियों के समक्ष हास्यपात्र न हो जाउँ, ऐसा करो उसके ऐसे वचन सुनकर मैं तुझे सर्वाधिक सम्मानित करवाऊँगा ऐसा कह कृष्ण ने रूक्मिणी को सत्यभामा के महल के समीपवर्ती महल में उतारा। वहाँ उससे गंधर्व विवाह कर कृष्ण उसके साथ स्वच्छंद रूप से क्रीड़ा करने लगे।

(गा. 59 से 65)

कृष्ण ने रूक्मिणी के घर में अन्य सभी का प्रवेश अवरूद्ध कर दिया। इससे एक बार सत्यभामा ने कृष्ण को आग्रहपूर्वक कहा कि आपकी प्रिया को तो बताओ। कृष्ण ने लीलोद्यान में श्रीदेवी के गृह में से स्वजनों से गुप्त रीति से उनकी प्रतिमा को उठवा ली और निपुरण चित्रकारों के पास श्रीदेवी की प्रतिमा चित्रित करवाई। पश्चात श्रीदेवी के स्थान पर रूक्मिणी को स्थापित करके उसे सिखाया कि यहाँ पर जब मेरी सब देवियां आवें तब तुम उस समय निश्चल रहना। तब कृष्ण स्वस्थान पर चले गये, तब सत्यभामा ने पूछा कि नाथ! आपने आपकी वल्लभा को किस स्थान पर रखा है? कृष्ण ने कहा, श्रीदेवी के गृह में रखा है। तब सत्यभामा अन्य सपत्नियों को साथ लेकर श्रीदेवी के मंदिर में आई। वहाँ रूक्मिणी को श्रीदेवी के स्थान पर देखा परंतु उसका भेद मालुम न होने से यह श्रीदेवी ही है, ऐसा जानकर सत्यभामा बोली– अहो! इस श्रीदेवी का कैसा रूप है? अहो! इसको बनाने वाले कारीगरों का भी कैसा कौशल है? इस प्रकार कहकर उसे प्रणाम किया। तब कहा हे श्री देवी! आप प्रसन्न होकर ऐसा करो कि जिससे मैं हरि की नई पत्नि रूक्मिणी को मेरी रूपलक्ष्मी से जीत लूँ। यह कार्य सिद्ध होने पर मैं आपकी महापूजा करूँगी। ऐसा कहकर उसने कृष्ण के पास आकर पूछा कि आपकी पत्नि कहां है? श्रीदेवी के गृह में तो नहीं है।

(गा. 66 से 72)

तब कृष्ण सत्यभामा ओर अन्य पत्नियों के साथ श्रीदेवी के मंदिर में आये। उसी समय रूक्मिणी अंदर से बाहर आई और कृष्ण को पूछा मैं किसको नमस्कार करूँ ? कृष्ण ने सत्यभामा को बताया तब सत्यभामा बोल पड़ी यह देवी मुझे किस प्रकार नमस्कार करेगी ? क्योंकि मैं ही अभी अज्ञान से उसको नमन कर गई थी। तब हरि ने हास्य करते हुए कहा, तुम तुम्हारी बहन को ही नहीं पहचानती इसमें क्या दोष है ? यह सुनकर सत्यभामा खिन्न हो गई और रूक्मिणी भी अपने मंदिर में आ गई। कृष्ण ने रूक्मिणी को विपुल समृद्धि दी और उसके साथ प्रेमामृत में मग्न होकर रमने लगे।

(गा. 73 से 76)

एक बार नारद घूमते घूमते वहाँ आ पहुँचे। कृष्ण ने उनकी पूजा की और पूछा कि हे नारद! आप कौतुक के लिए ही घूमते हैं तो कुछ आप ने आश्चर्य जनक किसी स्थान पर देखा क्या ? तब नारद बोले अभी अभी एक आश्चर्य देखा है वह सुनो –वैताढय गिरि पर जांबवान नाम का एक खेचरेंद्र है, उसके शिवचंद्रा नाम की प्रिया है। उनके विश्वकसेन नाम का एक पुत्र और जांबवती नाम की कन्या है। तीन जगत में उसके समान स्वरूपवान कन्या नहीं है। वह बाला नित्य क्रीड़ा करने के लिए हंसी की तरह गंगा नदी में जाती है। उस आश्चर्यभूत कन्या को देखकर मैं तुमको कहने के लिए ही आया हूँ। यह सुनकर कृष्ण तुरंत बालवाहन सहित गंगा किनारे गये। वहाँ सखियों से परिवृत क्रीड़ा करती हुई जांबवती उनको दिखाई दी। जैसा नारद ने कहा था यह वैसी ही है। ऐसा बोलते हुए हरि ने उसका हरण कर लिया तब बहुत जोर से कोलाहल होने लगा। यह सुनकर उनके पिता क्रोधित होते हुए खडग लेकर वहाँ आये। उनको अनाधृष्णि ने जीत लिया और कृष्ण के पास ले आया। जांबवान ने अपनी पुत्री कृष्ण को दे दी और स्वंय का अपमान होने से वैराग्यवासित हो दीक्षा ले ली। जांबवान के पुत्र विश्वकसेन के साथ जांबवती को लेकर कृष्ण द्वारका में आये। वहाँ कृष्ण ने रूक्मिणी के महल के पास जांबवती को भी महल दिया उसके योग्य अन्य भी बहुत कुछ दिये। उसका रूक्मिणी के साथ सखी भाव मित्रता कराया।

(गा. 77 से 86)

एक वक्त सिंहलपति श्रलक्ष्णरोमा के पास जाकर वापिस लौटे दूत ने कृष्ण के पास आकर इस प्रकार विज्ञप्ति की कि हे स्वामिन्! श्रलक्ष्णरोमा राजा

आपकी आज्ञा मानता नहीं है। उसके लक्ष्मणा नाम की एक कन्या है, वह लक्षणों से आपके ही योग्य है। वह द्रुमसेन सेनापति के रक्षण में अभी समुद्र में स्नान करने आई है। वह वहाँ सात दिन रहकर स्नान करेगी।

(गा. 87 से 89)

इस प्रकार सुनकर कृष्ण बलराम के साथ वहाँ गये, और इस सेनापति को मारकर लक्ष्मणा को ले आये। लक्ष्मणा को परण कर जांबवती के महल के पास ही एक रत्नमय मंदिर रहने को दिया और अन्य परिवार भी दिया।

(गा. 90 से 91)

आयुस्रवरी नाम की नगरी में सौराष्ट्र देश का राजा राष्ट्रवर्धन राज्य करता था। उसके विजया नाम की रानी थी। उनके नमुचि नामक एक महाबलवान युवराज पुत्र था, और सुसीमा नाम की रूपसंपति की सीमा रूप पुत्री थी। नमुचिने अस्त्रविद्या सिद्ध की थी वह कृष्ण की आज्ञा मानता नहीं था। एक बार वह सुसीमा के साथ प्रभास तीर्थ में स्नान करने हेतु गया। वहाँ छावनी डालकर रहे हुए नमुचि का ज्ञात होने पर कृष्ण बलराम के साथ वहाँ गये और उसे सेना सहित मारकर सुसीमा को ले आये फिर उससे विधिपूर्वक विवाह करके लक्ष्मणा के मंदिर के पास मंदिर देकर उसमें रखा और बड़ी सामग्री दी। राजा राष्ट्रवर्धन ने सुसीमा के लिए दासियाँ आदि परिवार और कृष्ण के लिए हाथी आदि विवाह का दहेज भेजा। फिर मरूदेश के वीतभय राजा की गौरी नाम की कन्या से कृष्ण ने विवाह किया उसे सुसीमा के मंदिर के पास एक मंदिर में रखा। एक बार हिरण्यनाम के राजा की पुत्री पद्मावती के स्वंयवर में कृष्ण राम को लेकर अरिष्टपुर गये। वहाँ रोहिणी बलभद्र की माता के सहोदर हरिण्यनाम ने अपना भानजा जानकर दोनों का विधि सहित हर्ष से पूजा की।

(गा. 92 से 100)

उन हिरण्य नामक राजा के रैवत नाम का एक ज्येष्ठ बंधु था। वह नेमि भगवान के तीर्थ में अपने पिता के साथ दीक्षा लेकर चल पड़ा था। उनके रेवती, रामा सीता और बंधुमती नाम की पुत्रियाँ थीं। वे पहले रोहिणी के पुत्र बलराम को दी थी। वहाँ सर्व राजाओं को देखते हुए कृष्ण ने पद्मावती का हरण किया। स्वंयवर में आए सर्व राजाओं में से जो युद्ध करने आए उनको जीत लिया।

बलराम और कृष्ण अपनी अपनी स्त्रियों को लेकर द्वारका में आए। वहाँ कृष्ण ने गौरी के मंदिर के पास एक नवीन गृह में पद्मावती को रखा।

(गा. 101 से 104)

गांधार देश में पुष्कलावती नगरी में नग्नजित राजा का पुत्र चारूदत्त नाम का राजा था। उसके गांधारी नाम की सुंदर बहन थी। वह लावण्य संपति से खेचरियों को भी हरा देती थी। चारूदत्त के पिता नग्नजित की मृत्यु के पश्चात उसके भागीदारों ने चारूदत्त को जीत लिया, इसलिए उसने दूत भेजकर शरणागत कृष्ण की शरण ली। कृष्ण ने गांधार देश में आकर उनके भागीदारों को मार डाला, और चारूदत्त को राज्य पर स्थापित किया। चारूदत ने अपनी बहन गांधारी का कृष्ण के साथ विवाह किया। कृष्ण उसको द्वारिका ले आए और पद्मावती के मंदिर के पास एक प्रासाद उसे दिया। इस प्रकार कृष्ण की आठ रानियाँ हुई रूक्मणी पटरानी हुई पृथक पृथक महलों में रहने लगी।

(गा. 105 से 109)

एक बार रूक्मिणी के मंदिर में अतिमुक्त मुनि आए। उनको आया हुआ देखकर सत्यभामा भी जल्दी जल्दी वहाँ आ गई। रूक्मिणी ने मुनि को पूछा मेरे पुत्र होगा या नहीं ? मुनि ने कहा, तेरे कृष्ण जैसा ही पुत्र होगा। ऐसा कहकर मुनि के जाने के पश्चात मुनि के ये वचन मेरे लिए थे, ऐसा सत्यभामा मानने लगी। और उसने रूक्मिणी से कहा– मेरे कृष्ण जैसा पुत्र होगा। इस प्रकार परस्पर विवाद करती वे दोनों कृष्ण के पास पहुँच गई। उस समय सत्यभामा का भाई दुर्योधन वहाँ आ पहुंचा। उसको सत्यभामा ने कहा कि मेरा पुत्र तेरा जमाता होगा। रूक्मिणी ने भी इसी प्रकार उसको कहा। तब उसने कहा तुम में से जिसके भी पुत्र होगा, उसे मैं अपनी पुत्री दे दूँगा। सत्यभामा बोली– इस विषय में राम कृष्ण और यह दुर्योधन साक्षी है। इस प्रकार स्वीकार करवाकर वे दोनों अपने अपने स्थान पर गई।

(गा. 110 से 117)

एक वक्त रूक्मिणी ने स्वप्न में देखा कि जैसे स्वंय एक श्वेत वृषभ के उपर स्थित विमान में बैठी है। यह देखकर वह तुंरत जागृत हो गई। उस वक्त एक महर्द्धिक देव महाशुक्र देवलोक से च्यवकर रूक्मिणी के उदर में अवतरा। प्रातः उसने स्वप्न की बात कृष्ण को कही। तब कृष्ण ने कहा– हे महाभगे!

विश्व में अद्वितीय वीर पुत्र होगा। तुम से इस स्वप्न की बात सत्यभामा की एक दासी ने सुनी। तत्क्षण उसने भी एक स्वप्न की कल्पना करके कृष्ण के पास जाकर कहा कि आज मैंने स्वप्न में ऐरावत हाथी जैसा हाथी देखा है। कृष्ण उसकी इंगिल चेष्टा से यह जान लिया कि यह कथन झूठा है परंतु सत्यभामा को कुपित नहीं करना ऐसा विचार करके कहा कि तेरे भी शुभ पुत्र होगा। दैवयोग से सत्यभामा ने भी गर्भ धारण किया और उसके उदर की वृद्धि होने लगी। रूक्मिणी के उदर में तो उत्तम गर्भ था, इसलिए उसका उदर तो जैसा था वैसा ही रहा, गूढ रीति से गर्भ में वृद्धि होने लगी। इससे एक दिन सत्यभामा ने कृष्ण से कहा कि इस तुम्हारी पत्नी ने झूठ–मूठ में गर्भ धारण की बात कही थी क्योंकि हम दोनों के ही उदर देखो। एक वक्त दासी ने आकर बधाई दी कि रूक्मिणी देवी ने सुवर्ण जैसी कांतिवाला महात्मा पुत्र को जन्म दिया है। यह सुनकर सत्यभामा खिन्न और क्रोध विह्वल हो गई। वहाँ से अपने महल में आने पर उसने भी भानुक नामक पुत्र को जन्म दिया।

(गा. 118 से 127)

कृष्ण पुत्र जन्म की बधाई से हर्षित होकर रूक्मिणी के मंदिर में गये और बाहर सिंहासन पर बैठकर पुत्र को मंगवाकर देखा। पुत्र की कांति से सर्व दिशा में प्रदीप्त हुई देखकर उसका प्रद्युम्न नाम रखा और कृष्ण उसे दुलराने के लिए क्षणभर वहाँ बैठे। उस समय पूर्व भव के बैर से धूमकेतु नामक एक देव रूक्मिणी का वेश बनाकर कृष्ण के पास आया और कृष्ण के पास से उस बालक को लेकर वैताढय गिरि पर चला गया। वहाँ भूतरमण उद्यान में जाकर टंकशिला पर बैठकर विचार करने लगा कि इस बालक को इस पर पटक पटक मर मार डालूँ? परंतु नहीं, इससे तो वह बहुत दुखी होगा इसलिए इस शिला पर रखकर चला जाउँ। जिससे निराधार और दुग्धातुर क्रंदन करता हुआ मर जाएगा। ऐसा विचार कर उसे वहीं पर छोड़कर चला गया। वह बालक चरमदेही था और निरूपक्रम आयुष्य वाला था।

(गा. 128 से 133)

इससे वह उस शिला पर से बहुत से पत्तों वाले प्रदेश में निराबाध रूप से गिर पडा। अतः कालसंवर नाम के कोई खेचर विमान में बैठकर अग्निज्वाल नगर से अपने नगर में जा रहा था। उसका विमान वहाँ गिर गया। खेचरपति ने

विमान के गिरने का हेतु विचार करते हुए नीचे देखा। तब वहाँ एक तेजस्वी बालक उन्हें दिखलाई दिया। तब मेरे विमान गिराने वाला यह कोई महात्मा बालक है। ऐसा जानकर उसे लेकर अपनी कनकमाला नाम की रानी को पुत्र रूप से अपर्ण किया फिर अपने मेघकूट नामक नगर में जाकर ऐसी बात फैलाई कि मेरी पत्नी गूढगर्भा थी। उसने अभी अभी एक पुत्र को जन्म दिया है। तब उस कालसंवर खेचर ने पुत्रजन्म का महोत्सव किया और उसके तेज से दसों दिशाओं में प्रद्योत होता देखकर उसका नामकरण प्रद्युम्न किया।

(गा. 134 से 138)

इधर रूक्मिणी ने कृष्ण के पास आकर पूछा कि पुत्र कहाँ है? तब कृष्ण ने कहा कि तुम अभी ही तो पुत्र को ले गई हो। रूक्मिणी बोली, अरे नाथ! क्यों मुझसे छल कर रहे हो? मैं पुत्र को लेकर नहीं आई। तब कृष्ण ने जान लिया कि अवश्य ही कोई मुझे छलकर गया है। तुंरत ही पुत्र की तलाश कराई, परंतु मिलने के कोई आसार दिखे नहीं। तब रूक्मिणी मूर्च्छित होकर गिर पडी। थोडी देर में सर्वत्र समाचार प्रसर जाने से वह सर्व परिजिनों के साथ तारस्वर में रूदन करने लगी। एक सत्यभामा के अतिरिक्त सर्व यादव उनकी पत्नियाँ आदि सर्व परिवार दुखी हो गया। कृष्ण जैसे समर्थ पुरूष को भी पुत्र का वृत्तांत क्यों नहीं मिला? ऐसा बोलती हुई रूक्मिणी दुखी कृष्ण को और दुखी करने लगी। सर्व यादवों सहित कृष्ण उद्वेग में रहने लगे।

(गा. 139 से 142)

इतने में एक दिन नारद सभा में आए। उन्होंने पूछा, क्या हुआ? तब कृष्ण बोले हे नारद! रूक्मिणी के सद्यजात बालक को मेरे हाथ में से किसी ने हरण कर लिया, उसकी शोध में क्या आप कुछ जानते हैं? नारद बोले, यहाँ अतिमुक्त नाम के महाज्ञानी थे, वे तो अभी ही मोक्ष में गये। इससे अभी भारतवर्ष में कोई ज्ञानी नहीं है। फिर भी हे हरि! अभी पूर्व विदेह क्षेत्र में सींमधर स्वामी नाम के तीर्थंकर हैं। वे सर्व संशयों का छेद करने वाले हैं। इसलिए वहाँ जाकर उनको पूछँगा। तब कृष्ण और अन्य यादवों ने नारद की पूजा की। नारद सीमंधर प्रभु क वहाँ शीघ्रता से गये। वहाँ प्रभु समवसरण में विराजमान थे। उनको प्रणाम करके नारद ने पूछा हे भगवान्! कृष्ण और रूक्मिणी का पुत्र अभी कहाँ है?

(गा. 143 से 149)

प्रभु ने फरमाया, धूमकेतु नामक उस पुत्र का एक बैरी देव है, उसने छल करके कृष्ण के पास से उसका हरण किया है। उसने वैताढय पर जाकर एक शिला पर बालक को रख दिया। वह मरा नहीं क्योंकि वह चरमदेही है अतः किसी से भी मारा नहीं जा सकता। परंतु प्रातः काल में एक कालसंवर नामक खेचर विमान में वहाँ से जा रहा था उसने उस बालक को लेकर अपनी पत्नि को सौंप दिया अभी उनके घर में उसका पालन पोषण होकर बड़ा हो रहा है। नारद ने पुनः पूछा हे भगवन्! उस धूमकेतु का उसके साथ पूर्व जन्म का क्या बैर था? नारद के पूछने पर प्रभु उसके पूर्व भव का वृत्तांत कहने लगे।

(गा. 150 से 153)

इसी जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में मगध देश में शालिग्राम नाम का एक महर्द्धिक गाँव था। उसमें मनोरम नाम का एक उद्यान था। उस उद्यान का अधिपति एक सुमन नामक यक्ष था। उस गांव में सोमदेव नामक एक ब्राह्मण रहता था। उस सोमदेव की अग्निला पत्नि से अग्निभूति और वायुभूति नामक दो पुत्र हुए। वे वेदार्थ में चतुर थे। युवावस्था में वे विद्या से प्रख्यात होकर विविध भोगों को भोगते हुए मदोन्मत होकर रहते थे। एक दिन उस मनोरम उद्यान में नेदिवर्धन नामक आचार्य समवसरे। लोगों ने वहाँ जाकर उनकी वंदना की। उस समय ये गर्विष्ट अग्निभूति और वायुभूति ने वहाँ आकर उन आचार्य से कहा कि अरे श्वेतांबरी यदि तू कुछ शास्त्रार्थ जानता हो तो बोल। उनके ऐसे वचन मात्र से ही नंदीवर्धन आचार्य के सत्य के नाम के शिष्य ने उनको पूछा कि तुम कहाँ से आये हो? वे बोले हम शालिग्राम से आये हैं। सत्यमुनि पुनः बोले तुम किस भव में से इस मनुष्य भव में आए हो?

(गा. 154 से 161)

ऐसा मैं पूछता हूं, यदि इस विषय में कुछ जानते हो तो कहो। यह सुनकर वे दोनों उस विषय के अज्ञानी होने से लज्जा से अधोमुक्त होकर खडे रहे। तब मुनि उनके पूर्वभव का वृत्तांत कहने लगे अरे ब्राह्मणों! तुम पूर्व भव में इस गांव की वनस्थली में मांसभक्षक सियार थे। एक कुटुंबी ने अपने क्षेत्र में रात को चमड़े की रज्जु आदि रखी थी। वह वृष्टि के कारण आर्द्र होने से तुम उसका भक्षण कर गये। उस आहार से मृत्यु हो जाने से अपने पूर्वकृत कर्म से इस भव में तुम सोमदेव ब्राह्मण के पुत्र हुए हो प्रातः उस कुरमी किसान ने उस

सर्व चर्म रज्जु को भक्षण करा हुआ देखा, पश्चात वह घर गया। मृत्यु के पश्चात वह अपनी पुत्रवधु के उदर से पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, इससे उसे ज्ञात हुआ कि यह मेरी पुत्रवधू मेरी माता हुई और मेरा पुत्र वह मेरा पिता हुआ है, तो अब मैं उनको किस प्रकार संबोधन करूँ ? ऐसा विचार आने पर वह कपटपूर्वक जन्म से ही गूंगा होकर रहा। यदि इस वृत्तांत के विषय में तुमको प्रतीति न होती हो तो उस गूंगे किसान के पास जाकर उसे पूछो, तब वह मौन छोडकर तुमको सर्व वृतांत बता देगा। तब लोग उस मूक किसान को वहाँ ले आए। मुनि ने उसको कहा कि तेरे पूर्व भव का वृत्तांत पहले से सुना दे। इस संसार में कर्म के वश पुत्र पिता हो जाता है और पिता पुत्र भी हो जाता है ऐसी अनादि स्थिति है, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। इसलिए पूर्व जन्म के संबंध से होनी वाली लज्जा और मौन छोड़ दे। तब अपना पूर्व संबंध बिल्कुल सही कहने से हर्षित हो उस किसान ने मुनि को नमस्कार किया।

(गा. 162 से 170)

सर्व के सुनते हुए पूर्वजन्म की सर्व हकीकत कह सुनाई। वह सुनकर अनेक लोगों ने मुनि से दीक्षा ले ली। वह कृषक भी प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। और अग्निभूति और वायुभूति लोगों के उपहास का भाजन होने से खिन्न होकर घर चले गये। फिर वे उन्मत ब्राह्मण वैर धारण रात्रि को खड्ग लेकर उन मुनि को मारने के लिए गये। वहाँ उस सुमन यक्ष ने उनको स्तंभित कर दिया। प्रातः सर्व लोगों को उस स्थिति में देखा। उनके माता पिता उनको स्तंभित देखकर क्रंदन करने लगे। उस समय सुमन यक्ष प्रत्यक्ष होकर उनको कहने लगा कि ये पापी दुर्भति मुनि को मारने की दुर्भावना से रात्रि में आये थे इसलिए मैंने इन्हें स्तंभित कर दिया। अब यदि ये दीक्षा लेना स्वीकार करें तो ही मैं इनको छोडूँगा अन्यथा छोडूँगा नहीं। उन्होंने कहा हम से साधुधर्म की पालना होना मुश्किल है, इससे हम श्रावक के योग्यधर्म का आचरण करेंगे। इस प्रकार उनके कहने से देवता ने उनको छोड़ दिया। तब से वे जैनधर्म की यथाविधि पालना करने लगे। परंतु उनके माता पिता ने तो जरा भी जैन धर्म को अंगीकारा नहीं किया। अग्निभूति और वायुभूति को मृत्यु के पश्चात सौधर्म कल्प में छः पल्योपम के आयुष्य वाले देवता हुए। वहाँ से च्यवकर हस्तिनापुर नगर में अर्हदास वणिक के घर पूर्णभद्र

और माणिभद्र नाम का पुत्र हुआ। पूर्व भव के क्रम से वे श्रावक धर्म पालने लगे। एक बार माहेंद्र नाम के एक मुनि वहाँ समवसरे।

(गा. 171 से 180)

उनके पास धर्म श्रवण कर अर्हदास ने दीक्षा ले ली। पूर्णभद्र और माणिभ्रद उन माहेंद्र मुनि को वंदन करने जा रहे थे कि वहाँ मार्ग में एक कुतिया और चांडाल को देखकर उन पर उन्हें स्नेह उत्पन्न हुआ। इससे उन्होंने महर्षि के पास आकर नमन करके पूछा कि यह चांडाल और कुतिया कौन है, कि जिनको देखने से ही हमको स्नेह उत्पन्न होता है? मुनि बोले तुम पूर्व भव में अग्निभूति और वायुभूति नाम के ब्राह्मण थे। सोमदेव नामक तुम्हारे पिता और अग्निला नाम की तुम्हारी माता थी। वह सोमदेव मृत्यु के पश्चात इस भरतक्षेत्र में शंखपुर में जितशत्रु नाम का राजा हुआ जो सदा परस्त्री में आसक्त था।

(गा. 181 से 184)

अग्निला मृत्यु के पश्चात उसी शंखपुर में सोमभूति नाम के ब्राह्मण की रूक्मिणी नाम की स्त्री हुई। एक बार वह रूक्मिणी अपने घर के आंगन में खड़ी थी, उस समय उस मार्ग से जाते जितशत्रु राजा ने उसे देखा। उसी समय वह कामवश हो गया। इससे उसने सोमभूति को अपराधी घोषित करके उसकी पत्नि को अपने अंतःपुर में प्रवेश कराया। उसके विरह से पीड़ित सोमभूति अग्नि में जला हो वैसे दुखी रहने लगा। राजा जितशत्रु उस स्त्री के साथ एक हजार वर्ष तक क्रीड़ा करके मरकर पहली नरक में लीन पल्योपम की आयुष्य वाला नारकी हुआ। वहाँ से निकल कर हिरण हुआ। उस भव में शिकारी के द्वारा मारे जाने पर वह मायाकपटी श्रेष्ठी पुत्र हुआ। वहाँ से मरण होने पर माया के योग से हाथी हुआ। उस भव में दैवयोग से उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, फलस्वरूप अट्ठारह दिन अनशन करके मृत्यु के पश्चात तीन पल्योपम की आयुष्य वाला वैमानिक देवता हुआ। वहाँ से च्यव कर वह चंडाल हुआ है और वह रूक्मिणी अनेक भव में भ्रमण करके यह कुतिया हुई है पूर्व भव के तुम्हारे माता पिता होने से इससे तुम्हारा स्नेह उत्पन्न हुआ है।

(गा. 185 से 191)

इस प्रकार अपने पूर्व भव का वृत्तांत सुनकर पूर्णभद्र और मणिभद्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पश्चात उन्होंने चंडाल और कुतिया को प्रतिबोध

दिया। जिससे वह चंडाल एक महिने का अनशन करके मृत्यु पाकर नंदीश्वरद्वीप में देवता बना और कुतिया प्रतिबोध अनशन कर मृत्यु को प्राप्त होने से शंखपुर में सुदर्शना नाम की राजकुमारी हुई। पुनः महेंद्र मुनि वहाँ आये, तब अर्हदास के पुत्रों ने चंडाल और कुतिया की गति के विषय में पूछा। तब उन्होंने दोनों की सद्गति के विषय में कह सुनाया। उन्होंने शंखपुर जाकर राजपुत्री सुदर्शन को प्रतिबोध दिया, जिससे उसने दीक्षा ली और मृत्यु के पश्चात देवलोक में गई। पूर्णभद्र और माणिभद्र गृहस्थधर्म पालकर मृत्युपरांत सौधर्म देवलोक में इंद्र के सामानिक समान ऋद्धिवाला देवता हुआ। वहाँ से च्यवकर हस्तिनापुर में विश्वसेन राजा के मधु और कैटभ नाम के दो पुत्र हुए। पहला नंदीश्वर देव के वहाँ से च्यव कर चिरकाल तक भवभ्रमण करके वटपुरनगर में कनकप्रभ राजा की चंद्राभा नाम की पटरानी हुई। राजा विश्वसेन ने मधु को राज्यपद पर और कैटभ को युवराज पद पर स्थापित करके दीक्षा ली। मृत्यु के पश्चात ब्रह्मदेवलोक में देवता हुए। मधु और कैटभ ने समग्र पृथ्वी वश में कर ली।

(गा. 192 से 202)

उनके देश पर भीम नामक एक पल्लीपति उपद्रव करने लगा। मधु उसे मारने को चला। वहाँ मार्ग में वटपुर के राजा कनकपुत्र ने भोजनादि से उसका सत्कार किया। फिर स्वामिभक्ति से सेवक रूप से व्यवहार करता वह राजा चंद्राभा रानी के साथ भोजन के अंत में उनके पास आया और अनेक भेंट दी। चंद्राभा रानी मधु को प्रणाम करके अंतःपुर की ओर चल दी, उस समय कामपीडित मधु ने उसे बलात् पकडने की इच्छा की, उस समय मंत्री ने उसे रोका। तब मधु राजा आगे चला। भीम पल्लिपति को जीत कर वापिस लौटते समय वह वटपुर में आया। राजा कनकपुत्र ने भी पुनः उसका सत्कार किया। जब वह भेंट लेकर आया तब वह मधुराजा बोला, तुम्हारी दूसरी भेंट मुझे नहीं चाहिए, मुझे तो यह चंद्राभा रानी अर्पण करो। उसकी इस मांग से अब कनकप्रभ ने अपनी रानी उसे नहीं दी, तब वह बल से चंद्राभा रानी को खींच कर उसके नगर में चला गया। रानी के वियोग से व्यथित हुआ वह कनकप्रभ राजा मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। थोडी देर में होश आने पर वह जोर जोर से विलाप करने लगा और उन्मत की भांति इधर उधर घूमने लगा।

(गा. 202 से 209)

एक दिन मधुराजा मंत्रियों के साथ न्याय कार्य में बैठा था, उसमें बहुत सा समय व्यतीत हो जाने के कारण भी उसका निराकरण किये बिना चंद्राभा के मंदिर में गया। चंद्राभा ने पूछा, आज देर से कैसे आए? तब उन्होंने कहा, आज एक व्यभिचार संबंधी वाद का न्याय करना था, उसमें मुझे रूकना पडा। चंद्राभा ने हंस कर कहा, वह व्यभिचारी पूजने योग्य है। मधुराजा ने कहा, व्यभिचारी कैसे पूजनीय हो सकता है? उसको तो सास्ती स्वरूप दंड देना चाहिए। चंद्राभा बोली यदि तुम ऐसे न्यायवान् हो तो सबसे पहले तो तुम्ही व्यभिचारी हो, क्या यह नहीं जानते? यह सुनकर मधुराजा प्रतिबोध को प्राप्त हुआ, लज्जित होकर गया। इधर वह कनकप्रभ राजा चंद्राभा रानी के वियोग से पागल होकर गाँव–गाँव में भटकता और बालकों से घिरा हुआ उसी नगर के राजमार्ग पर नाचता गाता हुआ निकला। उसे देखकर चंद्राभा विचार करने लगी कि अहो! मेरा पति मेरे वियोग से इस दशा को प्राप्त हुआ है, तो मेरे जैसी परवश स्त्री को धिक्कार है।

(गा. 210 से 215)

ऐसा चिंतन करके उसने मधुराजा को अपना पति बताया, तब उसको देखकर अपने दुष्ट काम के लिए मधु को अति पश्चाताप हुआ। इससे उसी क्षण मधु ने धुंधु नाम के अपने पुत्र को राज्य सौंप कर कैटभ के साथ विमलवाहन मुनि के पास दीक्षा ली। वे हजारों वर्ष तक उग्र तप करके द्वादशांगी के अध्येता एवं सदा साधुओं की वैयावृत्य करते थे। अंत में अनशन करके सर्व पापों की आलोचना करके वे दोनों मृत्यु प्राप्त करके महाशुक्र देवलोक में सामानिक देवता हुए। राजा कनकप्रभ ने क्षुधा से पीड़ित हो तीन हजार वर्ष व्यर्थ गंवा कर मृत्यु प्राप्त की और ज्योतिष देवों में धूमकेतु नाम का देव हुआ। अवधिज्ञान से पूर्वभव का बैर जानकर मधु के जीव की तलाश करने लगा, परंतु मधु तो सातवें देवलोक में महर्द्धिक देव होने से उसको दिखाई नहीं दिया। वह वहाँ से च्यव कर मनुष्य भव प्राप्त कर तापस हुआ। उस भव में कालतप करके मृत्यु के पश्चात वैमानिक देवता हुआ। तथापि उस भव में भी मधु को देखने में समर्थ नहीं हुआ। पुनः वहाँ से च्यव कर संसार में परिभ्रमण करके कर्म योग से ज्योतिष देवों में पुनः धूमकेतु नामक देव हुआ। उस समय मधु का जीव महाशुक्र देवलोक में से च्यवकर कृष्ण वासुदेव की पटरानी रूक्मिणी के उदर में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। वह धूमकेतु पूर्व के बैर से उस बालक को जन्मते ही हरण कर ले गया। उसे

मारने की इच्छा से वह दुष्ट एक टंकशिला पर उसे छोड़कर चला गया। परंतु वह अपने प्रभाव से सर्वांग अक्षत रहा। उसे कालसंवर विद्याधर अपने घर ले गया। सोलह वर्ष के अंत में उसका रूक्मिणी के साथ मिलन होगा।

(गा. 216 से 227)

इस प्रकार प्रद्युम्न के पूर्वभव का वृतांत सुनकर रूक्मिणी को पुत्र का वियोग किस कर्म से हुआ? ऐसा नारद ने पूछा। तब श्री सीमंधर प्रभु ने उसके पूर्व भव का वृत्तांत कहा–

(गा. 228)

इसी जंबूद्वीप में भरतक्षेत्र में मगध देश में लक्ष्मीग्राम नामक एक गाँव में सोमदेव नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसके लक्ष्मीवती नाम की स्त्री थी। एक बार वह लक्ष्मीवती उपवन में गई। वहाँ मोर का अंडा पडा था। उस अंडे का उसने कुंकुम वाले हाथ से स्पर्श किया। उसके स्पर्श से उस अंडे का वर्ण और गंध बदल गया। इससे उसकी माता मयूरी ने उसे अपना नहीं समझ कर सोलह घड़ी तक उसे सेवा नहीं। उसके बाद अकस्मात वर्षा बरसने से वर्षा के जल से धुलकर वह अंडा अपने मूल स्वरूप में आ गया। जिससे उसे पहचान कर उसकी माता ने उसको पोसा। तब योग्य समय पर उसमें से मोर हुआ। पुनः लक्ष्मीवती वहाँ आई, उस समय मयूर के रमणीय बच्चे को देखकर मयूरी के रूदन करने पर भी उसको पकड़ लिया और अपने घर लाकर उसे पिंजरे में डाल दिया। प्रतिदिन खानपान से उसे प्रसन्न करके उसने उसे ऐसा नृत्य सिखाया कि वह सुंदर नृत्य करने लगा। उसकी माता मयूरी करूण स्वर में पुकारती, अपने प्यारे बच्चे के स्नेह से होने पर भी उस प्रदेश को छोड़ सकी नहीं। फिर लोगों ने आकर लक्ष्मीवती को कहा कि तुम्हारा कौतुक, पूर्ण होता नहीं है परंतु उसकी माता मयूरी बिचारी उसके विछोह में मरी जा रही है। इसलिए उसके बच्चे को छोड़ दो। लोगों के कहने से उसे दया आई, तब सोलह मास के उस मोर के युवा बच्चे को उसने जहाँ था, वहीं पर रख दिया। इस कृत्य से उस ब्राह्मणी ने प्रमाद द्वारा सोलह वर्ष का पुत्र के विरह का विशाल वेदनीय कर्म का बंध किया।

(गा. 229 से 238)

एक बार वह लक्ष्मीवती अपने विभूषित रूप को दर्पण में देख रही थी, इतने में समाधिगुप्त नाम के एक मुनि भिक्षा के लिए उसके घर में आए। तब

उसके पति सोमदेव ने कहा कि हे भद्रे! इन मुनि को भिक्षा अर्पण करो इतने में किसी पुरूष के बुलाने पर सोमदेव बाहर चला गया, तब उसी क्षण उस स्त्री ने थू थू कार करके कठोर वाणी बोलकर उस मुनि को घर से बाहर निकाल दिया और जल्दी से दरवाजा बंद कर दिया। मुनि गुगुप्ता के इस तीव्र पाप कर्म से सातवें दिन उस स्त्री को गलत्कुष्ठ हो गया। जिसकी पीड़ा से व्याकुल होकर वह अग्नि में जल मरी। मृत्यु के पश्चात् उसी गांव में किसी धोबी के घर में गधी हुई। वहाँ से मरकर पुनः उसी गांव में विष्टामुक शूकरी हुई। वहाँ से मरकर कुतिया हुई। उस भव में शुद्ध भाव आने पर मनुष्य का आयुष्य बांध कर मृत्यु हुई। वहाँ से नर्मदा नदी के किनारे आए हुए भृगुकच्छ भरूच नगर में वह काणा नाम की मच्छीमार की पुत्री हुई। वह अत्यंत दुर्भागा और दुर्गंधा हुई। उसके माता पिता उसकी दुर्गंध सहन नहीं कर सकने से उसे नर्मदा के तीर पर छोड़ आए। वहाँ यौवनवती होने पर वह हमेशा नौका से लोगों को नर्मदा नदी पार कराने लगी। दैवयोग शीतऋतु में समाधिगुप्त मुनि वहाँ आये और पर्वत की भांति निष्कंप रूप से कायोत्सर्ग में स्थित हुए। उनको देखकर ये महात्मा संपूर्ण रात्रि में शीत को कैसे हर सकेंगे? ऐसा विचार करके दया चितवाली उसने तृण द्वारा मुनि को आच्छादित किया। रात्रि निर्गमन होने पर उसने प्रातः उस मुनि को नमस्कार किया, तब यह भद्रिक है ऐसा सोचकर मुनि ने उसे धर्म देशना दी। उस वक्त इन मुनि के मैंने किसी स्थान पर देखा है। ऐसा चिरकाल तक चिंतन करती रही।

(गा. 239 से 250)

फिर उसने मुनि से इस विषय में पूछा, तब मुनि ने उसके पूर्व भव कह सुनाये। तब महर्षि ने उससे कहा कि भद्रे! पूर्व भव में तूने साधु की जुगुप्सा की थी, इससे इस भव में तू ऐसी दुर्गंधा हुई है क्योंकि सब कुछ कर्म के अनुसार ही होता है। ऐसा सुनकर उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। इससे वह पूर्व भव में की हुई जुगुप्सा के लिए बांरबार अपनी निंदा करती हुई मुनि को खमाने लगी। तब से वह परम श्राविका हुई। इसलिए मुनि ने उसे धर्म श्री नामकी आर्या को सौंप दी। बाद में वह आर्या के साथ ही विहार करने लगी। एकबार किसी गाँव में जाते समय वहाँ नायल नाम के किसी श्रावक को आर्या ने उसको सौंप दी। उस नायल के आश्रित रहकर और एकांतर उपवास करती हुई, जिन पूजा में तत्पर रहकर बारह वर्ष तक वहाँ रही। अंत में अनशन करके मृत्यु प्राप्त करके वह अच्युतइंद्र की इंद्राणी हुई। वहाँ पचपन पल्योपम का आयुष्य भोगकर वहाँ से

च्यवकर वह रूक्मिणी हुई है। पूर्व भव में उसने मयूरी के बच्चे का वियोग कराया था, इससे वह रूक्मिणी इस भव में सोलह वर्ष तक पुत्र विरह का दुख अनुभव करेगी।

(गा. 251 से 256)

रूक्मिणी का पूर्व भव सुनकर सीमंधर स्वामी को नमन करके नारद वैताढय गिरि पर मेघकूट नगर में आये, वहाँ संवर विद्याधर के पास आकर कहा कि तुम्हारे पुत्र हुआ वह बहुत अच्छा हुआ। नारद के ऐसे वचनों से संवर ने प्रसन्न होकर नारद की पूजा की और प्रद्युम्न पुत्र को बताया। नारद ने वह पुत्र रूक्मिणी के जैसा ही देखकर भगवंत के कथन की प्रतीती हुई। पश्चात संवर की आज्ञा लेकर द्वारका में आए। वहाँ कृष्ण आदि को उस पुत्र का सर्व वृत्तांत कहा और रूक्मिणी को भी उसके लक्ष्मीवती आदि के पूर्वभव की बात बताई। रूक्मिणी ने वहाँ से ही सीमंधर स्वामी प्रभु को भक्ति से अंजलिबद्ध हो नमस्कार किया। और सोलह वर्ष के पश्चात पुत्र का मिलन होगा, ऐसे अरिहंत प्रभु के वचनों से स्वस्थ हुई।

(गा. 257 से 263)

पूर्व में श्री ऋषभ स्वामी के कुरू नाम का एक पुत्र था, जिसके नाम से कुरूक्षेत्र कहलाया। उस कुरू का पुत्र हस्ति हुआ था, जिसके नाम से हस्तिनापुर नगर बसा। उस हस्ति राजा के संतान में अनंतवीर्य नाम का राजा हुआ। उसका पुत्र कृतवीर्य राजा हुआ। उसका पुत्र सुभूम नाम का चक्रवर्ती हुआ। उसके पश्चात असंख्य राजा हो जाने के बाद शांतनु नाम के राजा हुए। उनके गंगा और सत्यवती दो पत्नियाँ थी। उसमें से गंगा के पराक्रमी भीष्म नामक पुत्र हुआ और सत्यवती के चित्रांगद और विचित्रवीर्य नाम के दो पुत्र हुए विचित्रवीर्य के अंबिका अंबालिका और अंबा नाम की तीन स्त्रियां थी। उनके अनुक्रम से धृतराष्ट्र पांडू और विदुर नाम के पुत्र हुए। उसमें पांडू धृतराष्ट्र को राज्य सौंप कर मृगया में मशगूल रहने लगा। धृतराष्ट्र ने सुबल राजा के पुत्र और गंधार देश के राजा की गांधारी आदि आठ बहनों से विवाह किया। उससे दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए। पांडू राजा के कुंती नाम की स्त्री से युधिष्ठिर भीम और अर्जुन नाम के तीन पुत्र हुए और दूसरी माद्री कि जो शल्यराजा की बहन थी, उससे नकुल और सहदेव इस प्रकार महाबलवान पुत्र हुए। विद्या और भुजबल से उग्र ऐसे

पाँचों पांडू कुमार पंचानन सिंह की तरह खेचरों से भी अजेय थे। अपने ज्येष्ठ बंधु के प्रति विनीत और दुर्नीति को सहन नहीं करने वाले वे पाँचों पांडव अपने लोकोत्तर गुणों के द्वारा लोगों को आश्चर्यचकित करने लगे।

(गा. 264 से 272)

किसी समय कांपिल्यपुर से द्रुपदराजा के दूत ने आकर नमस्कार करके पांडूराजा को इस प्रकार कहा हमारे स्वामी द्रुपदराजा के चुलनी रानी के उदर से प्रसूत और धृष्टधुन्न की छोटी बहन द्रोपदी नामक कन्या है, उसके स्वंयवर में दसों दशाहों बलराम, कृष्ण, दमदंत, शिशुपाल, रूक्मि, कर्ण, सुयोधन और अन्य राजाओं को तथा पराक्रमी कुमारों को द्रुपद राजा ने दूत भेजकर बुलाया है। ये सभी वहाँ जा रहे हैं, तो आप भी इन देवकुमारों जैसे पाँचों कुमारों के साथ वहाँ आकर स्वंयवर मंडप को अलंकृत करो। यह सुनकर पाँच जयवंत बाणों द्वारा कामदेव की तरह पांचों पुत्रों से युक्त पांडु राजा कांपिल्यपुर गये और अन्य भी अनेक राजा वहाँ आए। द्रुपद राजा से पूजित प्रत्येक राजा अंतरिक्ष में स्थित ग्रहों की तरह स्वंयवर मंडप में उपस्थित हुए। उस अवसर पर स्नान करके शुद्ध उज्ज्वल वस्त्र पहन पर माल्यांलकार धारण करके और अर्हंतप्रभु की पूजा करके रूप में देवकन्या जैसी द्रोपदी सखियों के परिवृत सामानिक देवताओं की भांति कृष्ण आदि राजाओं से अलंकृत स्वयंवर मंडप में आई। उसकी सखि उसे प्रत्येक राजा का नाम ले लेकर बताने लगी।

(गा. 273 से 279)

उनको अनुक्रम से देखती देखती जहाँ पाँच पांडव बैठे थे, वहाँ आई और उनको अनुरागी होकर उन पांचों के ही कंठ में स्वंयवर माला आरोपित की। उस समय यह क्या ? यह क्या कहते हुए सर्व राजमंडप आश्चर्य चकित हो गए। इतने में कोई चारणमुनि आकाशमार्ग से वहाँ आए। अतः कृष्ण आदि राजाओं ने उन मुनि को नमस्कार करके विनयपूर्वक पूछा कि क्या इस द्रोपदी के पांच पति होंगे ? मुनि बोले– यह द्रोपदी पूर्व भव के कर्म से पांच पति वाली होगी। परंतु इसमें आश्चर्य क्या है ? क्योंकि कर्म की गति महाविषम है। उसका वृत्तांत सुनो– चंपानगरी में सोमदेव सोमभूति और सोमदत नाम के तीन ब्राह्मण रहते थे। वे सहोदर बंधु थे। धन धान्य से परिपूर्ण थे, अनुक्रम से उनकी नाग श्री भूत श्री और यक्ष श्री नाम की पत्नियां थी। तीनों भाई परस्पर स्नेह रखते थे। इससे एक

दिन उन्होंने यह निश्चित किया कि अपन तीनों भाईयों को एक एक भाई के घर क्रम से साथ में भोजन करना चाहिए। ऐसा करते हुए एक दिन सोमदेव के घर भोजन की बारी आई। इसलिए भोजन का अवसर होने से पहले से ही नाग श्री विविध प्रकार के भोजन की तैयारी करने लगी। उसके एक सुंदर परंतु अनजान में कड़वी तुंबडी का साग बनाया। साग बन जाने पर उसके स्वाद के लिए उसको चखा। परंतु वह तो अत्यंत कड़वा होने से उसने उसे अभोज्य समझकर थूँक दिया। पश्चात सोचने लगी कि मैंने बहुत स्वादिष्ट विविध पदार्थों से यह शाक सुधारा, तथापि यह कडवा ही रहा।

(गा. 280 से 295)

ऐसा सोचकर उसने वह साग छुपा दिया और उसके अतिरिक्त अन्य भोजन के द्वारा उसने अपने घर पर आए कुटुंब सहित अपने पति को और देवर को जिमाया। उस समय सुभूमिभाग नाम के उस नगर के उद्यान में ज्ञानवान और परिवार सहित श्रीधर्म घोष आचार्य समवसरे। उनके धर्म रूचि नाम के शिष्य मासक्षमण के पारणे सोमदेवादिक सर्व भोजन करके जाने के पश्चात नाग श्री के घर भिक्षा लेने आए। नाग श्री ने विचार किया कि इस साग से ये मुनि ही संतुष्ट हों ऐसा सोचकर उस कड़वी तुंबडी का साग उन मुनि को अर्पित कर दिया मुनि ने सोचा कि आज मुझे कोई अपूर्व पदार्थ प्राप्त हुआा है। इससे उन्होंने गुरू के पास जाकर उनके हाथ में पात्र दिया। मुझे उसकी गंध लेकर बोले हे वत्स! यदि तू यह पदार्थ खाएगा तो अवश्य मृत्यु को प्राप्त होगा। इसलिए इसे परठ दे। अर्थात त्याग दे पुनः अब ऐसा पदार्थ देखभाल करके लाना। गुरु के ऐसे वचन से वे मुनि उपाश्रय के बाहर शुद्ध स्थंडिल भूमि पर परठने के लिए आए। इतने में उस पात्र में से एक बिंदु शाक भूमि पर गिर पड़ा। उसकी गंध रस से आकर्षित होकर अनेक चींटियां वहाँ आकर चिपक गई और तुंरत ही मर गई। यह देखकर मुनि ने विचार किया कि इसके एक बिंदु से अनेक जंतु मर जाते हैं तो इस पूरे को परठने में कितने ही जंतु मर जायेंगे। इससे जो मैं ही मर जाऊँ तो ठीक। परंतु अनेक जीव मरे वह ठीक नहीं। ऐसा निश्चय करके समाहित भाव से उन्होंने उस साग का भक्षण कर लिया। बाद में समाधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से अराधना करके मृत्यु के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिंद्र देव बने।

(गा. 296 से 306)

इधर धर्मघोष आचार्य धर्मरूचि मुनि को इतना विलंब क्यों हुआ? यह जानने के लिए अन्य साधुओं को तलाश करने भेजा। जब उन्होंने बाहर जाकर देखा तो उनको मरण शरीर पाया। तब उनका रजोहरण आदि लेकर गुरू के पास आकर अतिखेद पूर्वक सर्व बात गुरू जी को बताई। गुरूजी ने अतिशय ज्ञान के उपयोग से जानकर अपने सर्व शिष्यों को नागश्री का दुश्चरित्र बताया। जो श्रवण कर सर्व मुनियों एवं साध्वियों को कोप उत्पन्न हुआ। यह सर्व वृत्तांत सोमदेव आदि अनेक लोगों को बताया। यह सुनकर सोमदेव आदि विप्रों ने नागश्री को घर से बाहर निकाल दिया। लोगों ने भी उसका बहुत तिरस्कार किया, जिससे वह सर्वत्र दुःखी होकर भटकने लगी और खास श्वास, ज्वर और कुष्ठ आदि सोलह भंयकर रोगों से पीडित होती हुई उस भव में ही नारकीय यातनाएं भोगने लगी। इस प्रकार क्षुधा, तृषा से आतुर फटे टूटे वस्त्रों को पहने निराधार भटकती हुई यह स्त्री मर कर छट्ठी नरक में गई। वहाँ से निकलकर चंडाल जाति में उत्पन्न हुई और मृत्यु के पश्चात सातवीं नरक में गई। पुनः म्लेच्छ जाति में उत्पन्न होकर सप्तम नरक में गई।

(गा. 307 से 314)

इस प्रकार पापिनी सभी नरक में दो दो बार जा आई। पृथ्वीकाय आदि में भी उसने अनेक बार जन्म लिया और अकाम निर्जरा करती हुई अनेक कर्म खपाये। इस प्रकार अनेकानेक जन्मों के पश्चात चंपानगरी में सागरदत सेठ की स्त्री सुभद्रा के उदर से सुकुमारिका नाम की पुत्री हुई। उसी नगर में जिनदत नाम का एक धनाढय सार्थवाह रहता था। उसके भद्रा नाम की गृहिणी और सागर नाम का पुत्र था। एक बार जिनदत सागरदत के घर गया, वहाँ सुकुमारिका युवती को देखा। वह महल पर चढकर कंदुक क्रीड़ा कर रही थी। उसे देखकर जिनदत ने विचार किया कि यह कन्या मेरे पुत्र के योग्य है। ऐसा चिंतन करके वह अपने घर आया। पश्चात अपने बंधुवर्ग के साथ सागरदत्त के घर जाकर अपने पुत्र के लिए सुकुमारिका की मांग की। सागरदत्त बोली यह पुत्री मुझे प्राणों से भी प्यारी है, इसके बिना मैं क्षणभर भी नहीं रह सकता। यदि तुम्हारा पुत्र सागर जो मेरे यहाँ घर जंवाई होकर रहे तो मैं अपनी पुत्री को विपुल द्रव्य के साथ तुझे अर्पण करूँ। तब मैं विचार कर के कहूँगा ऐसा कह जिनदत्त अपने घर गया। यह बात उसने सागर को कही।

(गा. 315 से 318)

यह सुन सागर मौन रहा, तब जिसका निषेध करे वह संमत है, इस न्याय से उसके पिता ने सागर को घरजंवाई रूप से रहने का स्वीकार किया। सागर का उस कुमारी के साथ विवाह कर दिया रात्रि में उसके साथ वह वासगृह में जाकर शय्या में सोया। उस समय पूर्व कर्म के उदय के योग से उस सुकुमारिका के स्पर्श से सागर का शरीर अंगारे की भांति जलने लगा। जिसे वह मुश्किल से सहन करके सो गया। जब सुकुमारिका सो गई, तब उसे छोडकर अपने घर भाग गया। निद्रा पूर्ण हो जाने पर पति देव को पास में न देख सुकुमारिका रूदन करने लगी। प्रातः जब सुभद्रा वर वधू को दतधावन करवाने के लिए एक दासी को भेजा, तो दासी ने वहाँ जाते ही सुकुमारिका को पति रहित एवं रोती हुई देखी। उसने सुभद्रा के पास आकर सर्व हकीकत कही।

(गा. 319 से 329)

सुभद्रा ने सर्व बात सेठ से कही। सेठ ने जिनदत्त के पास जाकर उसे उपालंभ दिया। जिनदत्त ने अपने पुत्र को एकांत में बुलाकर कहा कि हे वत्स! तूने सागरदत सेठ जी की पुत्री का त्याग किया वह ठीक नहीं किया, इसलिए तू वापिस उस सुकुमारिका के पास जा। क्योंकि मैंने सज्ञनों के समक्ष तुझे वहाँ रहने का स्वीकार किया है। सागर बोला, हे पिता! अग्नि में घुसने को तैयार होना हो तो वह बहुत अच्छा मानता हूँ, परंतु उस सुकुमारिका के पास जाना कभी नहीं चाहूँगा। यह सब बात दीवार के पीछे गुप्त रीति से खड़े सागरदत्त सेठ सुन रहे थे। इससे वे निराश होकर अपने घर आ गये और सुकुमारिका को कहा कि हे पुत्री! सागर तो तुझसे विरक्त हो गया है, इसलिए मैं तेरे लिए अन्य पति की तलाश करूंगा, तू खेद मत कर।

(गा. 330 से 335)

एक बार सागरदत्त सेठ अपने महल के गवांक्ष में बैठ कर रास्ते की ओर देख रहे थे कि इतने में हाथ में खप्पर लिए जीर्ण वस्त्र के टुकड़े को पहने हुए और मक्खियां जिस पर भिनभिना रही थी ऐसा भिक्षुक रास्ते से पसार हो रहा था उसे उन्होंने देखा। तब सागरदत्त ने उसे बुलाकर खप्पर आदि छुड़वा कर स्नानादि करवा कर जिमाया। उसका शरीर चंदनादि से चर्चित कराया। पश्चात उसे कहा कि रे भद्र! यह मेरी पुत्री सुकुमारिका मैं तुमको देता हूँ, इसलिए भोजनादि से निश्चिंत होकर इसके साथ यहां सुखपूर्वक रह। इस प्रकार कहने पर सुकुमारिका

के साथ वासगृह में गया। परंतु उसके साथ शयन करते हुए उसके अंग के स्पर्श से मानो अग्नि का स्पर्श हुआ हो इस प्रकार वह जलने लगा। शीघ्र ही वह वहाँ से उठा और अपना जो वेश था, वह पहन पलायन कर गया। सुकुमारिका पहले की तरह व्यथित हुई। उसकी अवस्था को देखकर उसके पिता ने कहा, वत्से! खेद मत कर तेरे पूर्व के पापकर्म का उदय हुआ है। अन्य कोई कारण नहीं है। इसलिए संतोष धारण करके अपने घर में रहकर ही नित्य ही दान पुण्य किया कर। पिता के इस प्रकार के वचनों से सुकुमारिका शांत हुई और धर्म में तत्पर होकर निंरतर दान पुण्य करने लगी।

(गा. 336 से 341)

किसी समय गोपालिका नामक साध्वी उसके घर आई। उनको सुकुमारिका ने शुद्ध जलपानादि से प्रतिलाभित किया। उनके पास से धर्मश्रवण कर वह प्रतिबोध को प्राप्त कर उसने चारित्र अंगीकार किया। चतुर्थ, छठ और अट्ठम आदि तपस्या आचरती हुई वह गोपालिका साध्वी के साथ हमेशा विहार करने लगी। एक बार सुकुमारिका साध्वी ने अपने गुरूजी को कहा कि पूज्य आर्या! आपकी आज्ञा हो तो मैं सुभूमिभाग नामक उद्यान में रविमंडल के सामने देखती हुई आतापना लेउं। आर्या बोली– अपने निवास स्थान से बाहर रहकर साध्वी को आतापना लेना कल्पता नहीं है, ऐसा आगम में कहा है। गुरू महाराज के इस प्रकार कहने पर भी सुनी अनसुनी करके वह सुकुमारिका सुभूभिभाग उद्यान में गई और सूर्य के सामने दृष्टि स्थापन करके आतापना लेने लगी।

(गा. 342 से 347)

एक बार देवदता नाम की एक वेश्या वहाँ उद्यान में आई हुई उनके देखने में आई। उसके एक कामी पुरूष ने उसे अपने उत्संग में बैठा रखा था एक ने उसके सिर पर छत्री धारण की थी, एक उसके वस्त्र के किनारे से पवन कर रहा था।

(गा. 348 से 349)

एक उसके केश को बाँध रहा था और एक ने उसके चरण ले रखे थे। इस प्रकार देखकर सुकुमारिका साध्वी कि जिसकी भोग इच्छा पूर्ण हुई नहीं थी उसने ऐसा मनोभाव किया इस इस तपस्या के प्रभाव से मैं भी इस वेश्या की भांति पाँच पति वाली होंउ। उसके पश्चात बारबार वह अपने शरीर को साफ

करने लगी। अन्य आर्याएं उसे ऐसा करने से रोकती तब वह चित में विचारती कि जब में पूर्व में गृहस्थ थी तब तो ये आर्याएं मुझे मान सम्मान देती थी, परंतु अब मैं उनके साथ भिक्षुणी हुई तब वे जैसे तैसे मेरा तिरस्कार कर देती हैं। इसलिए मुझे इनके साथ रहने की क्या आवश्यकता है? ऐसा सोचकर वह अन्य दूसरे उपाश्रय में रहने लगी और एकाकी स्वतंत्र रूप से विचरती हुई चिरकाल तक व्रतों को पालने लगी। प्रति आठ मास की संलेखना करके पूर्व पाप की आलोचना किए बिना वह मृत्यु को प्राप्त हुई और नव पल्वोपम की आयुष्य वाली सौधर्म कल्प में देवी हुई। वहाँ से च्यवकर यह द्रोपदी हुई है और पूर्व भव में कृत मनोभाव से उसके पांच पति हुए हैं तो इसमें क्या विस्मय है?

(गा. 350 से 355)

इस प्रकार जब मुनि ने कहा, उस समय आकाश में साधु द्वारा, ऐसी वाणी हुई। इसके पांच पति होना उपयुक्त है, ऐसा कृष्ण आदि कहने लगे। पश्चात स्वंयवर में आए हुए सभी राजाओं और स्वजनों के साथ बहुत बड़े महोत्सव से पांचों पांडवों ने द्रोपदी से विवाह किया पांडु राजा दस दशार्ह को कृष्ण को और अन्य राजाओं को मानो विवाह के लिए ही बुलाया हो, वैसे मानपूर्वक अपने नगर में ले गए। वहाँ चिरकाल तक उनकी आदरपूर्वक भक्ति की। जब दशार्ह और राम कृष्ण आदि ने इजाजत मांगी तब उन सभी को एवं दूसरे अन्य राजाओं को विदा किया।

(गा. 356 से 359)

पांडू राजा की युद्धिष्ठिर को राज्य देकर मृत्यु हो गई और माद्री ने भी अपने दोनों पुत्र कुंती को सौंप कर पांडुराजा के पीछे मृत्यु प्राप्त की। जब पांडुराजा दिवंगत हुए तब मत्सर वाले धृतराष्ट के पुत्र पांडवों से शत्रुभाव रखते और वे दुष्ट छल बल से राज्य लेने को आतुर हो गये। दुर्योधन ने विनयादि गुणों से सर्व वृद्धों को संतुष्ट किया और पांडवों को द्यूत में जीत लिया। युधिष्ठिर लोभ से धूत में राज्य और अंत में द्रोपदी को भी हार गये और दुर्योधन ने सब जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। परंतु बाद में क्रोध से लाल हुए नेत्रों वाले भीम से भयभीत होकर दुर्योधन ने द्रोपदी को उनको वापिस लौटा दिया। धृतराष्ट्र के पुत्रों ने अपमान करके पांडवों को देश से निकाल दिया, और उन्होंने वनवास स्वीकारा। लंबे समय तक जंगलों में भटकते उन पाँच पांडवों को अंत में दशार्ह

की अनुजा बहन कुंती द्वारका में ले गई। दिव्यास्त्रों से युद्ध करने वाले और विद्या एवं भुजबल से उग्र वे प्रथम समुद्रविजय राजा के घर आए।

(गा. 360 से 366)

राजा समुद्रविजय और अक्षोभ्य आदि उनके भाइयों ने अपनी बहन और भाणजों का स्नेहपूर्वक अच्छी तरह सत्कार किया। दशार्ह बोले, हे बहन! उन तुम्हारे भागीदारों कौरवों के पास से भाग्य योग से संतान सहित तुम जीवित आ गई, यही अच्छा हुआ। कुंती भी बोली कि जब मैंने सुना कि तुम पुत्रादिक परिवार सहित जीवित हो, तभी मैं भी संतान सहित जिंदा रही हूं और बलराम और कृष्ण का लोकोतर चरित्र सुनकर हर्षित होती हुई, उनको देखने की उत्सुक मैं यहाँ आई हूँ।

(गा. 367 से 370)

पश्चात भाईयों ने कहा तब कुंती पुत्र सहित सभा में आई। उनको देखकर बलराम और कृष्ण ने खडे होकर उनको नमस्कार किया। पश्चात बलराम कृष्ण और पांडवों के क्रमानुसार परस्पर नमस्कार और आलिंगन करके यथायोग्य स्थान पर बैठे। कृष्ण बोले आप यहां अपने ही घर आए, यह बहुत अच्छा किया क्योंकि आपकी और यादवों की लक्ष्मी परस्पर साधारण है। युधिष्ठिर बोले हे कृष्ण ! जो तुमको माने उनके लक्ष्मी सदा दासी रूप है और जिनको तुम मानो उनकी तो बात ही क्या करनी? हमारे मातृकुल ननिहाल को जब से तुमने अलंकृत किया है तब से हम यदुकुल और अपने आप को सर्व से विशेष पराक्रमी मानते हैं। इस प्रकार विविध रूप से आलाप करने के पश्चात कृष्ण ने कुंती और उसके पुत्रों का सत्कार करके उनको अलग अलग निवास स्थान दिया। दशार्हो ने लक्ष्मीवती वेगवती सुभद्रा विजया और रति नाम की अपनी पाँचों कन्याओं को अनुक्रम से पांचों पांडवों को दी। यादवों और बल राम कृष्ण से पूजित वे सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे।

(गा. 371 से 378)

यहां संवर विद्याधर के घर प्रद्युम्न बड़ा होने लगा। उसने सर्वकलाओं को हस्तगत किया। उसके युवा स्वरूप को देखकर संवर विद्याधर की स्त्री कनकवती कामातुर हो गई। वह सोचने लगी कि इसके जैसा सुंदर पुरूष कोई विद्याधर में नहीं है। देव भी ऐसा हो मुझे नहीं लगता। तो मनुष्य की तो बात ही क्या है?

जिस प्रकार स्वंय द्वारा सिंचित वृक्ष का फल स्वंय आस्वादन करे उसी प्रकार मेरे द्वारा पालित पोषित इस प्रद्युम्न के यौवन का भोग रूपी फल मुझे ही भोगना चाहिये नहीं तो मेरा जन्म ही वृथा है। ऐसा विचार करके उसने एक बार मधुर वाणी से प्रद्युम्न को कहा कि यहाँ उत्तम श्रेणी में नलपुर नाम का नगर है उसमें गौरी वंश का निषध नाम का राजा है, उस राजसिंह की मैं पुत्री हूँ। उनके नैषधि नामक एक पुत्र है। मेरे पिता ने मुझे गौरी विद्या दी है और संवर विद्याधर ने मुझे प्रज्ञप्ति विद्या देकर मुझसे विवाह किया है। मुझ में अनुरक्त संवर अन्य किसी युवती को चाहता नहीं है।

(गा. 379 से 384)

मैंने जो पूर्वोक्त दोनों विद्यासिद्ध की हैं, उसके बल से संवर को यह जगत तृण समान लगता है। अब मैं तुझ पर अनुरागी हुई हूँ अतः तू मेरा भोग कर। अज्ञान से भी मेरे प्रेम को भंग मत करना। प्रद्युम्न बोला अरे माता शांत हो, आप यह क्या बोलती है? आप माता हो और मैं आपका पुत्र हूं, अतः आप हम दोनों के नरक वास के समान यह बात छोड़ दें। कनकमाला बोली– तू मेरा पुत्र नहीं है, तुझे तो मार्ग में किसी ने छोड़ दिया था। अग्निज्वाल पुर से आते संवर विद्याधर यहाँ लाया है। उसने मुझे तेरा पालन पोषण करने को कहा है। इसलिए तू किसी और का पुत्र है। इससे तू निःशंक होकर तेरी इच्छानुसार मेरे साथ भोगों को भोग। ऐसे उस स्त्री के वचन सुनकर प्रद्युम्न ने विचार किया कि मैं इस स्त्री के पाश में फँस गया हूँ अब मैं क्या करूँ? वह विचार करके बोला– रे भद्रे! जो मैं ऐसा कार्य करूँगा तो संवर और उसके पुत्र मुझे जिंदा नहीं छोडेंगे।

(गा. 385 से 390)

कनकमाता बोली हे सुभग! उसका भय मत रख मेरे पास जो गौरी और प्रज्ञप्ति ये दो विद्याएँ है, वह तू ग्रहण कर और जगत में अजय हो जा। मुझे कभी भी ऐसा अकृत्य करना नहीं है, ऐसा अंतःकरण में निश्चय करके प्रद्युम्न बोला कि प्रथम तो मुझे वे दो विद्याएँ तो दो फिर तुम्हारा वचन मानूँगा। कामातुर हुई कनकमाला ने गौर और प्रज्ञप्ति नाम की दोनों विद्या उसे दी। तब प्रद्युम्न ने पुण्योदय के प्रभाव से उन्हें शीघ्र ही साध लिया। पुनः कनकमाला ने क्रीड़ा करने की प्रार्थना की, तब प्रद्युम्न बोला– हे अनधे! पहले तो तुमने मेरा पालन पोषण किया इसलिए तो माता हो ही, परंतु विद्यादान करने से तो गुरू हो गई अतः इस

पाप कर्म के लिए मुझ से कुछ कहना नहीं। इस प्रकार उसको ऐसा कहकर घर छोड़कर प्रद्युम्न नगर के बाहर चला गया और वहाँ कालांबुका नाम की वापिका के मुंडेर पर ग्लानि पूर्वक बैठ विचार करने लगे।

(गा. 391 से 396)

इधर कनकमाला ने नाखून से सारे शरीर को खरोंच लिया और चिल्लाने लगी। तब उसकी चिल्लाहट सुनकर क्या हुआ ? ऐसे पूछते हुए उसके पुत्र वहाँ दौडे आए। वह बोली कि तुम्हारे पिता ने तो उस प्रद्युम्न को पुत्र रूप से माना है परंतु उस दुष्ट युवा ने भार्जार जैसे पिंड देने वाले का भी विदारण करता है वैसे ही उसने मेरी कदर्थना करी। यह हकीकत सुनकर वे सभी क्रोधित होकर कालांबुका के तीर पर गए और अरे पापी! अरे पापी! ऐसा बोलते हुए प्रद्युम्न पर प्रहार करने लगे। तब विद्या के प्रभाव से प्रबल हुए प्रद्युम्न ने लीलामात्र में सिंह जैसे सांभर को मारता है वैसे ही उसने सवंर के पुत्रों को मार डाला। पुत्रों का वध सुनकर संवर भी क्रोधित होकर प्रद्युम्न को मारने आया, परंतु विद्या से उत्पन्न की हुई माया द्वारा प्रद्युम्न ने संवर को जीत लिया। पश्चात प्रद्युम्न ने पश्चाताप पूर्वक मूल से लेकर कनकमाला का सर्व वृत्तांत संवर को कहा। यह सुनकर पश्चाताप करते हुए संवर ने प्रद्युम्न की पूजा की। इतने में वहाँ नारद मुनि प्रद्युम्न के पास आए।

(गा. 397 से 403)

प्रज्ञप्ति विधा से पहचान कर नारद जी की प्रद्युम्न ने पूजा की और उनको कनकमाला की सर्व हकीकत कह सुनाई। तब नारद जी ने सीमंधर प्रभु द्वारा हुआ प्रद्युम्न और रूक्मिणी का सर्व वृत्तांत अथ से इति तक कह सुनाया। और कहा कि हे प्रद्युम्न! जिसका पुत्र पहले विवाह करेगा उसको दूसरी को अपने केश देने होंगे। ऐसी प्रतिज्ञा तुम्हारी सापात्न माता सत्यभामा के साथ तुम्हारी माता रूक्मिणी ने की है। उस सत्यभामा का पुत्र भानुक अभी हाल ही विवाह करने वाला है, इससे यदि उसका पहले विवाह हुआ तो तुम्हारी माता प्रण में हार जाएगी और उसे अपने केश देने पडेंगे। तब केशदान की हानि से और तुम्हारे वियोग की पीड़ा से तुम्हारे जैसा पुत्र होने पर भी रूक्मिणी मृत्यु का वरण कर लेगी। यह समाचार सुनकर प्रद्युम्न नारद के साथ प्रज्ञप्ति विद्या द्वारा निर्मित विमान में बैठकर शीघ्र ही द्वारकापुरी के पास आये।

(गा. 404 से 409)

उस समय नारद ने कहा हे वत्स! यह तेरे पिता की द्वारिकापुरी आ गई, जिसे कुबेर ने रत्नों से निर्मित करके धन से पूरी है। प्रद्युम्न बोला मुनिवर! आप क्षणभर इस विमान में यही पर रहो। मैं नगरी में जाकर कुछ चमत्कार करूं। नारद से उसे स्वीकार किया। प्रद्युम्न आगे चला। वहाँ तो सत्यभामा के पुत्र के विवाह की बारात आती हुई उसने देखी। तब प्रद्युम्न ने उसमें से कन्या का हरण कर लिया और जहाँ नारद थे वहाँ लाकर रख दिया। तब नारद ने कहा वत्से! भयभीत मत हो यह भी कृष्ण का ही पुत्र है। तब प्रद्युम्न एक वानर को लेकर वन में गया। उसने वनपालकों को कहा कि यह वानर मेरा क्षुधातुर है, इसलिए इसे फलादिक दो। वनपालक बोले– यह उद्यान भानुक कुमार के विवाह के लिए रखा हुआ है। इसलिए तुझे कुछ भी बोलना या मांगना नहीं है। तब प्रद्युम्न कुमार बहुत से द्रव्य का उसे लोभ देकर उस उद्यान में घुसा और अपने उस मायावी वानर द्वारा संपूर्ण उद्यान को फलादिक से रहित कर दिया। तब एक जातिवंश अश्व लेकर वणिक बन कर तृण बेचने वाले की दुकान पर गया और अपने अश्व के लिए उसने उस दुकानदार से घास माँगा।

(गा. 410 से 417)

उसने भी विवाह कार्य के लिए घास के लिए मना कर दिया तब उसे भी द्रव्य का लोभ देकर विद्याबल से सर्व दुकान तृण रहित कर दी। इस प्रकार स्वादिष्ट जल वाले जो जो स्थान थे, वे सब जल रहित कर दिये। स्वंय बाद में अश्वक्रीडा करने के स्थान में जाकर अश्व खिलाने लग गया। वह अश्व भानुक ने देखा तब उसके पास जाकर पूछा यह अश्व किसका है? प्रद्युम्न ने कहा, यह मेरा अश्व है। भानुक ने कहा, यह अश्व क्या मुझे दोगे? जो तुम मांगोगे वह मूल्य मैं इसका दूँगा। प्रद्युम्न ने कहा, आप परीक्षा कर लो नहीं तो मैं राजा के अपराध में आ जाऊँगा। भानुक ने इसे कबूल किया और परीक्षा करने के लिए उस अश्व पर स्वंय बैठा। अश्व की चाल देखने के लिए उसे चलाते ही अश्व ने भानुक को पृथ्वी पर पटक दिया। तब नगरजनों ने जिसका हास्य किया ऐसा प्रद्युम्न मेंढे पर बैठकर कृष्ण की सभा में आया। और सभी सभासदों को हंसाने लगा। कभी ब्राह्मण होकर मधुर स्वर से वेदपाठ करता हुआ द्वारका के चौराहों पर और गलियों गलियों में घूमने लगा।

(गा. 418 से 425)

मार्ग में सत्यभामा की एक कुब्जा दासी मिली। तो उसे बरू की लता की तरह विधा से सरल अंग वाणी कर दिया। वह दासी प्रद्युम्न के पैरों में गिर कर बोली कि तुम कहां जा रहे हो? तब प्रद्युम्न बोला जहाँ इच्छानुसार भोजन मिलेगा वहाँ जा रहा हूँ। दासी बोली, सत्यभामा देवी के घर पुत्र के विवाह के लिए तैयार किये हुए मोदक आदि तुमको मैं यथारूचि दे दूँगी। तब प्रद्युम्न कुब्जा के साथ सत्यभामा के घर आया। तोरणद्वार मूलद्वार के पास उसे खड़ा करके कुब्जा सत्यभामा के पास गई तब सत्यभामा ने पूछा कि तू कौन है? दासी बोली मैं कुब्जा हूँ। सत्यभामा ने कहा तुझे सीधी किसने कर दिया? तब दासी ने उस ब्राह्मण का वृत्तांत कहा। सत्यभामा ने कहा, वह ब्राह्मण कहाँ है? दासी बोली कि उसे मैं तोरणद्वार के पास खडा रख कर तुम्हारे पास आई हूँ। तब उस महात्मा को यहां ला ऐसी सत्यभामा ने आज्ञा दी। तब वेग से दौड़कर वह दासी उस कपटी ब्राह्मण को ले आई। वह आशीष देकर सत्यभामा के पास बैठा। तब सत्यभामा ने कहा, हे ब्राह्मण! मुझे रूक्मिणी से अधिक रूपवाली कर दो। कपटी विप्र ने कहा, तुम तो बहुत रूपवान दिखती हो, तुम्हारे जैसा किसी दूसरी स्त्री का रूप मैंने कहीं भी देखा नहीं है। सत्यभामा बोली हे भद्र! तुम कहते हो वह सत्य है, तथापि मुझे रूप में विशेष अनुपम करो। ब्राह्मण ने कहा यदि सर्व से रूप में अधिक होना हो तो पहले विरूप हो जाओ क्योंकि मूल से विरूपता हो तो विशेष रूप हो सके। तब सत्यभामा ने पूछा कि पहले मैं क्या करूँ?

(गा. 426 से 435)

ब्राह्मण बोला पहले मस्तक मुंडाओ और फिर स्याही से सारी देह पर विलेपन करके सिले हुए जीर्ण वस्त्र पहन कर मेरे सामने आओ। तब मैं लावण्य और सौभाग्य की शोभा का आरोपण कर दूँगा। विशेष रूप को चाहने वाली सत्यभामा ने शीघ्र ही वैसा ही किया। तब कपटी ब्राह्मण बोला मैं बहुत ही क्षुधातुर हूँ अतः अस्वस्थ हुआ मैं क्या कर सकता हूँ? सत्यभामा ने उसे भोजन करने के लिए रसोइये को आदेश दिया। तब उस ब्राह्मण ने सत्यभामा के कान में इस प्रकार उपदेश दिया कि हे अनधे! जब तक मैं भोजन करूं, तब तक कुलदेवीक के सामने बैठकर तुम रूडू बुडू रूडू बुडू ऐसा मंत्र जाप करो। सत्यभामा तुरंत कुलदेवी के समक्ष बैठकर मंत्रजाप करने लगी। इधर प्रद्युम्न ने विद्या शक्ति के द्वारा सारी रसोई समाप्त कर दी। तब हाथ में जल कलश लेकर रसोई बनाने वाली स्त्रियाँ सत्यभामा से डरती डरती ब्राह्मण से बोली– अब तो उठो तो ठीक।

तब अभी तक तो मैं तृप्त हुआ नहीं इसलिए जहाँ तृप्ति होगी वहाँ जाऊँगा ऐसा बोलता हुआ वह कपटी विप्र वहाँ से चल दिया।

(गा. 436 से 444)

पश्चात वह बालसाधु का रूप लेकर रूक्मिणी के घर गया। रूक्मिणी ने नेत्र को आनंद रूप चंद्र जैसा उनको दूर से ही देखा उसके लिए आसन लेने रूक्मिणी घर में गई, तब वहाँ पहले से रखे हुए कृष्ण के सिंहासन के ऊपर वह बैठ गया। जब रूक्मिणी आसन लेकर बाहर आई तब कृष्ण के सिंहासन पर उसको बैठा हुआ देखकर विस्मित हुई और नेत्र को विकसित करती हुई बोली कृष्ण या कृष्ण के पुत्र के बिना इस सिंहासन के उपर बैठे हुए किसी भी पुरूष को देवतागण सहन नहीं कर सकते। तब उस कपटी साधु ने कहा मेरे तप के प्रभाव से किसी भी देवता का पराक्रम मुझ पर चलता नहीं है। तब रूक्मिणी ने पूछा कि आप किस कारण से यहाँ पधारे हो? तब वह बोला मैंने सोलह वर्ष से निराहार तप किया हुआ है और मैंने जन्म से ही माता का स्तनपान भी नहीं किया, अब मैं यहाँ पारणा करने आया हूँ।

(गा. 445 से 451)

इससे जो योग्य लगे वह मुझे दो। रूक्मिणी बोली हे मुनि! मैंने चतुर्थ तप से आरंभ करके वर्ष तक का तप तो सुना है, परंतु किसी भी स्थान पर सोलह वर्ष का तप सुना नहीं। यह सुनकर बालमुनि बोले– तुमको उससे क्या मतलब है? जो कुछ भी हो और वह मुझे देने की इच्छा हो तो दो। नहीं तो मैं सत्यभामा के मंदिर में जाता हूँ। रूक्मिणी बोली मैंने उद्वेग के कारण कुछ भी आज बनाया नहीं है। बालमुनि ने पूछा– तुमको उद्वेग होने का क्या कारण है? रूक्मिणी ने कहा मुझे पुत्र का वियोग हुआ है उसके संगम की आशा से मैंने आज तक कुल देवी की आराधना की। आज अंत में कुलदेवी को मस्तक का बलिदान देने की इच्छा से मैंने मेरी ग्रीवा पर प्रहार किया, तब कुलदेवी ने कहा, पुत्री! साहस कर नहीं, यह तेरे आंगन में रहा हुआ आम्रवक्ष जब खिल उठेगा तब तेरा पुत्र आएगा। आज यह आम्रवृक्ष विकसित हो गया परंतु मेरा पुत्र तो अभी तक नहीं आया। इसलिए हे मुनिराज! तुम होरा देखो। मेरे पुत्र का समागम कब होगा? मुनि बोले, जो खाली हाथ से पूछे उनको होरा का फल मिलता नहीं है। रूक्मिणी बोली कहो तुमको क्या दूँ? मुनि बोले तप से

मेरा उदर दुर्बल हो गया है, इससे मुझे क्षीर भोजन दो। तब रूक्मिणी खीर बनाने के द्रव्य की शोध में तत्पर हो गई।

(गा. 452 से 460)

उस समय साधु ने पुनः कहा मैं बहुत भूखा हूँ, तो जो कोई भी द्रव्य हो उससे खीर बना दो। तब रूक्मिणी पहले से तैयार करे मोदक की खीर बनाने लगी। परंतु उन मुनि के विद्या के प्रभाव से अग्नि प्रज्वलित नहीं हुआ। जब रूक्मिणी को अति खेदित हुआ देखा तो मुनि ने कहा, जो खीर बन सके ऐसा ना हो तो इस मोदक से ही मेरी क्षुधा को शांत करो। रूक्मिणी बोली भगवान्! ये मोदक कृष्ण के बिना अन्य कोई पचा नहीं सकता, इसलिए तुमको देकर मैं ऋषिहत्या का पाप नहीं करूं। मुनि बोले– तपस्या के प्रभाव से मुझे कुछ भी दुर्जर न पचे जैसा नहीं है। तब रूक्मिणी शंकित चित से उनको मोदक देने लगी। जैसे जैसे वह मोदक देती गई वैसे वैसे मुनि जल्दी जल्दी खाते गये। तब वह विस्मित होकर बोली महर्षि! आप तो बहुत बलवान लगते हो।

(गा. 461 से 466)

इधर सत्यभामा रूडू बुडु मंत्र को जप रही थी। वहाँ बागवान पुरूषों ने आकर कहा, स्वामिनि! किसी पुरूष ने आकर अपने उद्यान को फल रहित कर दिया। किसी ने आकर बताया कि घास की दुकानों में से घास खत्म कर दिया है। किसी ने जाहिर किया कि उत्तम जलाशयों को निर्जल कर दिया और किसी ने आकर कहा भानुक कुमार को अश्व पर से किसी ने गिरा दिया। यहसुनकर सत्यभामा ने दासी को कहा कि अरे! वह ब्राह्मण कहाँ है? तब दासियों ने जो घटना बनी थी, वह यथार्थ कह सुनाई। तब खेद पाती हुई, फिर भी अधर्म से सत्यभामा ने केश लाने के लिए हाथ में पात्र देकर दासियों को रूक्मिणी के पास भेजा।

(गा. 467 से 471)

उन्होंने आकर रूक्मिणी से कहा, हे मानिनी! तुम्हारे केश शीघ्र ही हमको दो। हमारी स्वामिनी ने शीघ्र ही ऐसा करने की आज्ञा की है। यह सुनकर उस कपटी साधु ने उन दासियों के और सत्यभामा के पूर्व में मुंडित केशों द्वारा उस पात्र को भरकर उनको सत्यभामा के पास भेज दिया। सत्यभामा ने उनको केश बिना की देखकर पूछा, कि यह क्या हुआ? तब दासियों ने कहा कि क्या आप

नहीं जानती जैसी स्वामिनी हो, वैसा ही उनका परिवार होता है। भ्रमित हुई सत्यभामा ने अनेक नापितों को रूक्मिणी के घर भेजा। तब उस साधु ने उनके शरीर पर से जैसे त्वचा छेदी जाय वैसे विद्या द्वारा मुंडित करके निकाल दिया। उन नापितों को भी मुंडित देखकर सत्यभामा ने क्रोध से कृष्ण के पास आकर कहा स्वामिन्! आप रूक्मिणी के केश दिलाने में जमानत देने वाले हो।

(गा. 472 से 474)

इसलिए उसके अनुसार मुझे आज उसके केश दिलाओ। इस कार्य के लिए आप स्वंय जाकर रूक्मिणी के मस्तक का मुंडन कराओ। हरि हंसते हंसते बोले तुम मुण्डित तो हो गई हो। सत्यभामा बोली– अभी हंसी मजाक छोड़ दो और उसके केश मुझे आज ही दिलाओ। तब कृष्ण ने उस कार्य के लिए बलभद्र को सत्यभामा के साथ रूक्मिणी के घर भेजा। वहाँ प्रद्युम्न ने विद्या से कृष्ण के रूप की विकुर्वण की तब उनको वहाँ देखकर शर्म लज्जित होकर वापिस लौटे। पूर्व स्थानक पर आते ही कृष्ण को वहाँ भी देखकर वे बोले कि तुम मेरा उपहास क्यों कर रहे हो? तुमने मुझे केश के लिए वहाँ भेजा फिर तुम भी वहाँ आ गये और वापिस यहाँ आ गये। इससे तुमने सत्यभामा को और मुझको दोनों को एक ही समय में लज्जित कर दिया। कृष्ण ने सौंगन्ध खाकर कहा कि मैं वहाँ आया ही नहीं था। ऐसा कहने पर भी यह सब तुम्हारी ही माया है, ऐसा बोलती हुई सत्यभामा क्रोधित होती हुई अपने महल में चली गई। फिर उसको मनाने के लिए हरि उसके घर गए।

(गा. 475 से 481)

इतने में नारद ने रुक्मिणी के पास आकर कहा कि 'यह तुम्हारा पुत्र प्रद्युम्न है।' इसलिए तत्क्षण माता के चिरकाल के वियोग दुःख रूप अंधकार को टालने हेतु सूर्य के समान प्रद्युम्न ने अपना देव जैसा रूप प्रकट करके चरणों में नमन किया। रूक्मिणी के स्तनों में से दूध की धारा बह चली। उसने भी पुत्र का आलिंगन किया। आँख में अश्रु लाकर वह बारम् पुत्र के मस्तक पर चुंबन करने लगी। तब प्रद्युम्न ने माता को कहा 'माता! मैं मेरे पिता को आश्चर्य में डालूँ, तब तक तुम मुझे बताना नहीं।' हर्ष में व्यग्र हुई रूक्मिणी कुछ भी बोल न सकी। पश्चात् प्रद्युम्न रूक्मिणी को एक मायारथ में बिठाकर ले चला, और शंख फूंककर लोगों को बताया कि, मैं इस रूक्मिणी का हरण कर रहा हूँ। यदि कृष्ण

बलवान् शक्ति हों तो उसकी रक्षा करे। यह सुनकर यह कौन दुर्बुद्धि मरना चाहता है, 'ऐसा बोलते कृष्ण हाथ में धनुष लेकर सैन्य सहित उसके पीछे दौड़े। प्रद्युम्न ने विद्या के सामर्थ्य से उनके धनुष को तोड़ दिया, हाथी को जैसे दंत रहित कोई कर दे। उसी प्रकार प्रद्युम्न ने कृष्ण को आयुध विहीन कर दिया। उस समय जैसे ही हरि व्यथित हुए, तैसे ही उनकी दाहिनी भुजा फड़कने लगी। इसलिए यह बात उन्होंने बलराम को बताई। उसी समय नारद ने आकर कहा, कृष्ण ! यह रूक्मिणी सहित तुम्हारा ही पुत्र प्रद्युम्न है। उसे ग्रहण करो और युद्ध की बात छोड़ दो। उसी समय प्रद्युम्न कृष्ण के चरणों में नमन करके, बलराम के चरणों में भी नमन हेतु झुक गये। उन्होंने गाढ़ आलिंगन करके बारम्बार उसके मस्तक पर चुंबन किया। मानो यौवन सहित ही जन्मा हो वैसा दैव की लीला को धारण करता प्रद्युम्न को अपने उत्संग में बिठाकर कृष्ण लोगों के मन में विस्मय उत्पन्न करते हुए रूक्मिणी के साथ इंद्र की तरह उस वक्त द्वार पर रचित नवीन तोरणों से भ्रूकुटी के विभ्रम को कराती द्वारिका में प्रवेश किया।

(गा. 482 से 493)

सप्तम सर्ग

शांब और प्रद्युम्न का विवाह
जरासंध का वध

द्वारिका में प्रद्युम्न के आगमन का महोत्सव प्रवर्तमान था, उस समय दुर्योधन राजा ने इस प्रकार विज्ञप्ति की कि स्वामिन! मेरी पुत्री और आपकी पुत्रवधू का अभी कोई हरण करके ले गया है। इसलिए उसकी तलाश कराओ कि जिससे आपके पुत्र भानुक के साथ उसका विवाह करें। कृष्ण बोले, मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ, यदि सर्वज्ञ होता तो क्या हरण करके गये रूक्मिणी के पुत्र को नहीं जानता? उस समय प्रद्युम्न ने कहा कि 'मैं प्रज्ञप्ति विद्या के द्वारा उस बात को जानकर अभी उसको यहाँ ले आता हूँ।' ऐसा कहकर स्वयंवरा होकर आई उस कन्या को वह ले आया। कृष्ण वह कन्या प्रद्युम्न को देने लगे तब यह तो मेरे छोटे भाई की स्त्री होने से यह तो वधू समान है। ऐसा कह प्रद्युम्न ने उसे ग्रहण नहीं किया और भानुक के साथ उसका विवाह करा दिया। उसे पश्चात् प्रद्युम्न की इच्छा न होने पर भी कृष्ण ने बड़े महोत्सव से अनेक खेचरों की और राजाओं की कन्याओं का प्रद्युम्न से विवाह करवाया। पश्चात् रूक्मिणी और कृष्ण ने प्रद्युम्न को लाने में उपकारी नारद की पूजा करके विदा किया।

(गा. 1 से 7)

एक बार प्रद्युम्न की विपुल समृद्धि देखकर और उसकी श्लाघा (प्रशंसा) आदि सुनकर सत्यभागा कोपगृह में जाकर जीर्ण शय्या पर सो गई। वहाँ कृष्ण आए और उसे देखकर संभ्रम से बोल उठे 'हे सुंदरी! किसने तुम्हारा अपमान किया है, जो तुम इस प्रकार दुःखी हो रही हो?' सत्यभामा बोली 'मेरा किसी ने अपमान नहीं किया। परन्तु यदि मेरे प्रद्युम्न जैसा पुत्र नहीं होवे तो मैं अवश्य ही मर जाऊँगी। उसका आग्रह देखकर कृष्ण ने नैगमेषी देव को लक्ष्य में रखकर अष्टभक्त युक्त पौषधव्रत ग्रहण किया। नैगमेषी देव ने प्रकट होकर बोला कि 'मैं

क्या काम करूँ?' कृष्ण ने कहा कि 'सत्यभामा को प्रद्युम्न के जैसा पुत्र दो।' नैगमेषी देव बोला कि 'जिस स्त्री से तुमको पुत्र की इच्छा हो उस स्त्री को हार पहना कर समागम करना, जिससे उसको इच्छित पुत्र की प्राप्ति होगी। इस प्रकार हार देकर नैगमेषी देव अन्तर्ध्यान हो गया। वासुदेव कृष्ण ने हर्षित होकर सत्यभामा को शय्यास्थान में आने का कहलाया। प्रज्ञप्ति विद्या ने यह बात प्रद्युम्न को बता दी। इसलिए उसने अपनी माता से कहा कि 'मेरे जैसे पुत्र की इच्छा से वह हार जाकर तुम ले लो। रूक्मिणी बोली, 'वत्स! तेरे जैसे एक पुत्र से ही मैं कृतार्थ हूँ, क्योंकि स्त्रीरत्न को बार–बार प्रसव नहीं होता। प्रद्युम्न ने कहा, तो तुम्हारी सभी सपत्नियों में तुमको कौनसी सपत्नि अधिक प्रिय है, वह बताओ कि जिससे उसको ऐसा पुत्र हो वैसा करूं। रूक्मिणी बोली, 'वत्स! जब मैं तेरे वियोग से दुःखी थी उस समय मेरी सपत्नि जांगवती मेरे समान दुःखी होकर मेरे दुःख में भाग लेती थी। ऐसा कहकर प्रद्युम्न की आज्ञा से रूक्मिणी ने जांगवती को बुलाया। तब प्रद्युम्न ने विद्या से उसका रूप सत्यभामा जैसा कर दिया। तब रूक्मिणी ने उसे समझाकर हरि के मंदिर में भेजा। सायंकाले कृष्ण ने आकर उसे हार देकर उसे भोगा। उसी समय महाशुक्र देवलोक से च्यवकर कैटभ का जीव सिंह के स्वप्न से सूचित होकर जांबवती के उदर में उत्पन्न हुआ। जांबवती हर्षित होकर अपने स्थान में गई। इतने में सत्यभामा अपनी बारी लेने के लिए कृष्ण के मंदिर में आइ। उसे देखकर कृष्ण ने सोचा कि 'अहो! स्त्रियों को कितनी भोग की तृष्णा होती है?' यह सत्यभामा अभी तो यहाँ से गई थी, और अभी फिर वापिस आ गई है अथवा क्या किसी दूसरी स्त्री ने सत्यभाषा का रूप लेकर मुझे छला है। अब तो जो हो गया सो हो गया, परंतु सत्यभामा को खिन्न नहीं करना है। ऐसा सोचकर कृष्ण ने उसके साथ क्रीड़ा की। यह समाचार प्रद्युम्न को मिले इसलिए उसने कृष्ण की क्रीड़ा के समय ही विश्व को क्षोभ उत्पन्न करे, ऐसी कृष्ण की भेरी बजा दी। जिससे यह भेरी किसने बजा दी? ऐसा क्षोभ पाकर कृष्ण ने पूछा। तब सेवकजन ने कहा कि रूक्मिणी के कुमार प्रद्युम्न ने बजाई है। तब कृष्ण हास्य करते हुए बोले, 'जरूर तब इसने ही सत्यभाषा को भी छला है। क्योंकि सोंत का पुत्र दस सौत जैसा होता है। इस भेरी के नाद से किंचित् भययुक्त संभोग से सत्यभामा को भीरु पुत्र भवितव्यता कभी अन्यथा नहीं हो।

(गा. 8 से 28)

दूसरे दिन प्रातः कृष्ण रूक्मिणी के घर गए, वहाँ जांबवती को उस दिव्य हार से भूषित देखकर कृष्ण अनिमेष नेत्र से उसकी तरफ देखने लगे। तब जांबवती बोली, 'स्वामिन् क्या देख रहे हैं? मैं वही आपकी पत्नी हूँ। हरि बोले 'देवी! यह दिव्य हार तुम्हारे पास कैसे आया? जांगवती बोलो 'आपके प्रसाद से ही। आपने ही तो दिया है क्या आप आपके देय को भी भूल गए? उसी समय जांबवती ने स्वयं के स्वप्न में दिखलाई दी सिंह की बात कही, तब कृष्ण बोले देवी तुमको प्रद्युम्न जैसा पुत्र होगा, ऐसा कहकर विष्णु स्व–स्थान पर चले गये।

(गा. 29 से 32)

समय आने पर सिंहनी की तरह जांबवती ने शांब नामके अतुल पराक्रमी पुत्र को जन्म दिया। शांब के साथ ही सारथि दारूक और सुबुद्धि मंत्री के जयसेन नाम का पुत्र हुआ। सत्यभामा के एक भानुक नामका पुत्र तो था ही, दूसरा गर्भाधान के अनुसार भीरू नामका पुत्र हुआ। कृष्ण की अन्य स्त्रियों के भी सिंहशाब के जैसे अति पराक्रमी पुत्र हुए। शांब मंत्री और सारथि पुत्रों के साथ वे अनुक्रम से बड़े होने लगा। और बुद्धिमंत होने से उसने लीलामात्र में सर्व कलाएँ हस्तगत कर ली।

(गा. 33 से 37)

एक बार रूक्मिणी ने अपने भाई रूक्मि की वैदर्भी नाम की पुत्री को अपने पुत्र प्रद्युम्न के साथ विवाह कराने के लिए एक व्यक्ति को भेजकर नगर में भेजा। उसने वहाँ जाकर रूक्मि राजा को प्रणाम करके कहा कि 'आपकी पुत्री वैदर्भी को मेरे पुत्र प्रद्युम्न को दो। पूर्व में मेरा और कृष्ण का योग तो दैवयोग से हुआ था, परंतु अब वैदर्भी और प्रद्युम्न का संयोग तुम्हारे द्वारा ही हो। उस व्यक्ति के ऐसे वचन सुनकर पूर्व के वैर को याद करके रूक्मि ने बोला कि 'मैं अपनी पुत्री को चंडाल को दूँ तो ठीक, परन्तु कृष्ण वासुदेव के कुल में दूँ, वह योग्य नहीं।' दूत ने आकर रूक्मिणी को रूक्मि के वचनों को यथार्थ रूप से कह सुनाया जिससे अपमानिक रूक्मिणी रात्रि में मूर्छा से कमल की तरह ग्लानि को प्राप्त हो गई। प्रद्युम्न ने उसको इस प्रकार देखकर पूछा कि 'माता! आप खेद को क्यों प्राप्त हुई हो?' तब रूक्मिणी ने मन के भाव रूप अपने भाई का वृत्तांत कह सुनाया। प्रद्युम्न बोला, 'हे माता! आप खेद मत करो, वह मेरा मातुल सामवचन के योग्य नहीं है, इसी से मेरे पिता ने उस योग्य ही कार्य किया

था। अब मैं भी उसकी योग्यता के अनुसार करके उसकी पुत्री से विवाह करूँगा। इस प्रकार कहकर शांब को साथ लेकर आकाशमार्ग से प्रद्युम्न भोजकर नगर में गया। उन दोनों में से एक ने किन्नर का और दूसरे ने चाण्डाल का रूप धारण किया और दोनों गायन करते करते संपूर्ण शहर में घूम कर मृग की तरह सर्व लोगों का मन मोहित करने लगे। यह समाचार सुनकर रूक्मि राजा ने उस मधुर स्वर वाले गांधर्व और चाण्डाल को अपने पास बिठाकर उन दोनों के पास गायन कराया। उनका गीत सुनकर हर्षित हुए परिवार सहित रूक्मि ने उनको बहुत सा द्रव्य दिया और पूछा कि तुम कहाँ से आये हो? वे बोले, हम स्वर्ग से द्वारिका में आए हैं, क्योंकि कृष्ण वासुदेव के लिए वह नगरी स्वर्गवासी देवों ने रची है। उस समय वैदर्भी हर्षित होकर बोली कि वहाँ कृष्ण और रूक्मिणी का प्रद्युम्न नाम का पुत्र है, उसे तुम जानते हो? शांब बोला 'रूप में कामदेव और पृथ्वी का अलंकार भूत तिलक जैसा उस महापराक्रमी प्रद्युम्न कुमार को कौन नहीं जानता? यह सुनकर वैदर्भी रागगर्भित उत्कंठा वाली हो गई। उस समय राजा का उन्मत्त हाथी खीला उखाड़ कर छूह कर नगर में दौड़ने लगा। अकाल में तूफान मचाता और पूरे नगर में उपद्रव करते हुए उस हाथी को कोई भी वश में नहीं कर सका। उस समय रूक्मी राजा ने पटह बजाकर ऐसा आघोषणा कराई कि 'जो कोई इस हाथी को वशीभूत करेगा, उसे मैं इच्छित वस्तु दूँगा। किसी ने भी उस पटह को नहीं स्वीकारा।' तब इन दोनों वीरों ने पटह स्वीकारा और गीतों के द्वारा ही उस हाथी को स्तंभित कर दिया। फिर उन दोनों ने उन हाथी पर आरूढ़ होकर उसे बंधन स्थान में लाकर बांध दिया। नगरजनों को आश्चर्यचकित करते हुए उन दोनों को राजा ने हर्ष से बुलाया। तब कहा–तुमको जो चाहिये वह मांग लो।' तब उन दोनों ने कहा कि हमारे कोई धान्य रांधने वाली नहीं है अतः इस वैदर्भी को हमें दे दो। यह सुनकर रूक्मि राजा अत्यधिक क्रोधायमान होकर उनको नगर से बाहर निकलवा दिया। नगर के बाहर जाने के बाद प्रद्युम्न ने शांब को कहा, भाई! रूक्मिणी दुःखी होती होगी, इसलिए वैदर्भी से विवाह में बिलंब करना उचित नहीं है। इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि चन्द्र ज्योत्सना लिये रात आ गई। जब सब लोग सो गये थे तब प्रद्युम्न अपनी विद्या से जहाँ वैदर्भी सो रही थी उस स्थान में गया। वहाँ उसने रूक्मिणी का कृत्रिम लेख बनाकर वैदर्भी को दिया। वह पढ़कर वैदर्भी बोली, 'कहो तुमको क्या दूँ? प्रद्युम्न ने कहा, सुलोचने! मुझे तो

तुम्हारी देह ही दो। हे सुन्दरी! जिसके लिए रूक्मिणी देवी ने तुम्हारी मांग की थी, वह प्रद्युम्न मैं स्वयं, हूँ। 'अहो दैवयोग से विधि की घटना योग्य हुई।' ऐसा बोलती हुई वैदर्भी ने उन वचनों को स्वीकारा। पश्चात् तुरंत ही विद्या के बल द्वारा उत्पन्न करे हुए अग्नि की साक्षी से मंगलकंकण वाली और श्वेत रेशमी वस्त्र को धारण करने वाली उस बाला से प्रद्युम्न ने अग्नि की साक्षी में विवाह किया और कृष्ण के कुमार ने उसी रात्रि को विविध प्रकार से उसके साथ क्रीड़ा की। अवशेष रात्रि रहने पर तब वह बोला, 'प्रिये! मैं मेरे भाई शांब के पास जा रहा हूँ। परंतु यदि तुझे इस विषय में तेरे मातापिता या परिवार वालें पूछे तो तू कुछ भी जवाब मत देना। यदि वे कुछ भी उपद्रव करें तो मैंने तेरे शरीर की रक्षा की व्यवस्था की हुई है। ऐसा कहकर प्रद्युम्न चला गया। वैदर्भी अति जागरण से और अति श्रम से श्रांत होकर सो गई, वह प्रातःकाल भी जगी नहीं। समय होने पर उसकी धायमाता वहाँ आई, तब उसने वैदर्भी के कर में मंगलकंकण आदि चिह्नों को देखा तो शंकित हुई। इससे शीघ्र ही उसने वैदर्भी को जगा कर पूछा, परंतु वैदर्भी ने कुछ भी जवाब नहीं दिया। इसलिए स्वयं अपराध में न आ जाय अतः भयविह्वल होकर यह बात रूक्मि राजा के पास जाकर उसे कह सुनायी। राजा–रानी ने आकर वैदर्भी को पूछा, परंतु उसने कुछ भी जवाब नहीं दिया। परंतु विवाह और संभोग के चिह्न उसके शरीर पर स्पष्ट देखने में आये। इससे रूक्मि ने विचार किया कि जरूर इस कन्या के साथ किसी अधम पुरुष ने स्वेच्छा से इसके साथ क्रीड़ा की है। अब इस अधम कन्या को उन दोनों चंडालों को देना ही योग्य है। ऐसा विचार आने पर राजा ने क्रोध से छड़ीदार से उन दोनों चंडालों को बुलाया और कहा कि इस कन्या को ग्रहण करो और तुम ऐसे स्थान पर चले जाओ कि पुनः तुमको देखूं ही नहीं। ऐसा कहकर क्रोधित होकर रूक्मि ने उनको वैदर्भी दे दी। उन्होंने वैदर्भी से कहा कि 'हे राजपुत्री! तुम हमारे घर रहकर जल भरने का और चर्म–रज्जु आदि बेचने का काम करोगी? परमार्थ जानने वाली वैदर्भी ने कहा– जो देव करायेंगे, वह मैं अवश्य करूँगी क्योंकि दैव का शासन दुर्लंध्य है।' तब वे अति धैर्यता से वैदर्भी को लेकर वहाँ से अन्यत्र चले गये।

(गा. 38 से 75)

रूक्मि राजा सभा में आकर अपने कार्य से हुए पश्चाताप से रूदन करने लगे। अरे वत्स वैदर्भी! कहाँ गई? तेरा योग्य संयोग हुआ नहीं। हे नंदने! मैंने

तुझे गाय की तरह चाण्डाल के द्वार पर डाल दिया। वास्तव में कोप भी चाण्डाल है, जिससे मेरे हितेच्छु वर्ग ने भी मेरे पास से इस पुत्री को चंडाल को दिलवा दिया। प्रद्युम्न के लिए रूक्मिणी बहन ने मेरी पुत्री की मांग भी की थी, तो भी मैंने क्रोधांध होकर उसे दी नहीं। मुझ जैसे मंद बुद्धि वाले को धिक्कार है। इस प्रकार राजा रूदन कर रहा था कि इतने में वाजित्रों का गंभीर नाद सुनाई दिया। राजा ने पूछा 'यह नाद कहाँ से आ रहा है?' ऐसा सेवकों से पूछा। राजपुरुषों ने तुरंत तलाश करके वापिस आकर कहा कि 'राजेन्द्र! प्रद्युम्न और शांब वैदर्भी के साथ अपने नगर के बाहर एक विमान जैसे प्रासाद में देवताओं की तरह रह रहे हैं। चारण उनकी स्तुति कर रहे हैं, और वे उत्तम वाजित्रों से मनोहर संगीत करवा रहे हैं। उसका यह नाद यहाँ सुनाई दे रहा है।' तब रूक्मि राजा ने हर्षित होकर उनको अपने घर बुलाया और अपने भाणजे प्रद्युम्न की जँवाई के रूप में स्नेह से विशेष रूप से आवभगत की। पश्चात् रूक्मी राजा की इजाजत लेकर वैदर्भी और शांब को लेकर प्रद्युम्न द्वारिका में आया। वहाँ रूक्मिणी के नेत्रों को अतीव प्रसन्नता हुई। नवयौवन वाला प्रद्युम्न नवयौवनवती अभिनव वैदर्भी के साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करता हुआ, सुख से रहने लगा। और उधर हेमांगद राजा की वेश्या से हुई सुहिरण्या नाम की पुत्री जो कि रूप में अप्सरा जैसी थी, उसके साथ परण कर शांब भी सुखपूर्वक क्रीड़ा करता हुआ रहने लगा।

(गा. 76 से 84)

शांब हमेशा क्रीड़ा करता हुआ भीरूक को मारता था और द्यूत में बहुत सा धन हरा हरा कर दिला देता था। ऐसा करने पर एक दिन भीरूक रूदन करता हुआ सत्यभामा के पास आया। तब सत्यभामा ने शांब का ऐसा बर्ताव कृष्ण को बताया। कृष्ण ने जांबवती से यह बात की। तब जांबवती बोली, 'हे स्वामिन्! मैंने इतने समय में शांब का ऐसा कोई बेतुकी बर्ताव सुना नहीं और आप यह क्या कह रहे हैं? तब कृष्ण ने कहा 'सिंहनी तो अपने शावक को सौम्य और भद्रीक ही मानती है,' परंतु उसकी क्रीड़ा को तो हाथी ही जानते हैं। इसलिए तुझे देखना हो तो चल। मैं तुझे तेरे पुत्र की करतूत बताऊँ। कृष्ण ने आहीर का रूप धारण किया और जांबवती को आहीर की स्त्री का रूप धारण कराया। दोनों ही जने छाछ बेचने के लिए द्वारिका में गये। तब उनको शांब कुमार ने देखा। शांब ने आहीरणी को कहा– 'अरे बाई! यहाँ आ, मुझे तेरा गोरस लेना है।' यह सुनकर वह आहिरणी शांब के पीछे–पीछे गई। आहीर भी

पीछे पीछे आया। आगे जाने पर शांब देवालय में घुसा और उसने उसे भी अंदर आने को कहा। आहीरणी ने कहा, 'मैं अंदर नहीं आऊँ, मुझे यहाँ पर ही मूल्य दे दो।' यहाँ तुझे अवश्य ही आना चाहिये, ऐसा कहकर लता को जैसे हाथी खीचें वैसे उसके हाथ पकड़ कर खींचने लगा। तब अरे! मेरी स्त्री को कैसे पकड़ रहा है? ऐसा बोलता हुआ आहीर उसे मारने दौड़ा। उसी समय कृष्ण और जांबवती प्रकट हुए। अपने माता पिता को देखकर शांब मुख ढंक कर भाग गया। हरि ने इस प्रकार शांब की दुष्ट चेष्टा जांबवती को बताई। दूसरे दिन कृष्ण ने जबरन शांब को बुलाया। तब वह लकड़ी की खीला गढ़ता गढ़ता वहाँ आया। कृष्ण ने उससे खीला गढ़ने का कारण पूछा, तब वह बोला, जो कल की मेरी बात करेगा, उसके मुख में यह कीला डालना है। इसलिए मैं कील गढ़ रहा हूँ। यह सुनकर कृष्ण ने शांब के निर्लज्ज और कामवश इधर उधर जैसे तैसे स्वेच्छा से व्यवहार करता हैं, ऐसा जानकर उसे नगरी से बाहर निकाल दिया।

जब शांब नगरी से बाहर चला तब उस समय प्रद्युम्न ने अंतर में स्नेह धरकर पूर्व जन्म के बंधुरूप शांब को प्रज्ञप्ति विद्या दी। तब प्रद्युम्न भी भीरूक को हमेशा छेड़ने लगा। इससे एक बार सत्यभामा ने कहा कि 'अरे दुर्भति! तू भी शांब की तरह नगरी के बाहर क्यों नहीं निकल जाता? प्रद्युम्न ने कहा– 'मैं बाहर निकल कर कहाँ जाऊँ? तब सत्यभामा ने कहा कि 'श्मशान में जा।' वह बोला कि 'जब मैं शांब को हाथ से पकड़ कर गांव में लाऊँ, तब मुझे भी आना है।' जैसी माता की आज्ञा ऐसा कहकर प्रद्युम्न तुरंत श्मशान में चला गया। शांब भी घूमता घूमता वहाँ आ पहुँचा। तब दोनों भाई श्मशान भूमि में रहे और नगरी के जो भी मुर्दे आवे उन दागियों के पास से अधिक कर लेकर फिर उनको दहन करने देते।

(गा. 85 से 106)

इधर सत्यभामा ने भीरूक के लिए बहुत ही प्रयत्न करके निन्याणवें कन्याएं तैयार की। फिर सौ पूरी करने के लिए एक और कन्या की इच्छा करने लगी। ये समाचार प्रज्ञप्ति विद्या द्वारा जानकर प्रद्युम्न ने विद्याबल से एक बड़े सैन्य की विकुर्वणा की। और स्वयं जितशत्रु नाम का राजा हुआ। शांब देव कन्या जैसा रूप धारकर प्रद्युम्न की कन्या बनी। एक बार सखियों के साथ घिरी हुई क्रीड़ा करती हुई उस कन्या को भीरूक की धायमाता ने देखा। यह हकीकत

धायमाता ने सत्यभामा से कही। सत्यभामा ने दूत भेजकर जितशत्रु राजा से उसकी मांग की। जितशत्रु राजा ने कहा कि यदि सत्यभामा हाथ पकड़ कर मेरी कन्या को द्वारिका नगरी में ले जाय और विवाह के समय भीरूक के हाथ के ऊपर मेरी कन्या का हाथ रखे तो मैं मेरी कन्या को दूं। दूत ने आकर सर्व बात सत्यभामा को बतलाई। उसने ऐसा करना स्वीकार करके सत्यभामा तुरंत ही उनकी छावणी में आई। उस समय शांब ने प्रज्ञप्ति विद्या को कहा कि 'यह सत्यभामा और उसके परिजन मुझे कन्या रूप में देखें और दूसरे नगर जन शांब रूप में देखें, ऐसा करो। तब प्रज्ञप्ति ने ऐसा ही किया। सत्यभामा ने शांब को दक्षिण हाथ से पकड़ कर द्वारिका में प्रवेश कराया। यह देख नगर की स्त्रियाँ कहने लगी, 'अहो, देखो कैसा आश्चर्य! सत्यभामा भीरूक के विवाहोत्सव में शांब को हाथ से पकड़कर ला रही है।' शांब सत्यभामा के महल में गया, वहाँ उसने कपटबुद्धि से पाणिग्रहण के समय में भीरूक के दक्षिण हाथ पर अपना वाम हाथ रखा। और एक कम सौ कन्याओं के बायें हाथ पर अपना दाहिना हाथ रखा। इस रीति से शांब ने विधिपूर्वक अग्नि की प्रदक्षिणा दी। कन्याऐं अति रूपवंत शांब को देखकर बोली कि 'अरे कुमार! वास्तव में हमारे पुण्य के उदय से विधि के मिलाप से कामदेव जैसे आप हमको पतिरूप में प्राप्त हुए हो।' उनके साथ विवाह हो जाने के पश्चात् शांब वासगृह में गया। भीरूक भी शांब के साथ वहां आ रहा था, तो शांब ने भृकुटि चढ़ाकर उसे डराया, अतः वह वहाँ से भाग गया। उसने आकर सत्यभामा से यह बात कही। परंतु सत्यभामा ने इसे माना नहीं। फिर स्वयं ने आकर वहाँ देखा, तो शांब कुमार वहाँ बैठा हुआ दिखा। शांब ने सपत्नी माता को प्रणाम किया। तब सत्यभामा कुपित होकर बोली– 'अरे निर्लज्ज! तुझे यहाँ कौन लाया? शांब बोला– माता! तुम्हीं मुझे हाथ पकड़ कर यहाँ लाई हो और मेरा इन निन्याणवें कन्याओं के साथ विवाह भी तुमने ही कराया है। इस विषय में सभी द्वारिका के लोग मध्यस्थ हैं। इस प्रकार कहा, तब सत्यभामा वहाँ आये सभी नगरजनों को पूछने लगी, उन्होंने कहा कि 'देवी! कोप मत करो। हमारी नजरों से हमने देखा है कि आप शांब को हाथ पकड़ कर लेकर आई हो और उसका ही इन कन्याओं के साथ विवाह कराया है। इस प्रकार लोगों की साक्षी सुनकर सत्यभामा 'अरे तू कपटी, कपटी का पुत्र, कपटी का कनिष्ट भाई, कपटी ही होगा। जिससे तूने मुझे कन्या के रूप में छला है, ऐसा कहकर रोष करके वहाँ से चली गई। कृष्ण ने सर्व लोगों के

समक्ष उन कन्याओं का शांब के साथ विवाह कराया और जांबवती ने महोत्सव किया।

(गा. 107 से 125)

पश्चात् शांब वासुदेव को नमस्कार करने गये। वहाँ उन्होंने कहा, 'तात! आपने चिरकाल तक पृथ्वी पर घूम कर बहुत सी स्त्रियों से विवाह किया है और मैं तो पृथ्वी पर घूमे बिना एक साथ सौ कन्याओं को वरण कर ले आया हूँ, इससे मुझमें और आपमें यह प्रत्यक्ष अन्तर है।' वसुदेव बोले 'रे वत्स! तू तो कुढ का मेंढ़क जैसा है। पिता ने नगर के बाहर निकाला, तो भी तू वापिस आ गया, ऐसे मानवर्जित तुझे धिक्कार है और मैं तो भाई ने किंचित् अपमान किया, इससे वीरवृत्ति से नगर से निकलकर सर्व स्थानों में भ्रमण करके अनेक कन्याओं से विवाह किया है और जब अवसर पर भाई लोग मिले तो आदर से प्रार्थना करने पर वापिस घर आया हूँ। तेरी तरह अपने आप वापिस नहीं आया। ऐसा उनका उत्तर सुनकर अपने पूज्य सुदेव का स्वयं प्रथम वाक्यों द्वारा तिरस्कार किया है, ऐसा जानकर शांब ने अंजलि जोड़कर प्रणाम करके पितामह के प्रति बोला, 'हे पितामह! मैंने अज्ञान से और बालवृत्ती से ऐसा कहा है, आप इसे क्षमा करें। क्योंकि आपतो गुणों से लोकोत्तर हैं।

(गा. 126 से 133)

एक समय अनेक धनाढ्य वणिक विपुल किराने का सामान लेकर यवनद्वीप से जलमार्ग से वहाँ आये। उन्होंने दूसरा सब किराना तो द्वारिका में बेच दिया, परन्तु रत्नकंबल बेचे नहीं। विशेष लाभ की इच्छा से वह राजगृही पुरी गये। वहाँ से व्यापारी स्वयमेव ही उनको मगधेश्वर की दुहिता जीवयशा के घर ले गये। वे रत्नकंबल उन्होंने जीवयशा को बताए कि जो उष्णकाल में शीत और शीतकाल में उष्ण तथा अत्यन्त कोमल रोएं वाले थे। जीवयशा ने उन रत्नकंबलों का अर्धमूल्य किया, तो वे बोल उठे 'अरे! इस प्रकार अर्धमूल्य में बेचना ही होता तो हम द्वारिका छोड़कर यहाँ किसलिए आते?' जीवयशा ने पूछा, 'यह द्वारिका कैसा है और वहाँ का राजा कौन है? व्यापारी बोले 'समुद्र द्वारा दिये गये स्थान में इस द्वारिका नगरी का देवताओं ने निर्माण किया है। वहाँ देवकी और वसुदेव के पुत्र कृष्ण राजा है।' यह सुनकर जीवयशा रूदन करती हुई बोली अरे! क्या मेरे स्वामी का संहार करने वाला यह कृष्ण जीवित है और

पृथ्वी पर राज्य कर रहा है। उसे देखकर जरासंध ने रोने का कारण पूछा, तब उसने अंजलिजोड़ कर कृष्ण का सर्व वृत्तांत बताया और कहा कि 'पिताजी! मुझे आज ही आज्ञा दो, तो मैं अग्नि में प्रवेश करके मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करूँगी। अब मैं जीवित नहीं रहूँगी। जरासंध बोला हे पुत्री ! तू रूदन मत कर, मैं इस कंस के शत्रु कृष्ण की माताओं, बहनों और सखियों को रूलाऊँगा।

(गा. 134 से 144)

अब यह पृथ्वी यादव विहीन हो ऐसा कह कर मंत्रियों के रोकने पर भी जरासंध ने प्रयाण करने के लिए सेना को आज्ञा दी। महापराक्रमी सहदेव आदि पुत्रों और पराक्रमियों में अगुणी चेदी देश का राजा शिशुपाल उसके साथ तैयार हुए। महापराक्रमी राजा हिरण्यनाम, संग्राम में धुरंधर और कौरव्य ऐसा दुर्योधन और अन्य बहुत से राजा तथा हजारों सामंत प्रवाह जैसे सागर में मिले वैसे जरासंध को आकर मिले। जिस समय जरासंध ने प्रयाण किया उस समय उसके मस्तक पर से मुकुट गिर पड़ा, उरःस्थल से हार टूट गया, वस्त्र के पल्ले में वैर अटक गया, उसके आगे छींक हुई, बांया नेत्र फड़कने लगा, उसके हाथी ने समकाल में मूत्र और विष्ठा की, प्रतिकूल पवन चलने लगा और आकाश में गिद्द पक्षिगण उड़ने लगे, इस प्रकार आप्तजनों की तरह खराब अपशकुनों और निमित्तों ने उसे अशुभ परिणाम बता दिया, फिर भी वह जरा भी रूका नहीं। सैन्य से उड़ती रज की तरह सैन्य के कोलाहल से दिशाओं को पूरता और दिग्गजों की तरह उद्भ्रांत रूप से पृथ्वी को कंपित करता हुआ क्रूर प्रतिज्ञावाला जरासंध गजपर आरूढ़ होकर विपुल सैन्य के साथ पश्चिम दिशा की ओर चल दिया।

(गा. 145 से 153)

जरासंध को आता जानकर कलिकौतुकी नारद और अन्य जानने वालों ने शीघ्र ही आकर कृष्ण को समाचार दिये। उसे सुनते ही अग्नि के समान तेजस्वी कृष्ण भी भीषण नादपूर्वक सुघोषा घंटा के नाद से सौधर्म देवलोक के देवता मिलते हैं, उसी प्रकार उस घंटे के नाद से सर्व यादवों और राजागणों को एकत्रित किया। इतने में समुद्र के जैसे दुर्धर समुद्र विजय सर्व प्रकार की तैयार करके आये। उनके साथ उनके महानेमि, सत्यनेमि, दृढ़नेमि, सुनेमि, अरिष्टनेमि, भगवान्, जयसेन, महाजय, तेजसेन, जय, मेघ, चित्रक, गौतम, श्वफल्क,

शिवनंद आरैर विश्वकसेन नामके महारथी पुत्र भी आये। शत्रुओं को अक्षोभ्य और युद्ध में चतुर ऐसे उद्धव, धव, शुंभित, महोदधि, अंगोनिधि, जलनिधि, वामदेव और दृढ़व्रत नामके आठ पुत्र आये। अक्षोम्य से छोटे स्तिमित और उसके उर्मिमान्, वसुमान्, वीर पाताल और स्थिर नामके पांच पुत्र भी आये। सागर और उसके निष्कंप, कंपन, लक्ष्मीवान्, केशरी श्रीमान् और युगांत नामक छः पुत्र आये। हिमवान् और उसके विद्युम्प्रभ, गंधमादन और माल्यवान् नामके तीन पुत्र आये। अचल और उसके महेन्द्र, मलय, सह्य, गिरि, शैल, नगर और बल नामके सात पराक्रमी पुत्र आये। धरण और उसके कर्केटक, धनंजय, विश्वरूप श्वेतमुख और वासुकि नामके पांच पुत्र आये। पूरण और उसके दुःपुर, दुर्भख, दुर्दंश और दुर्धर नामके चार पुत्र आए। अमिचंद्र और उसके चंद्र, शशांक, चंद्राभ, शशी, सोम और अमृतप्रभ नाम के छः पुत्र आये। दसों दशार्ह में सबसे छोटे वसुदेव जो पराक्रम में देव के सभी देव जैसे थे, वे भी आये। उनके बहुत से पराक्रमी पुत्र भी साथ में आए। उनके नाम इस प्रकार हैं:– विजयसेना के अक्रूर और क्रूर नाम के दो पुत्र, श्यामा के ज्वलन और अशनिवेग नाम के दो पुत्र, गंधर्वसेना के मानो मूर्तिमान् अग्नि हों, वैसे वायुवेग, अमितगति और महेन्द्रगति नाम के तीन पुत्र, मंत्रीपुत्री पद्मावती के महातेजवान् सिद्धार्थ, दारूक और सुदारू नाम के तीन पराक्रमी पुत्र, नीलयशा के सिंह और मंतगजनाम के दो पुत्र, सोमश्री के नारद और मरुदेव नाम के दो पुत्र, मित्रश्री का सुमित्र नाम का पुत्र, कपिता का कपिल नामका पुत्र, पद्मावती के पद्म और कुमुद नाम के दो पुत्र, पुंड्रा का पुंड्र नाम का पुत्र, रत्नवती के रत्नगर्भ और वज्रबाहू नाम के दो बाहुबली पुत्र, सोम की पुत्री सोमश्री के चंद्रकांत और शशिप्रभ नाम के दो पुत्र, बेगवती के वेगवान् और वायुवेग नाम के दो पुत्र, मदनवेगा के अनाधृष्टि, दृढ़मृष्टि और हितवृष्टि नाम के तीन जगद्विख्यात पराक्रम वाले पुत्र, बंधुमती के बंधुषेण और सिंहसेन नाम के दो पुत्र, प्रियुंगु सुंदरी के शिला युध नामका धुरंधर पुत्र, प्रभावती के गंधार और पिंगल नाम के दो पुत्र, जरादेवी के जराकुमार और वाल्मीक नाम के दो पुत्र, अवंतीदेवी के सुसुख और दुर्भुख नाम के दो पुत्र, रोहिणी का बलराम (बलभद्र), सारण और विदुरथ नाम के तीन पुत्र, बालचंद्रा के वज्रदृष्ट्र और अमितप्रभ नाम के दो पुत्र, इसके अतिरिक्त राम (बलभद्र) के अनेक पुत्र कि जिसमें उल्मूक, निषध, प्रकृतिद्युति, चारुदत्त, ध्रुव, शत्रुदमन, पीठ, श्रीध्वज, नंदन, श्रीमान्, दशरथ,

देवानंद, आनंद, विपृथु, शांतनु, नरदेव, महाधनु और दृढ़धन्वा मुख्य थे। ये सब वसुदेव के साथ युद्ध में आए। साथ ही कृष्ण के भी अयुक्त पुत्र आये। जिनमें भानु, भामर, महायानु, अनुमानुक, बृहत्ध्वास, अग्निशिख, घृष्णु, संजय, अकंपन, महासेन, धीर, गंभीर, उदधि, गौतम, वसुधर्मा, प्रसेनजित्, सूर्य, चंद्रवर्मा, चारुकृष्ण, सुचारु, देवदत्त, भरत, शंख, प्रद्युम्न और शांब आदि महापराक्रमी पुत्र मुख्य थे। इसके अतिरिक्त अन्य भी हजारों कृष्ण के पुत्र युद्ध करने की इच्छा से वहाँ आये। उग्रसेन और उसके धर, गुणधर, शक्तिक, दुर्धर, चंद्र और सागर नाम के पुत्र युद्ध में आए। पितृपक्षीय काका ज्येष्ठ राजा के पुत्र सांत्वन और महासेन, विषमित्र के हृदिक, सिति तथा सत्यक नाम के पुत्र, हृदिक के कृतवर्मा और दृढ़धर्मा नामक पुत्र और सत्यक का युयुधान नामक पुत्र, साथ ही उनका गंध नामक पुत्र ये सभी आये। इसके अतिरिक्त अन्य दशार्ह के और राम कृष्ण के बहुत से पुत्र तथा कृष्ण की भुआ और और बहनों के बहुत से पराक्रमी पुत्र आये।

(गा. 154 से 193)

पश्चात् क्रोष्टुकि के बताए हुए शुभ दिवस पर दारुक सारथि वाले और गरुड़ के चिह्नवाले रथ के ऊपर आरुढ़ होकर सर्व यादवों से परिवृत्त और शुभ शकुनों ने जिनका विजय सूचित किया है, ऐसे कृष्ण ने ईशान दिशा की ओर प्रयाण किया। अपने नगर से पैंतालीस योजन दूर जाकर युद्ध में चतुर कृष्ण ने सेनपल्ली ग्राम के समीप पड़ाव डाला।

(गा. 194 से 196)

जरासंध के सैन्य से कृष्ण का सैन्य चार योजन दूर था। इनमें में अनेक उत्तम विद्याधर वहाँ आये और समुद्रविजय राजा को नमन करके बोले कि 'हे राजन्! हम आपके भाई वसुदेव के गुणों से वशीभूत हुए हैं। जो कि तुम्हारे कुल में सर्वजगत् की रक्षा करने में और क्षय करने में समर्थ ऐसे अरिष्टनेमि भगवान् हुए हैं, साथ ही जिसमें अद्वितीय पराक्रम वाले बलराम और कृष्ण हुए हैं और प्रद्युम्न, शांब आदि उच्च कोटि के पौत्र हुए हैं, उनको युद्ध में किसी अन्य की सहायता की जरूरत होती ही नहीं है, तथापि अवसर को जानकर भक्ति से हम यहाँ आए हैं। इसलिए हमको आज्ञा दीजिए हमें भी आपके सामंतवर्ग की गणना में लीजिए। समुद्र विजय ने कहा 'अति उत्तम'। तब वे बोले, 'यह

जरासंध अकेले कृष्ण के ही समक्ष तृण समान है, परन्तु वैताढ्यगिरि पर अनेक खेचर जरासंध के पक्ष के हैं, वे यहाँ आवे नहीं तब तक हमको उनके सामने, उनको वहीं पर ही रोकने के लिए जाने की आज्ञा दीजिए। हमारे अनुज बंधु वसुदेव को हमारे सेनापति रूप में स्थापित करके शांब, प्रद्युम्न सहित हमारे साथ भेजो तो सर्व विद्याधरों को जीता हुआ ही समझो। ऐसा सुनकर कृष्ण की संभति से समुद्रविजय ने अपने पौत्र प्रद्युम्न और शांब सहित वसुदेव को खेचरों के साथ भेजा। उस समय अरिष्टनेमि ने अपने जन्म स्नात्र के समय देवताओं द्वारा भुजा पर बांधी हुई अस्त्र वारिणी औषधि वसुदेव को दी।

(गा. 197 से 206)

यहाँ मगधपति जरासंध के पारू हंसक नाम का एक मंत्री अन्य मंत्रियों को साथ लेकर आया था, उसने विचार करके जरासंध को कहा 'हे राजन्! पूर्व में कंस ने विचार करे बिना काम किया था, इससे उसे उसका बुरा फल मिला था, क्योंकि मंत्र शक्ति के बिना उत्साहशक्ति और प्रभुशक्ति के परिणाम अच्छे नहीं आते शत्रु अपने से छोटा हो तो भी उसे अपने से अधिक ही मानना, ऐसी नीति है तो यह महाबलवान् कृष्ण तो आपसे अधिक ही है, यह सामने दिख रहा है। फिर रोहिणी के स्वयंवर में कृष्ण के पिता दसवें दशार्ह वसुदेव को सर्व राजाओं ने निस्तेज करने वाले के रूप में तुमने स्वयं ने भी देखा है। उस समय उन वसुदेव के बल के समक्ष कोई राजा भी समर्थ हुआ नहीं था। उनके ज्येष्ठ बंधु समुद्रविजय ने तुम्हारे सैन्य के सैनिकों की रक्षा की थी। फिर द्यूतक्रीड़ा में कोटि द्रव्य जीत लेने से और तुम्हारी पुत्री को जीवित करने में वसुदेव को पहचान कर तुमने सेवकों को मारने भेजा था। परन्तु अपने प्रभाव से यह वसुदेव मरण को प्राप्त नहीं हुआ। ऐसे बलवान् वसुदेव से भी ये बलराम और कृष्ण हुए हैं और ये इतनी वृद्धि को प्राप्त हुए हैं। साथ ही जिनके लिए कुबेर ने सुंदर द्वारकापुरी रची है। ये दोनों रथी वीर हैं कि जिनकी शरण में दुःख के वक्त में महारथी युधिष्ठिर आदि पांडव भी आए हैं। उसके पुत्र प्रद्युम्न और शांब दूसरे रामकृष्ण जैसे हैं। इधर भीम और अर्जुन भी भुजा के बल में यमराज से भी भयंकर हैं, अधिक क्या कहें ? उनमें जो ये एक नेमिकुमार हैं, वे अपने भुजदंड के द्वारा पुथ्वी को छत्र रूप करने में समर्थ है। आपके सैन्य में शिशुपाल और रूक्मि अग्रणी हैं। उन्होंने भी रूक्मिणी के हरण में हुए रण में कृष्ण का बल देखा ही है। कौरवपति दुर्योधन और गंधारपति शकुनि तो श्वान

की तरह छलरूप बलवाले हैं, उनकी तो वीरों में गणना ही नहीं है। हे स्वामिन्! अंगदेव का राजा कर्ण समुद्र में – मुट्ठि की तरह उनके कोटि संख्या प्रमाण में महारथी वाले सैन्य में है, ऐसा मैं मानता हूँ। शत्रु के सैन्य में नेमि, कृष्ण और राम ये तीन अतिरथी है और तुम्हारे सैन्य में तुम एक ही हो। इससे दोनों के सैन्य में बहुत अंतर है। अच्युत आदि इंद्र जिनको भक्ति से नमस्कार करते हैं, उस नेमिनाथ के साथ युद्ध करने का कौन साहस कर सकता है? फिर कृष्ण पक्ष के देवताओं ने छल करके तुम्हारे पुत्र काल को मार डाला। इससे तुम भलीभांति जान लेना कि अभी दैव तुमसे पराङ्मुख है। बलवान् यादव भी न्याय के योग्य अवसर के अनुसार मथुरापुरी को छोड़कर द्वारिका नगरी में चले गये थे। परंतु तुमने तो जिस प्रकार बिल में रहे हुए सर्प को यष्टि से ताड़न करके जगावें वैसा किया है। इससे ही वह कृष्ण तुम्हारे सामने आया है। स्वयमेव आया नहीं है। इतना सबकुछ हो जाने पर भी अभी भी हे राजन्! उसके साथ युद्ध करना उपयुक्त नहीं है। यदि तुम युद्ध नहीं करोगे तो स्वयं ही वापिस चले जायेंगे।

(गा. 207 से 225)

इस गोपाल के सैन्य को तो मैं क्षणभर में भस्म कर दूँगा। इसलिए रण में से निवृत्त करने वाले तेरे इस मनोरथ को धिक्कार है। इस प्रकार उनके वचन सुनकर डिंभक नाम का एक उनका मंत्री उनके भाव के अनुसार वचन बोला कि 'हे राजेन्द्र! अब तो यह रणसंग्रहा का समय आ गया है। तो उसका आप त्याग करना नहीं। हे प्रभो! संग्राम में सन्मुख रहते हुए यशस्वी मृत्यु हो तो भी उत्तम है। परंतु रण में से पराङ्मुख होकर जीना ठीक नहीं है। इसलिए अपने सैन्य में चक्ररत्न की तरह अभेदा चक्रव्यूह रचकर अपने शत्रु का सैन्य का हनन कर देंगे।' इस प्रकार उसके वचन सुनकर हर्षिक होकर जरासंध ने उसके शाबासी दी और चक्रव्यूह रचने के लिए अपने पराक्रमी सेनापतियों को आज्ञा दी। इससे अर्धचक्री जरासंध के आदेश से हंसक, डिंभक आदि मंत्रिगण और दूसरे सेनापतियों ने चक्रव्यूह की रचना की।

(गा. 226 से 233)

उस हजार आरे वाले चक्रव्यूह संबंधी चक्र में प्रत्येक आरे में एक–एक बड़े राजा रहे, उन प्रत्येक राजा के साथ सौ हाथी, दो हजार रथ, पाँच हजार

अश्व और सोलह हजार पदाति जितने सैन्य की व्यवस्था की। उसकी परिधि में सवा छः हजार राजा रहे तथा मध्य में पांच हजार राजा और अपने पुत्रों के साथ जरासंध रहा। उसके पृष्ठभाग में गंधार और सेंधव की सेना रही। दक्षिण में घृतराष्ट्र के सौ पुत्र रहे, बाजु की ओर मध्य देश के राजा रहे और आगे अन्य अगणित राजा रहे, आगे के भाग में शकट व्यूह रचकर उसकी संधि में पचास–पचास राजा स्थापित किये। इसमें अंदर एक गुल्म में से दूसरे गुल्म में जा सके ऐसी गुल्मरचना में अनेक राजा सैन्य सहित रहे। इस चक्रव्यूह के बाहर विचित्र प्रकार के व्यूह रचकर अनेक राजा खड़े रहे। पश्चात् राजा जरासंध ने सत्य प्रतिज्ञा वाले, महापराक्रमी, विविध संग्राम में विख्यात हुए और रणकुशल कोशल देश के राजा हिरण्यनाम का उस चक्रव्यूह के सेनापति पद पर अभिषेक किया। उस समय सूर्य अस्त हो गया।

(गा. 234 से 245)

उस रात्रि में यादवों ने भी चक्रव्यूह के समक्ष टिक सके ऐसा और शत्रुराजाओं से दुर्भेद्य गरुड़व्यूह रचा। उस व्यूह के मुख पर अर्धकोटि महावीर कुमार खड़े रहे और उसके शिरो भाग में राम और कृष्ण खड़े रहे। अक्रूर, कुभद्र, पद्म, सारण, विजयी, जय, जराकुमार, सुमुख, दृढ़मुष्टि, विदूरथ, अनाधृष्टि और दुर्मुख इत्यादि वसुदेव के पुत्र एक लाख रथ लेकर कृष्ण के पीछे की ओर रहे। उनके पीछे उग्रसेन एक लाख रथ लेकर रहे। उनके पृष्ठ भाग में उनके चार पुत्र उनके रक्षक रूप से खड़े थे। और वे पुत्र सहित उग्रसेन की रक्षा के लिए उनके पीछे धर, सारण, चंद्र, दुर्धर और सत्यक नाम के राजा खड़े रहे। राजा समुद्रविजय के महापराक्रमी भाईयों और उनके पुत्रों के साथ दक्षिण पक्ष का आश्रय करके रहे। उनके पीछे महानेमि, सत्यनेमि, दृढ़नेमि, सुनेमि, अरिष्टनेमि, विजयसेन, मेध, महीजय, जेतः सेन, जयसुन, जय और महाद्युति नामक समुद्रविजय के कुमार रहे। उसी प्रकार पच्चीस लाख रथों सहित अन्य भी अनेक राजा समुद्रविजय के पार्श्वभाग में उनके पुत्र की तरह खड़े हुए। बलराम के पुत्र और युधिष्ठिर आदि अमित पराक्रमी पांडव वामपक्ष का आश्रय करके रहे और उन्मूल, निषध, शत्रुदमन, प्रकृतिद्युति, सत्यकि, श्रीध्वज, देवानंद, आनंद, शांतनु, शतधन्वा, दशरथ ध्रुव, वृथु, विपृथु, महाधनु, दृढ़धन्वा, अतिवीर्य और देवनंद ये पच्चीस लाख रथों से परिवृत धृष्टराष्ट्र के पुत्रों का वध करने में

उद्यत होकर पांडवों के पीछे स्थित रहे। उनके पीछे चंद्रयथ, सिंहल, बर्बर, कांबोज केरल और द्रविड़ राजा रहे। उनके भी पीछे साठ हजार रथों को लेकर धैर्य और बल के गिरिरूप महासेन का पिता अकेला खड़ा रहा। उनके रक्षण के लिए भानु, भामर, भीरू, आसित, संजय भानु, धृष्णु, कंपित, गौतम, शत्रुंजय, महासेन, गंभीर, बृहद्ध्वज, वसुवर्म, उदय, कृतवर्मा, प्रसेनजित्, दृढ़वर्या, विक्रांत और चंद्रवर्मा ये सर्वप्रमाण करते हुए रक्षण करने को खड़े रहे। इस प्रकार गुरुड़ध्वजारूढ़ रथी कृष्ण ने बराबर गुरुड़व्यूह की रचना की।

(गा. 243 से 260)

इस अवसर पर शक्रेन्द्र ने श्री नेमिनाथ को भ्रातृस्नेह से युद्ध के इच्छुक जानकर विजयी शस्त्रों सहित अपना रथ मातलि सारथि के साथ भेजा। मानो सूर्य का उदय हुआ हो वैसा प्रकाशित अनेक रत्नों द्वारा निर्मित वह रथ लेकर मातलि वहाँ आये। अरिष्टनेमि ने उसे अलंकृत किया। समुद्रविजय ने कृष्ण के अनुजबंधु अनाधृष्टि का सेनापति पद पर पट्टबंध करके अभिषेक किया। उस समय कृष्ण के सैन्य में सर्वत्र जयनाद हुआ, इससे जरासंध का सैन्य अत्यन्त क्षुब्ध हो गया।

(गा. 261 से 264)

उस समय मानो परस्पर एक दूसरे के किनारे बांधे हो, वे छूटे बिना दोनों व्यूह के अग्रिम सैनिकों ने महाउत्कट युद्ध आरंभ किया। इससे प्रलयकाल के मेघ से उद्भ्रांत हुए पूर्व और पश्चिम सागर में तरंगों की तरह दोनों व्यूह में विचित्र प्रकार के अस्त्र आ–आकर गिरने लगे। दोनों व्यूह बहुत समय तो प्रहेलिका की भांति परस्पर दुर्भेद्य हो गये। जरासंध के अग्रसैनिकों ने स्वामिभक्ति से दृढ़ हुए गुरुड़व्यूह के अग्रसैनिकों को भग्न कर दिया। उस समय कृष्ण जो कि गुरुड़व्यूह की आत्मा थे, उन्होंने हाथ रूप पताका को ऊँचा करके अपने सैनिको को स्थिर कर दिया। इस अवसर पर दक्षिण और वाम भाग में रहे हुए गरुड़ के पंख रूप महानेमि और अर्जुन तथा उस व्यूह की चोंच रूप अग्रभाग में स्थिति अनाधृष्टि ये तीनों भी कुपित हुए। महानेमि ने सिंहनाद नामका शंख, अनाधृष्टि ने बलाहक नामका शंख और अर्जुन ने देवदत्त नामका शंख फूंका। उन शंखों का नाद सुनकर यादवों ने कोटि वाजित्रों का नाद किया। इससे उन तीन शंखों का नाद, अन्य अनेक शंख के नाद से शंखराज के समान अनुसरण

किया। प्रतीत हुआ इन तीन शंखों और अनेक वाजित्रों के नाद से समुद्र में रहे गए मगरमच्छों की तरह शत्रुसैन्य में सुभट अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त हुए। नेमि, अनाधृष्टि और अर्जुन ये तीनों महापराक्रमी सेनापति अपार बाणों की वृष्टि करते हुए कल्पांतकाल के सागर की तरह आगे बढ़े। चक्रव्यूह के आगे मुख्यसंधि की ओर चक्रव्यूह रचकर रहे हुए शत्रुपक्ष के राजा उनका भुजवीर्य सहन न करने से अति उपद्रव के कारण भाग गये। तत्पश्चात् उन तीनों वीरों ने मिलकर वन के हाथियों की तरह गिरिनदी के तट को तोड़े वैसे चक्रव्यूह को तीन स्थानों से तोड़ दिया। पश्चात् सरिता के प्रवाह की तरह स्वयमेव मार्ग बनाकर वे चक्रव्यूह में घुस गये। उनके पीछे–पीछे अन्य सैनिकों ने भी प्रवेश किया। तत्काल ही दुर्योधन, रौधिर और रूक्मि ये तीनों वीर अपने सैनिको को स्वस्थ करते हुए युद्ध की इच्छा से उद्यत हुए। महारथियों से घिरे हुए दुर्योधन ने अर्जुन को, रौधिरि ने अनाधृष्टि को और रूक्मि ने महानेमि को रोका। तब उन छहों वीरों का और अन्य उनके पक्ष के हजारों महारथियों का परस्पर द्वंद्व युद्ध प्रारंभ हुआ। अन्य के वीरत्व को सहन नहीं करने वाले महानेमि ने अहंकारी वाचाल और दुर्भद रूक्मि को अस्त्र और रथ से रहित कर दिया। जब रूक्मि वध्यकोटि में आ गया, तब उसकी रक्षा करने के लिए शत्रुं तप आदि सात राजा उनके बीच में आ गए। एक साथ बाणवृष्टि करते हुए उन सातों राजाओं के धनुषों को शिवादेवी के कुमार ने मृणाल की तरह छेद दिया। बहुत समय तक युद्ध करने के पश्चात् शत्रुं तप राजा ने महानेमि पर एक शक्ति छोड़ी। उस जाज्वल्यमान शक्ति को देखकर सर्व यादव आतंकित हो गए। उस शक्ति के मुख में से विविध आयुधों को धारण करने वाले और क्रूर कर्म करने वाले हजारों किंकर उत्पन्न होकर महानेमि के सामने आए। उस समय मातलि ने अरिष्टनेमि को कहा कि 'हे स्वामिन्! धरणेन्द्र के पास से रावण ने जिस प्रकार शक्ति प्राप्त की थी, उसी प्रकार इस राजा ने तप करके बलीन्द्र के पास से यह शक्ति प्राप्त की है, यह शक्ति मात्र वज्र से ही भेदी जा सकती है। ऐसा कहकर नेमिकुमार की आज्ञा से उस सारथि ने महानेमि के बाण में वज्र को संक्रमित किया, फलस्वरूप महानेमि ने उस वज्रवाले बाण को छोड़कर उस शक्ति को पृथ्वी पर गिरा दिया और उस राजा को रथ और अस्त्र से रहित कर दिया। शेष छः राजाओं के धनुषों को भी तोड़ दिया। इतने में अन्य रथ में आरूढ़ होकर रूक्मि पुनः नजदीक आया। तब मानवंतों में अग्रणी शत्रुं तप आदि सात

और रूक्मि सहित आठों राजा एकत्रित होकर महानेमि के साथ युद्ध करने लगे। रूक्मि जो जो धनुष लेता, उन सभी को महानेमि छेदने लग गये। इस प्रकार उसके बीस धनुषों को तोड़ डाला। तत्पश्चात् उसने महानेमि पर कोबेरी नाम की गदा फेंकी, उसे महानेमि ने आग्नेयास्त्र से भस्म कर दिया। युद्ध में अन्य की अपेक्षा सहन नहीं करने वाले रूक्मि ने महानेमि पर लाखों बाणों की वर्षा करने वाला वैरोचन नामका बाण फेंका। महानेमि ने माहेन्द्र बाण से उसका निवारण किया और एक अन्य बाण से रूक्मि के ललाट में ताड़न किया। उस प्रहार से जख्मी हुए रूक्मि को वेणुदारी ले गया, तो वे सातों राजा भी महानेमि से उपद्रवित होकर शीघ्र ही वहाँ से खिसक गए। समुद्रविजय ने द्रुमराजा को स्तंभित किया भद्रक को अक्षोभ्य पराक्रम वाले अक्षोभ्य ने वसुसेन को जीत लिया। सागर ने पुरिमित्र नामके शत्रुराजा को युद्ध में मार डाला। हिमवान् जैसे स्थिर हिमवान् को धृष्टद्युम्न ने भग्न कर दिया। बल के द्वारा धरणेन्द्र जैसे धरण ने अन्वष्टक राजा को अभिचंद्र ने उद्धत शतधन्वा राजा को मार डाला। पूरण ने द्रुपद को, सुनेमि ने कुंतिभोज को, सत्यनेमि ने महापद्म को और दृढ़नेमि ने श्रीदेव को हरा दिया। इस प्रकार यादववीरों से भग्न हुए शत्रुराजा सेनापति के पद पर स्थापित हिरण्यनाम के शरण में गए। इधर वीर, भीम और अर्जुन ने साथ ही बलराम के पुत्रों ने मेघ जैसे बगुलों को भगा देते हैं, वैसे ही घृतराष्ट्र के पुत्रों को भगा दिया। अर्जुन द्वारा प्रक्षेपित बाणों से दिशाओं में अंधकार व्याप्त हो गया और उसके गांडीव धनुष के घोर निर्घोष से समग्र विश्व बधिर सा हो गया। धनुष को आकर्षण करके वेग से विपुल शर संधान करते हुए उस वीर का एक दूसरे बाण का धनुष पर संधान तथा प्रक्षेपण का अंतर आकाश में स्थित देवता भी न तो जान सकते और न ही देख सकते थे।

(गा. 265 से 303)

तत्पश्चात् दुर्योधन, काशी, त्रिगर्त, सबल, कपोत, रोमराज, चित्रसेन, जयद्रथ, सौवीर, जयसेन, शूरसेन और सोमक ये सर्व मिलकर क्षत्रिय व्रत का त्याग करके अर्जुन के साथ युद्ध करने लगे। शकुनि के साथ सहदेव, दुःशासन के साथ भीम, उलूक के साथ नकुल, शल्य के साथ युधिष्ठिर, दुर्भूषण आदि छः राजाओं के साथ सात्यकी सहित द्रौपदी के पाँच पुत्र और शेष राजाओं के साथ बलराम के पुत्र परस्पर युद्ध करने लगे। एक साथ बाणों को वर्षाते दुर्योधन आदि के बाणों को तो अकेले अर्जुन ने ही कमलनाल की जैसे लीलामात्र में छेद

डाला। अर्जुन ने दुर्योधन के सारथि को तथा घोड़े को मार डाला, रथ को तोड़ दिया और उसका कवच पृथ्वी पर गिरा डाला। जब शरीर मात्र शेष रहा तब दुर्योधन अत्यन्त खिन्न हो गया। पैदल जैसे स्थिति हो जाने पर पक्षी की तरह वेग से दौड़कर शकुनि के रथ पर चढ़ गया। इधर अर्जुन ने जैसे मेघ ओलो की वृष्टि से हाथियों पर उपद्रव करता है वैसे बाणों की वृष्टि से काशी प्रमुख दसों राजाओं को आक्रांत किया। शल्य ने एक बाण से युधिष्ठिर के रथ की ध्वजा तोड़ डाली। तब युधिष्ठिर ने उसका बाण सहित धनुष ही तोड़ डाला। तो शल्य ने दूसरा धनुष लेकर वर्षाऋतु जैसे मेघ से सूर्य को ढंक देती है, वैसे बाणों से युधिष्ठिर को ढंक दिया। युधिष्ठिर ने अकाल में जगत् को प्रक्षोम करने वाली विद्युत् जैसी एक दुःसह शक्ति शल्य के ऊपर डाली। शत्रु ने उसको छेदने के लिए बहुत से बाण मारे तो भी वह शक्ति अस्खलित रूप से आकर जैसे वज्र बिरता है, वैसे शल्य के ऊपर गिरी। जिससे तत्काल ही शल्य का वध हो गया। उसके पश्चात् बहुत से राजा वहाँ से भाग छूटे। भीम ने भी क्रोधिक होकर दुर्योधन के भाई दुःशासन को द्यूत में कपट से विजय का स्मरण करा कर सहन में मार डाला। गांधार को मायावी युद्धों से और अस्त्रों के युद्धों से अतियुद्ध करे हुए सहदेव ने क्रोध से उस पर जीवन का अंत करे वैसा बाण मारा। वह बाण शकुनि पर नहीं गिरा। इतने में तो दुर्योधन ने क्षत्रियों का आचार छोड़कर अधर से ही एक तीक्ष्ण बाण छोड़कर उसे काट डाला। यह देख सहदेव बोला, 'अरे दुर्योधन द्यूतक्रीड़ा की तरह रण में भी तू छल कर रहा है।' अथवा अशक्त पुरुषों का छल ही बल होता है। परंतु अब तुम दोनों एक साथ आए हो, यह ठीक हुआ। मैं तुम दोनों को एक साथ ही मार डालूँगा। तुम दोनों को वियोग ही नहीं होगा। इस प्रकार कहकर सहदेव ने तोती से बन की तरह तीक्ष्ण बाणों से दुर्योधन को ढंक दिया। दुर्योधन ने भी बाणों से सहदेव को पीड़ित किया और रणभूमि में महावृक्ष रूपक मूलभूत उसके धनुष को तोड़ डाला। उसने सहदेव को मारने के लिए यमराज के जैसा एक मंत्राभिषिक्त अमोघ बाण फेंका, यह देखकर अर्जुन ने गरुड़ास्त्र डालकर दुर्योधन को जीतने की आशा के साथ उसका बीच में ही निवारण कर दिया। तब शकुनि ने धनुष चढ़ाकर पर्वत को मेघ की तरह बाण वृष्टि से सहदेव को ढंक दिया। तब सहदेव ने भी शकुनि के रथ, घोड़े और सारथि को मार कर उसका मस्तक भी वृक्ष के फल की भांति काट डाला।

(गा. 304 से 326)

किरणों से सूर्य की तरह नकुल ने अस्त्रों से उलूक राजा को रथ रहित करके बहुत हैरान किया। तब वह दुर्भषण के रथ में चला गया। द्रोपदी के सात्यकि युक्त पाँचों पुत्रों ने दुर्भषण आदि छहों वीरों को विद्रवित किया तब वे दुर्योधन के शरण में गये दुर्योधन, काशी आदि राजाओं के साथ मिलकर अर्जुन के समक्ष युद्ध करने आया। देवताओं से इन्द्र की तरह राम के पुत्रों से घिरा हुआ अर्जुन ने विचित्र बाणों से शत्रु की सेना का बहुत नाश किया। तब अन्य शत्रुओं को अंध करके मानो दुर्योधन का दूसरा प्राण हो ऐसे जयद्रथ को अर्जुन ने बाण से मार डाला। यह देखकर अधर को डंसता कर्ण अर्जुन को मारने के लिए कान तक कालपृष्ट धनुष खींचकर पीरपृच्छा करता हुआ दौड़ता आया। देवताओं द्वारा कुतूहल से देखे गए कर्ण और अर्जुन ने पासों की तरह बाणों से बहुत समय तक क्रीड़ा की। अर्जुन ने अनेक बार रथ को तोड़कर अस्त्रहीन हो जाने पर मात्र खड्ग को धारण करके रहे हुए वीरकुंजर कर्ण को अवसर देखकर मार डाला। उसी क्षण भीम ने सिंहनाद किया, अर्जुन ने शंख फूँका और जीत प्राप्त करने वाले सर्व पांडवों के सैनिकों ने विजय की गर्जना की। यह देख अभिमानी दुर्योधन क्रोधांध होकर गजेन्द्र की सेना लेकर भीमसेन को मारने दौड़ा। भीम ने रथ के साथ रथ, अश्व के साथ अश्व, हाथी के साथ हाथी भिड़ा कर दुर्योधन की सेना को निःशेष कर दिया। इस प्रकार उनके साथ युद्ध करते हुए जैसे मोदक दुधित भोजन करते हुए ब्राह्मणों की तरह भीमसेन की युद्धक्षुधा पूर्ण नहीं हुई। इनमें में तो अपने वीरों को आश्वासन देता हुआ वीर दुर्योधन हाथी के सामने जैसे हाथी आता है वैसे भीमसेन के सामने आया। मेघ की तरह गर्जना करते हुए और केशरी की तरह क्रोध करते हुए वे दोनों वीर विविध आयुधों से बहुत समय तक युद्ध करते रहे। अंत में भीम ने द्यूतक्रीड़ा का वैर स्मरण करके बजनदार गदा उठाकर उसके प्रहार से घोड़े, रथ और सारथि सहित दुर्योधन को चूर्ण कर दिया।

(गा. 327 से 341)

दुर्योधन मारा गया तो उसके अनाथ सैनिक हिरण्यनाभ सेनापति की शरण में चले गये। इधर वाम और दक्षिण दोनों ओर रहे सर्व यादवों और पांडवों ने सेनापति अनाधृष्टि को घेर लिया। तब वाहण के अग्रभाग में उसका निर्यामक आता है, वैसे हिरण्यनाभ क्रोध से यादवों पर आक्रमण करता हुआ सेना के आगे आ गया। उसे देख कर अमिचंद्र बोला, 'अरे विट! तू क्या इतना

बकता है ? क्षत्रीय वाणी में शूर नहीं होते, परन्तु पराक्रम में शूर होते हैं।' यह सुनकर हिरण्यनाम अभिचंद्र पर तीक्ष्ण बाण फेकनें लगा। उन सबको मेघधारा को पवन के जैसे अर्जुन के बीच में ही काट डाला। इसलिए उसे अर्जुन पर अनिवार्य रूप से बाण–श्रेणी फेंकनी चालू की। इतने में भीम ने बीच में आकर गदाप्रहार से उसे रथ से नीचे गिरा दिया। इससे हिरण्यनाभ शरमा गया। पुनः रथ पर चढ़कर क्रोध से होंठ काटता हुआ वह सर्व यादव सैन्य पर तीक्ष्ण बाण वर्षा करने लगा। परन्तु उस बड़े सैन्य में से कोई भी घुड़सवार, हस्तस्तवार, रथी या पदाति उससे मारा नहीं गया। तब समुद्रविजय का पुत्र जयसेन क्रोध करके धनुष खींच कर हिरण्यनाभ के साथ युद्ध करने उसके सामने आया। इसलिए अरे भाणजे! तू यमराज के मुख में कैसे आया ? ऐसा कहकर हिरण्यनाभ ने उसके सारथि को मार डाला। यह देख क्रोधित होकर जयसेन ने उसका कवच, धनुष और ध्वजा तोड़ डाली। उसके सारथि को भी यमराज के घर पहुँचा दिया। हिरण्यनाभ ने भी क्रोधित होकर मर्म को बींधे ऐसे दस तीक्ष्ण बाणों के द्वारा जयसेन को मार डाला। यह देख उसका भाई महीजय रथ में से उतर कर ढाल तलवार लेकर हिरण्यनाम की ओर दौड़ा उसे आता देखकर हिरण्यनाभ ने दूर से ही क्षुरप्र बाण द्वारा उसका मस्तक उड़ा दिया। तब अपने दो भाईयों का वध हो जाने से क्रोधित होकर अनाधृष्टि उसके साथ युद्ध करने लिए आया।

(गा. 342 से 355)

जरासंध के पक्ष में जो जो राजा थे वे सर्व भीम, अर्जुन और यादवों के साथ अलग अलग द्वंद्वयुद्ध करने लगे। ज्योतिषियों के स्वामी जैसे प्राण्ज्योतिषपुर का राजा भगदत्त हाथी पर बैठकर महानेमि के सामने युद्ध करने दौड़ा और बोला कि 'अरे महानेमि! मैं तेरे भाई का साला रूक्मि या अश्मक नहीं हूँ, परंतु मैं तो नारकी का बैरी कृतांत जैसा हूँ, इसलिए तूं यहाँ से खिसक जा।' इतना कहकर अपने हाथी को वेग से चलाया और महानेमि के रथ को मंडलाकार घुमाया। महानेमि ने हाथी के पैरों के तल में बाण मारे जिससे उस हाथी का पैर पीड़ित होने से भगदत्त सहित पृथ्वी पर गिर पड़ा। तब अरे! तू रूक्मि नहीं है। ऐसा कहकर हंसकर प्रकृति से दयालु ऐसे महानेमि ने धनुष्य कोटि से उसका स्पर्श मात्र करके छोड़ दिया।

इधर एक ओर तो भूरिश्रवा और सत्यकि जरासंध और वासुदेव की जयलक्ष्मी की इच्छा से युद्ध कर रहे थे। वे दाँत लड़े वैसे लड़ते ऐरावत की तरह दिव्य और लोहमय अस्त्रों से युद्ध करते हुए त्रैलोक्य भी को भयंकर हो गये। बहुत समय तक युद्ध करते हुए क्षीण जलवाले मेघ की तरह वे दोनों ही क्षीणास्त्र हो गये। तो दोनों ही मुष्टामुष्टि आदि से कोई युद्ध करने लगे। दृढ़ रीति से गिरने और उछलने से धरती को कंपित करने लगे और भुजास्फोट के शब्दों से दिशाओं को भी फोड़ने लगे। अंत में सात्यकि ने भूरिश्रवा को घोड़े की तरह बांधकर उसका गला मोड़कर जानु से दबाकर मार डाला।

(गा. 356 से 366)

इधर हिरण्यनाभ के धनुष को अनावृष्टि ने तोड़ डाला। तो उसने अनाधृष्टि पर बड़ी अर्गला का प्रहार किया। अनाधृष्टि ने उछलती अग्नि की चिनगारियों से दिशाओं में प्रकाश करती उस अर्गला को आते ही बाण से छेद डाला। तब हिरण्यनाभ अनाधृष्टि का नाश करने के लिए रथ में से उतर कर हाथ में ढाल और तलवार लेकर पैदल चलता हुआ उसके सामने दौड़ा। उस वक्त कृष्ण के अग्रज राम रथ में से उतर कर ढाल तलवार लेकर उनके सामने आये। और विचित्र प्रकार की वक्र गति से चलकर उसे बहुत समय तक घुमा घुमाकर थका दिया। फिर चालाक अनाधृष्टि ने छल से ब्रह्मसूत्र से काष्ठ की तरह खड्ग से हिरण्यनाभ के शरीर को काट डाला। हिरण्यनाभ मारा गया, तब उसके योद्धा जरासंध के शरण में गये। उस समय सूर्य भी पश्चिम सागर में मग्न हो गया। यादवों और पांडवों से पूजित अनाधृष्टि कृष्ण के पास आया। कृष्ण की आज्ञा से सर्व वीर अपनी अपनी छावनी में चले गये। इधर जरासंध ने विचार करके तुरंत ही सेनापति पद पर महाबलवान् शिशुपाल का अभिषेक किया।

(गा. 367 से 373)

प्रातः यादव कृष्ण की आज्ञा से गरूड़व्यूह की रचना करके पूर्ववत् समरभूमि में आ गये। जरासंध के पूछने पर हंसक मंत्री शत्रुओं के सैनिकों को अंगुली से बताकर नाम ले लेकर पहचान कराने लगा 'यह काले अश्ववाला रथ और ध्वजा में गजेन्द्र के चिह्नवाला अनाधृष्टि है, यह नीलवर्णी अश्व के रथ वाला पांडुपुत्र युधिष्ठिर है, यह श्वेत अश्व के रथवाला अर्जुन है, नीलकमल जैसा वर्णवाला अश्ववाला यह वृकोदर (भीमसेन) है, यह सुवर्णवर्णी अश्व

वाला और सिंह की ध्वजा वाला समुद्रविजय है, यह शुक्लवर्णी अश्व के रथ वाला और वृषभ के चिह्न से युक्त ध्वजा वाला अरिष्टनेमि है, यह चित कबरा वर्ण के अश्ववाला और कदली के चिह्नवाला अक्रूर है, यह तितिर वर्णी घोड़े वाला सात्यकी है, यह कुमुद वर्णी अश्ववाला महानेमिकुमार है, यह तोते की चोंच जैसे अश्ववाला उग्रसेन है, यह सुवर्णवर्णी अश्ववाला और मृगध्वज के चिह्न वाला जयकुमार है। यह केबोज देश के अश्ववाला स्तक्षणरोम का पुत्र सिंहल है, कपिल और रक्त अश्ववाला और ध्वजा में शिशुमार का चिह्नवाला यह मेरु है, यह कपोत जैसे वर्ण वाले अश्ववाला पुष्करध्वज सारण है, यह पंचपुंड्न घोड़े वाला और कुंभ की ध्वजा वाला विदुरथ है, सैन्य के मध्यभाग में रहा हुआ श्वेत अश्ववाला और गरुड़ के चिह्न युक्त ध्वजा वाला यह कृष्ण है जो कि बगुलियों से जैसे आकश में वर्षाकाल का मेघ शोभा देता है, वैसा शोभायमान है। उसके दक्षिण की ओर अरिष्टवर्णी घोड़ेवाला और ताल की ध्वजा वाला रोहिणी का पुत्र बलराम है जो जंगल कैलाश जैसा शोभित है। इसके अतिरिक्त ये अन्य बहुत से यादव विविध अश्व, रथ और ध्वजा वाले साथ ही महारथी है कि जिनका वर्णन करना असंभव है।'

(गा. 374 से 388)

इस प्रकार हंसक मंत्री के वचनों को सुनकर जरासंध ने क्रोध से धनुष का ताड़न किया और वेग से अपना रथ बलराम और कृष्ण के सामने चलाया। उस समय जरासंध का युवराज पुत्र यवन क्रोध करके वसुदेव के पुत्र अक्रूर आदि को मारने के लिए उसकी ओर दौड़ा आया। सिंहों के साथ अष्टापद की तरह उस महाबाहु यवन का उनके साथ संहारकारी युद्ध हुआ। बलराम के अनुज भाई सारण ने अद्वैत बल से वर्षा के मेघ की तरह विचित्र बाण वर्षा करके उसको रौंद डाला। जैसे कि मलयगिरि हो, वैसे मलयनाम के हाथी से उस यवन ने घोड़े सहित सारण के रथ को चूर्ण कर दिया। फिर जब वह हाथी टेड़ा होकर सारण पर दंतप्रहार करने आया उस समय सारण ने पवन से हिलाये हुए वृक्ष के फल की तरह यवन के मस्तक को खड्ग से छेद डाला। यह देखकर वर्षाऋतु में मयूरवृंद की तरह कृष्ण की सेना नाचने लगी। अपने पुत्र का बध देखकर जरासंध क्रोधित हुआ, तब मृगों को केसरी सिंह मार डालता है वैसे वह यादवों को मारने के लिए धनुष लेकर प्रवृत्त हुआ। आनंद, शत्रुदमन, नंदन, श्रीध्वज, ध्रुव, देवानंद, चारुदत्त, पीठ, हरिषेण और नरदेव ये बलराम

के दस पुत्र रण के मुखभाग पर रहे हुए थे, उनको यज्ञ में बकरे की तरह जरासंध ने मार डाला। उन कुमारों का वध देखकर कृष्ण की सेना पलायन कर गई। तब गायों के समूह के पीछे व्याघ्र की तरह जरासंध उस सेना के पीछे आया। उस समय उनके सेनापति शिशुपाल ने कृष्ण को हंसते हंसते कहा कि 'अरे कृष्ण! यह कोई गोकुल नहीं है, यह तो क्षत्रियों का रण है। कृष्ण ने कहा– राजन्! अभी तू चला जा, पीछे आना। अभी तो मैं रूक्मी के पुत्र के साथ युद्ध कर रहा हूँ। इसलिये मेरी मौसी चिरकाल तक रूदन करे ऐसी स्थिति में अभी तुझे मारकर नहीं लाना चाहता अतः तू अभी चला जा, मेरे समक्ष मत खड़ा रह मर्मबंधी बाण जैसे कृष्ण के इन वचनों से बंधे हुए शिशुपाल ने धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा कर तीक्ष्ण बाण छोड़े, फलस्वरूप कृष्ण ने बाण द्वारा शिशुपाल का धनुष, कवच और रथ को तोड़ डाला। तब उछलती अग्नि की तरह वह खड्ग खींच कर कृष्ण के सामने दौड़ा। जैसे तैसे बड़बड़ाते उस दुर्भति शिशुपाल का खड्ग, मुकुट और मस्तक भी हरि ने अनुक्रम से काट डाला।

(गा. 389 से 404)

शिशुपाल के वध से जरासंध अतिक्रोध में आकर यमराज जैसा भयंकर होकर अनेक पुत्रों और राजाओं को साथ लेकर रणभूमि में दौड़ा आया और बोला कि 'अरे यादवों! वृथा किसलिए भरते हो? मात्र उस गोपाल राम और कृष्ण को सौंप दो। इसमें तुम्हारे कुछ हानि नहीं है। ऐसे वचन सुनकर यादव लोग डंडे से ताड़ित सर्प की तरह बहुत गुस्सा हुए और विविध आयुधों को बरसाते जरासंध सामने दौड़े आए। जरासंध एक होने पर भी अनेक जैसा होकर घोर बाणों से मृगों को ज्याघ्र ही तरह यादवों को बींधने लगे। जब जरासंध युद्ध करने लगा तब कोई पैदल, रथी, सवार या गजारोहक उसके सामने नहीं टिक सका। पवन से उड़ाए हुए रुई की तरह यादवों का सर्व सैन्य जरासंध के बाणों से दुःखी होकर दसों दिशाओं में भाग गया। क्षणभर में तो जरासंध ने यादवों के सैन्य रूप महासरोवर को महिषवत् कर दिया और यादव उसके आसपास दूर होने पर भी दादुर मेंढ़क जैसे हो गये।

(गा. 405 से 411)

जरासंध के अट्ठाईस ही पुत्र दृष्टिविष सर्प की तरह शस्त्ररूप विषवाले बलराम को घेरने लगे और उसके उनहत्तर पुत्र कृष्ण को मारने की इच्छा से

दानवों की तरह उनको रूंधकर उनके साथ युद्ध करने लगे। उनके साथ बलराम कृष्ण का ऐसा घोर युद्ध जमा कि जिसमें परस्पर अस्त्रों के छेदन से आकाश से बेशुमार चिनगारियों की वृष्टि होने लगी। अनुक्रम से राम ने जरासंध के अट्ठाईस पुत्रों को हल से खींचकर मूसल द्वारा चावल की तरह पीस डाला अर्थात् वे मरण को प्राप्त हुए। तब यह गोप उपेक्षा करने पर भी अद्यापि मेरे पुत्रों का हनन किये जा रहा है' ऐसा बोलकर जरासंध ने वज्र जैसी गदा का राम के ऊपर प्रहार किया, उस गदा के प्रहार से राम ने रूधिर का वमन किया, जिससे यादवों के सम्पूर्ण सैन्य में हाहाकार हो गया। पुनः जब राम पर प्रहार करने जरासंध आ रहा था, तब श्वेतवाहन वाला कनिष्ठ कुंतीपुत्र अर्जुन बीच में आ गया। राम की अवस्था को देखकर कृष्ण को क्रोध चढ़ा। इससे उसने तत्काल होंठ कांटते हुए भी अपने आगे रहे हुए जरासंध के उनहत्तर पुत्रों को मार डाला। तब यह राम तो मेरी गदा के प्रहार से मर ही जाएगा और इस अर्जुन को मारने से क्या होगा? इससे तो कृष्ण को ही मारूं ऐसा विचार करके जरासंध कृष्ण की ओर दौड़ पड़ा। उस समय अब तो कृष्ण मरे ऐसा सर्वत्र ध्वनि प्रसर गई। यह सुनकर मातलि सारथि ने अरिष्टनेमि के प्रति कहा, हे स्वामिन्! अष्टापद के समक्ष हाथी के बच्चे के जैसे त्रिभुवनपति ऐसे आपके पास इस जरासंध की क्या हस्ति है? परंतु आप यदि जरासंध की उपेक्षा करेंगे तो वह इस पृथ्वी को यादव विहीन ही कर देगा। इसलिए हे जगन्नाथ! आप की लेशमात्र लीला तो बताओ। यद्यपि आप जन्म से ही सावद्य कर्म से विमुख हो, तथापि शत्रुओं से आक्रामित आपके कुल की इस समय आपको उपेक्षा करना योग्य नहीं है। इस प्रकार मातलि सारथि के कहने से श्री नेमिनाथ ने कोप रहित हाथ में पौरंदर नाम का शंख लेकर मेघ गर्जना का भी उल्लंघन करे, वैसा नाद किया। भूमि और अंतरिक्ष को भी भर दे ऐसे उसकी तीव्र ध्वनि से शत्रु लोग क्षोम को प्राप्त हुए और यादवों का सैन्य स्वस्थ होकर युद्ध करने में समर्थ हो गया। तब नेमिनाथ की आज्ञा से मातली सारथि कुलाल के चक्र के समान सागर में आवर्त जैसे अपना रथ रणभूमि में घुमाने लगे। उस समय प्रभु नवीन मेघ की तरह इंद्रधनुष का आकर्षण करके शत्रुओं का त्रास करते हुए बाणवृष्टि करने लगे। उस बाणवृष्टि द्वारा किसी की ध्वजा तोड़ी, किसी के धनुष काटे, किसी का रथ भग्न किया, तो किसी के मुकुट तोड़ दिये। उस समय सामने प्रहार करने की बात तो दूर रही परंतु कल्पांतकाल के सूर्य जैसे लगते प्रभु के

समक्ष देखने में भी शत्रु के सुभटों में से कोई भी समर्थ नहीं हुआ। प्रभु ने अकेले ही एक लाख मुकुटधारी राजाओं को भग्न कर दिया, क्योंकि उछलते महासमुद्र के आगे पर्वत क्या है ? इस प्रकार पराक्रम बताने पर भी प्रतिवासुदेव वासुदेव से ही वध्य है। ऐसी मर्यादा होने से इन त्रैलोक्यमल्ल प्रभु ने जरासंध का हनन नहीं किया। श्री नेमिप्रभु रथ को घुमाते हुए शत्रुओं के सैनिकों को रोककर खड़े रहे। इससे उतने समय में यादव वीर उत्साहित होकर पुनः युद्ध करने लगे। इस समय सिंह जैसे हिरणों को मारे वैसे पांडवों के पूर्व वैर से अवशेष रहे कौरवों को मारने लगे। इतने में तो बलदेव ने भी स्वस्थ होकर हल ऊँचा करके युद्ध करके अनेक शत्रुओं को मार डाला।

(गा. 412 से 435)

इधर जरासंध ने कृष्ण को कहा 'अरे कपटी! तू इतनी देर शृंगाल की तरह माया से ही जीता है। इस माया से ही कंस को मारा और माया से ही कालकुमार को मारा है। तू अस्त्र विद्या तो सीखा ही नहीं है, इससे संग्राम करता नहीं है। परंतु अरे कपटी! आज मैं तेरे प्राण के साथ ही इस माया का अंत लाऊँगा और मेरी पुत्री जीवयशा की प्रतिज्ञा पूरी करूँगा। कृष्ण हंसकर बोले 'अरे राजा! तू इस प्रकार गर्व के वचन किसलिए बोलता है ? यद्यपि मैं तो अशिक्षित ही हूँ, परंतु तू तो तेरी जो अस्त्रशिक्षा है, वही बता दे। मैं तो किंचित् मात्र भी मेरी आत्म प्रशंसा करता ही नहीं, परंतु इतना तो कहता हूँ कि तेरी दुहिता की अग्निप्रवेश रूप जो प्रतिज्ञा है, उसे मैं पूरी करूँगा। कृष्ण के इस प्रकार के वचन सुनकर जरासंध क्रोधित होकर बाण फेंकने लगा। तब अंधकार को सूर्य की भांति कृष्ण उनको काटने लगे। दोनों महारथी अष्टापद की तरह क्रोध करके धनुष के ध्वनि से दिशाओ में घोरगर्जना करते हुए युद्ध करने लगे।

(गा. 436 से 442)

उनके रणमर्दन से जलराशि समुद्र भी क्षोभ गए। आकाश में रहे हुए खेचर भी त्रासित हुए और पर्वत कंपायमान हुए। उनके पर्वत जैसे दृढ़ रथ के गमनागमन को नहीं सहन करती पृथ्वी ने भी क्षण में अपना सर्वंसहपन छोड़ दिया। विष्णु जरासंध के दिव्य बाणों को दिव्यबाणों से और लोहास्त्रों को लोहास्त्रों से सहज में काटने लगे। जब सर्व अस्त्र निष्फल हो गए तब क्रोध से भरे हुए जरासंध ने खिन्न होकर अन्य अस्त्रों से दुर्वार ऐसे चक्र का स्मरण

किया। तक्षण चक्र आकर हाजिर हो गया। तब जय की तृष्णा वाले, कोपांध मागधपति ने उसे आकाश में घुमाकर कृष्ण पर फेंका। जब चक्र विष्णु तरफ चला, तब आकाश में रहे हुए खेचर भी क्षुब्ध हो गए और कृष्ण का सर्वसैन्य भी दीनतायुक्त क्षोभ को प्राप्त हो गया। उसे स्खलित करने के लिए कृष्ण, बलरात पाँचों पांडवों ने और अन्य अनेक महारथियों ने अपने अपने अस्त्र फेंके परंतु वृक्षों के सामने आती हुई नदी की बाढ़ स्खलित नहीं होती वैसे ही उनसे अस्खलित हुआ यह चक्र आकर कृष्ण के वक्षःस्थल पर उन्नत भाग में लगा, फिर वह चक्र कृष्ण के पास ही खड़ा रहा। तब उसे कृष्ण ने अपने उद्यत प्रताप की तरह हाथ में ले लिया। उस समय यह नवें वासुदेव उत्पन्न हुए। इस प्रकार घोषणा करते हुए देवतागण ने आकाश में से कृष्ण पर सुगंधी जल, पुष्प की वृष्टि की। कृष्ण ने दया लाकर जरासंध को कहा, 'अरे मूर्ख! क्या यह भी मेरी माया है ? परंतु अभी भी तू जीवित ही घर जा, मेरी आज्ञा मान। अब भी तू मेरे दुर्विपाक को छोड़कर तेरी संपत्ति सुख को भोग और वृद्ध होने तक भी जिंदा रह।' जरासंध ने कहा– 'अरे कृष्ण! यह चक्र मैंने बहुत बार चलाया है, इससे मेरे पास यह कुलाल के चक्र जैसा है, इसलिए तुझे चक्र को छोड़ना हो तो खुशी से छोड़। फिर कृष्ण ने जरासंध पर यह चक्र छोड़ा। महात्माओं के लिये दूसरे के शस्त्र भी अपने शस्त्र जैसे हो जाते हैं।' उस चक्र ने आकर जरासंध का मस्तक पृथ्वी पर गिरा दिया। जरासंध मरकर चौथी नरक में गया और देवताओं ने ऊँचे स्वर में जयनाद करके कृष्ण पर कल्पवृक्ष के पुष्पों की वृष्टि की।

(गा. 443 से 457)

अष्टम सर्ग

जरासंध की मृत्यु के पश्चात् श्री नेमिनाथ ने जो कृष्ण के शत्रु राजाओं का निरोध करके रखा था उनको छोड़ दिया। उन्होंने नेमिनाथ के पास आकर नमस्कार करके अंञ्जलि बद्ध होकर कहा– 'हे प्रभु! आपने जरासंध को और हमको तब से ही जीत लिया है कि जब से आप तीन जगत् के प्रभु यादव कुल में अवतरित हुए हैं। अकेले वासुदेव प्रतिवासुदेव का हनन करते हैं, उसमें कोई संशय नहीं है, तो फिर हे नाथ। आप जिनके बंधु या सहायक हों उसकी तो बात ही क्या करनी? जरासंध ने और हमने पहले से ही जान लिया था कि हमने यह अकर्त्तव्य कार्य किया है कि जिसके परिणामस्वरूप अपने को हानि ही होने वाली है, परंतु ऐसी भवितव्यता होने से ऐसा बना है। आज हम आपकी शरण में आए हैं, तो हम सबका कल्याण होवे। हम तो आपके समक्ष कह रहे हैं, नहीं तो आपको नमन करने वाले का तो स्वतः कल्याण होता ही है। इस प्रकार कहकर उपस्थिति उन सब राजाओं को साथ लेकर श्री नेमि कृष्ण के पास आए। कृष्ण ने रथ में से उतर कर नेमिकुमार को दृढ़ आलिंगन बद्ध किया। तब नेमिनाथ के वचन से और समुद्रविजय जी की आज्ञा से कृष्ण ने उन राजाओं के और जरासंध के पुत्र सहदेव का सत्कार किया और मगध देश का चौथा भाग देकर उसके पिता के राज्य पर मानो स्वयं का कीर्तिस्तंभ हो, वैसे आरोपित किया। समुद्रविजय के पुत्र महानेमि को शौर्यपुर में और हिरण्यनाभ के पुत्र रूक्मनाभ को कौशल देश में स्थापित किया। इसी प्रकार राज्य लेना नहीं चाहने वाले उग्रसेन के धर नामके पुत्र को मथुरा का राज्य दिया। इसी समय सूर्य पश्चिम समुद्र में निमग्न हुआ, उस समय श्री नेमिनाथ जी से विदा हुआ मातलि सारथि देवलोक में गया। कृष्ण और उनकी आज्ञा से अन्य सभी राजा अपनी–अपनी छावनी में गये। समुद्रविजय राजा वसुदेव के आगमन की राह देखने लगे।

(गा. 1 से 12)

दूसरे दिन समुद्रविजय, कृष्ण वासुदेव के पास तीन स्थविर खेचरियाँ आकर इस प्रकार कहने लगी कि 'प्रद्युम्न और शांब सहित वसुदेव खेचरों के साथ थोड़े समय में यहाँ आ रहे हैं, परंतु उनका जो चमत्कारिक चारित्र जो वहाँ बना है, वह सुनो। वसुदेव दोनों पौत्रों के साथ जैसे ही यहाँ से निकले, वैसे वे वैताढ्यगिरि पर गये। और वहाँ शत्रु खेचरों के साथ उनका युद्ध हुआ। नीलकंठ और अंगारक आदि जो पूर्व के बैरी थे, वे एकत्रित होकर मिलकर युद्ध करने लगे। कल ही निकट के देवताओं ने आकर कहा कि 'कृष्ण के युद्ध का अंत आ गया, जरासंध का वध हुआ। कृष्ण वासुदेव की विजय हुई।' यह सुनकर सर्व खेचरों ने रण छोड़कर राजा मंदारवेग को यह बात बताई, तब उन्होंने उनको आज्ञा दी कि 'हे खेचरों! तुम सब उत्तम और भेंट ले लेकर आओ, तब अपन वसुदेव द्वारा कृष्ण की शरण में जाएँ। इस प्रकार कहकर वह खेचरपति त्रिपथर्षभ राजा वसुदेव के पास गये और उनको अपनी बहन दी और प्रद्युम्न को अपनी पुत्री दी। राजा देवर्षभ और वायुपथ ने अत्यन्त हर्ष से अपनी दो पुत्रियों शांब कुमार को दी। अब वे विद्याधर राजा वसुदेव के साथ अभी यहाँ आ रहे हैं और ये समाचार देने के लिए हमको पहले यहाँ भेजा है।

(गा. 13 से 22)

इस प्रकार वे कह रही थीं कि इतने में वसुदेव प्रद्युम्न और शांब सहित सर्व खेचर राजाओं के साथ वहाँ आ गये और सब के नेत्रों में प्रसन्नता छा गई। खेचरों ने वसुधारा जैसे सुवर्ण, रत्नों, विविध प्रकार के वाहनों, अश्वों और हाथी आदि देकर कृष्ण की पूजा की। कृष्ण ने जयसेन आदि की प्रेत क्रिया की और सहदेव ने जरासंध आदि की प्रेतक्रिया की। जब जीवयशा ने अपने पति और पिता के कुल का संहार देखकर अग्नि में प्रवेश करके अपने जीवन को त्याग दिया। उस समय यादव आनंद से कूदने लगे, इससे कृष्ण ने उस सिनपल्ली गांव के स्थान पर आनंदपुर नामका गाँव बसाया।

(गा. 23 से 27)

कृष्ण अनेक खेचरों और भूचरों को साथ लेकर छः महिने में भरतार्द्ध साधकर मगध देश में आए। वहाँ एक योजन ऊँची और एक योजन विस्तार वाली, भरतार्धवासी देवियाँ और देवताओं से अधिष्ठित कोटिशिला नामकी एक शिला थी। उसे कृष्ण ने अपने बांये हाथ से पृथ्वी से चार अंगुल ऊँची की।

इस शिला के पहले वासुदेव ने भुजा के अग्रभाग तक ऊँची की, दूसरे ने मस्तक तक, तीसरे ने कंठ तक, चौथे ने उरःस्थल तक, पांचवें ने हृदय तक, छट्ठे ने कटि तक, सातवें ने जंघा तक, आठवें ने जानु तक, नवें कृष्ण वासुदेव ने पृथ्वी से चार अंगुल ऊँची धारण की क्योंकि अवसर्पिणी के नियामानुसार वसुदेव का बल भी कम होता जाता है।

(गा. 28 से 32)

तब कृष्ण द्वारका में आए। वहाँ सोलह हजार राजाओं और देवताओं ने अर्धचक्रपन का अभिषेक किया। उसके पश्चात् कृष्ण ने पांडवों को कुरुदेश की ओर एवं अन्य भूचरों तथा खेचरों को अपने अपने स्थान की ओर विदा किया। समुद्रविजय आदि दश बलवान् दशार्हो, बलदेवादिक पांच महावीरां, उग्रसेन, प्रमुख सोलह हजार राजाओं, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ कुमारों, शांबादिक साठ हजार दुर्दांत कुमारों, वीरसेन प्रमुख एक्कीस हजार वीरों, महासेन प्रसूति महाबलवान् छप्पन हजार तलवर्गों और इसके अतिरिक्त इभ्य, श्रेष्ठी, सार्थपति आदि हजारों पुरुष मस्तक पर अंजलिजोड़ कर कृष्ण की सेवा करने लगे। किसी समय सोलह हजार राजाओं ने आकर भक्ति से अनेक रत्न और दो–दो उत्तम कन्याएँ कृष्ण वुसदेव को अर्पण की। उनमें से सोलह हजार कन्याओं से कृष्ण ने विवाह किया, आठ हजार कन्याओं से बलराम ने विवाह किया और आठ हजार कन्याओं से उनके कुमारों ने विवाह किया। पश्चात् कृष्ण, राम और कुमार क्रीडोद्यान और क्रीड़ापर्वत आदि में रम्य रमणियों से परिवृत्त हो स्वच्छन्द होकर विहार करने लगे।

(गा. 33 से 42)

एक बार उनको क्रीड़ा करते हुए देखकर श्री नेमिनाथ को राजा समुद्रविजय और शिवादेवी प्रेमपूर्ण वाणी से कहने लगे कि– हे पुत्र! तुमको देखने से सदैव हमारे नेत्रों को अतीव प्रसन्नता होती है, उनके कोई योग्य वधू से पाणिग्रहण करके उसमें वृद्धि कराओ। इस प्रकार माता–पिता के वचन सुनकर जन्म से ही संसार से विरक्त और तीन ज्ञान के धारक श्री नेमिप्रभु बोले– 'पिताजी! मैं किसी भी स्थान पर योग्य स्त्री को देखता नहीं हूँ। क्योंकि ये स्त्रियाँ तो निरन्तर दुःख में ही डालने वाली होती है, इससे मुझे ऐसी स्त्रियों की कोई जरूरत नहीं है। जब मुझे अनुपम स्त्री मिलेगी, तब मैं पाणिग्रहण करूँगा। इस प्रकार श्री

नेमीश्वर कुमार ने गंभीर वाणी से अपने सरल प्रकृतिवाले माता–पिता को विवाह के उपक्रम संबंधी आग्रह का निवारण किया।

(गा. 43 से 47)

उग्रसेन राजा की रानी धारिणी ने योग्य समय पर राजीमती नामकी एक पुत्री हुई, जो कि अद्वितीय रूप लावण्य सहित अनुक्रम से वृद्धि प्राप्त करने लगी। इधर द्वारका में धनसेन नामका गृहस्थ रहता था। उसने उग्रसेन के पुत्र नमःसेन को अपनी कमलामेला नामकी पुत्री दी। एक बार नारद घूमते–घूमते नमःसेन के घर आए। उस समय नमःसेन का चित्त विवाहकार्य में व्यस्त था। इससे उसने नारद की पूजा की नहीं। नारद ने क्रोधित होकर उसका अनर्थ करने के लिए बलराम के पुत्र निषध के पुत्र सागरचंद्र जो कि शांब आदि को अति प्रिय था, उसके पास आये। नारद को आते देखकर उनके समक्ष जाकर सत्कार करके पूछा कि– 'देवर्षि! सर्वत्र घूमते रहते हो, तो किसी स्थान पर कुछ आश्चर्य देखा हो तो कहो। क्योंकि आप आश्चर्य उत्पन्न करने वाले वृत्तांत ही सुनाते हो।' नारद बोले– इस जगत् में आश्चर्य रूप कमलामेला नामकी धनसेन की एक कन्या मेरे देखने में आई है। परंतु उसने वह कन्या कभी की नमःसेन को दे दी है। इस प्रकार कहकर नारद उड़कर अन्यत्र चले गए। परंतु यह सुनकर सागरचंद्र उसमें अनुरक्त हो गया। तब जैसे चित्त रोग से उन्मत्त हुआ जैसे सवर्ण पीतवर्ण ही देखता है, वैसे वह सागरचंद्र उसके ही ध्यान में निमग्न रहने लगा। वहाँ सेनारद कमलामेला के घर गए। उस राजकुमार ने भी आश्चर्य से पूछा– तब कूट बुद्धिवाले नारद ने कहा कि 'इस जगत में दो आश्चर्य दीखते हैं, एक तो रूप संपत्ति में श्रेष्ठकुलकर सागरचंद्र और दूसरा कुरूपियों में श्रेष्ठ कुमार नमःसेन। यह सुनकर कमलामेला नमःसेन को छोड़कर सागरचंद्र में आसक्त हो गई। नारद ने सागरचंद्र के पास जाकर उसका अनुराग बताया। सागरचंद्र कमलामेला के विरह रूप सागर में गिर पड़ा है, ऐसा जानकर उसकी माता और अन्य कुमार भी चिन्तित हो गए। इतने में शांब वहाँ आया। उसने इस प्रकार सागरचंद्र को बैठा देखकर उसके पीछे जाकर उसकी दोनों आंखें हाथों से ढंक दी। सागर बोला कि– 'क्या यहाँ मेला आ गई है?' तब शांब बोला– 'अरे मैं कमलामेलापक (कमला का मिलाप कराने वाला) आया हूँ।' सागरचंद्र बोला– तब तो ठीक, तुम ही मेरा कमलामेला से मिलाप करवा देना, अब मुझे कोई दूसरा उपाय सोचने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार उसका कथन

शांब ने स्वीकारा नहीं। इससे सर्व कुमारों के साथ उसे खूब मदिरा पान कराकर छल करके सागरचंद्र ने कबूल करवा लिया। जब उसकी मदावस्था पूर्णता पर चली गई, तब शांब ने विचार किया कि मैंने दुष्कर कार्य स्वीकारा है, परंतु अब उसका निर्वाह करना चाहिए। पश्चात् प्रज्ञप्ति विद्या का स्मरण करके अन्य कुमारों को साथ लेकर नमःसेन के विवाह के दिन शांब उद्यान में आया और वहाँ से कमलामेला के घर तक सुरंग तैयार कराई। आसक्त हुई कमलामेला को घर में से उद्यान में उठाकर लाकर सागरचंद्र के साथ विधिपूर्वक विवाह करवा दिया। जब वह कन्या घर में दिखाई नहीं दी, तब इधर–उधर उसकी तलाश करते घनसेन के व्यक्ति उद्यान में आये। वहाँ पर उन्होंने खेचरों के रूप बनाए हुए यादवों के मध्य में कमलामेला को देखा। तब उन्होंने यह बात कृष्ण को ज्ञात कराई। कृष्ण क्रोधातुर होकर उस कन्या का हरण करने वालों के पास आए और उनको मारने की इच्छा से उनके साथ युद्ध करने लगे क्योंकि वे किसी के अन्याय को सहन नहीं कर सकते थे। तब शांब ने अपना मूल रूप प्रकट करके कमलामेला सहित सागरचंद्र को लेकर कृष्ण के चरणों में गिर पड़े। कृष्ण ने खिन्न होकर कहा कि अरे तूने यह क्या किया? अपने आश्रित रहा नमःसेन को क्यों छला? शांब ने सर्व हकीकत कह सुनाई। तब बाद में कृष्ण ने 'अब क्या उपाय है?' ऐसा कहकर नमःसेन को समझाया और कमलामेला को सागरचंद्र को सौंप दिया। नमःसेन सागरचंद्र का कुछ भी उपकार करने में असमर्थ था, इसलिए तब से ही वह सागरचंद्र का छिद्र ढूँढने लगा।

(गा. 48 से 74)

इधर प्रद्युम्न के वैदर्भी नामकी स्त्री से अनिरुद्ध नाम का पुत्र हुआ। अनुक्रम से यौवनवय को प्राप्त हुआ। उस समय शुभनिवास नाम के नगर में बाण नाम का एक उग्र खेचरपति था। उसके उषा नामकी कन्या थी। उस रूपवती बाला ने अपने योग्य वर की प्राप्ति के हेतु से दृढ़ निश्चय से गौरी नामकी विद्या की आराधना की। वह संतुष्ट होकर बोली– 'वत्से! कृष्ण का पौत्र अनिरुद्ध जो कि इंद्र के समान रूपवंत एवं बलवंत है, वह तेरा भर्ता होगा।' गौरी विद्या के प्रिय शंकर नामक देव को बाण ने साधा। इससे उसने प्रसन्न होकर बाण को रणभूमि में अजेय होने का वरदान दिया। यह बात ज्ञात होने पर गौरी ने शंकर को कहा कि 'तुमने बाण को अजेय होने का वरदान दिया, वह ठीक नहीं किया। क्योंकि मैंने उसकी पुत्री उषा को पहले से ही वरदान दिया

हुआ है।' यह सुनकर शंकर ने बाण को कहा कि 'तू रण में स्त्री कार्य को छोड़कर अजेय होगा।' बाण इससे भी प्रसन्न हुआ।

(गा. 75 से 81)

उषा अति स्वरूपवान् थी। इससे किन–किन खेचरों और भूचरों ने उसके लिए बाण से मांग नहीं की? सभी ने ही की। परन्तु किसी की मांग बाण को रूची नहीं। अनुरागी उषा ने चित्रलेखा नाम की विद्याधरी को भेजकर अभिरूद्ध को मन की भांति अपने घर बुलाया। उसे गांधर्व विवाह से विवाह करके जाते समय आकाश में रहकर बोला कि 'मैं अनिरूद्ध उषा का हरण करके ले जा रहा हूँ।' यह सुनकर बाण क्रोधित हुआ। इससे शिकारी जिस प्रकार कुत्तों से सूअर को रूधवाते हैं, वैसे ही उसने अपनी बाणावली सैन्य से अनिरूद्ध को रूंध लिया। उस समय उषा ने अनिरूद्ध को पाठसिद्ध विद्याएँ दी, जिससे पराक्रम में वृद्धि प्राप्त हुए अनिरुद्ध ने बाण के साथ बहुत समय तक युद्ध किया। अंत में बाण ने नाडापाश से प्रद्युम्न के पुत्र को हाथी के बच्चे की तरह बांध लिया। प्राप्ति विद्या ने तत्काल यह वृत्तांत कृष्ण को बताया। इसलिए कृष्ण बलराम, शांब और प्रद्युम्न को लेकर वहाँ आए। गुरुड़ध्वज (कृष्ण) के दर्शन मात्र से अनिरुद्ध के नागपाश टूट गये। शंकर के वरदान से और अपने बल से गर्वित हुए मदोन्मत बाण ने कृष्ण से कहा कि 'अरे क्या तूँ मेरे बल को जानता नहीं है? तूने हमेशा दूसरों की कन्याओं का हरण किया है। इससे तेरे पुत्र–पौत्रों को भी क्रमशः वैसी ही प्रवृत्ति है। परंतु अब मैं उसका फल तुमको बताता हूँ। कृष्ण ने कहा– 'अरे दुराशय! तेरे यह वचन उक्ति किस काम की है? क्योंकि कन्या तो हमेशा ही दूसरे को देने की होती है, तो उसका वरण करने में क्या दोष है? कृष्ण के ऐसे वचन सुनकर अनेक खेचरों से घिरे हुए बाण विद्याधर भृकुटी चढ़ाकर कृष्ण पर बाण फेंकने लगा। बाणों को छेदने में चतुर कृष्ण ने उसके बाणों को बीच में से ही काट डाला।' इस प्रकार उन दोनों वीरों का बहुत समय तक बाणा–बाणी युद्ध चला। अंत में कृष्ण ने उसे अस्त्ररहित करके कृष्ण ने जिस प्रकार सर्प को गरुड़ काट डाला है वैसे ही उसके शरीर के टुकड़े–टुकड़े करके उसे यमद्वार पहुँचा दिया। पश्चात् कृष्ण उषा सहित अनिरुद्ध को लेकर शांब, प्रद्युम्न और बलराम के साथ हर्षित होते हुए पुनः द्वारका आ गए।

(गा. 82 से 95)

नवम सर्ग

एक बार श्री नेमिकुमार ने अन्य राजकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए घूमते–घूमते कृष्ण वासुदेव की आयुधशाला में निःशंक प्रवेश किया। वहाँ सूर्य के बिंब जैसा प्रकाशमान सुदर्शनचक्र, सर्पराज के शरीर जैसा भयंकर शार्ङ्ग धनुष्य, कौमूदकी गदा और खड्ग साथ ही वासुदेव के यश का कोश हो वैसा और युद्ध रूप नाटक का नंदीवाद्य जैसा पंचजन्य शंख आदि अद्‌भुद अस्त्र–शस्त्र तथा उनको वाद्य दिखलाई दिये। अरिष्टनेमि ने कौतुक से शंख को लेने की इच्छा की, यह देखकर उस अस्त्रगृह के रक्षक चारुकृष्ण ने प्रणाम करके कहा कि, हे कुमार! यद्यपि आप कृष्ण वासुदेव के भ्राता हो, साथ ही बलवान् हो, तथापि इस शंख को लेने मात्र में भी आप समर्थ नहीं हो तो उस शंख को फूँकने में तो कहाँ से समर्थ होओगे? इस शंख को लेने में कृष्ण के अतिरिक्त दूसरा कोई समर्थ नहीं, इसलिए तुम इसे लेने का वृथा प्रयास मत करो। यह सुनकर प्रभु ने हंसकर सहजता में उस शंख को उठाया और अधर पर मानो दांत की ज्योत्सना गिरती हो वैसे शोभते हुए उस शंख को फूँक दिया। तत्काल द्वारकापुरी के किल्ले के साथ घर्षण करते समुद्र की ध्वनि जैसे उस नाद ने आकाश और धरती को भर दिया। प्रावी पर्वतों के शिखर और महल कंपायमान हुए। कृष्ण, बलराम और दसों दशार्ह क्षुब्ध शृंखला तोड़कर त्रास को प्राप्त हुए। घोड़े लगामों की परवाह न करके भाग गये। वज्र के निर्घोष जैसी उस ध्वनि को सुनकर नगरजन मूर्च्छित हो गये। और अस्त्रागार के रक्षक मृत की भांति गिर पड़े। इस प्रकार की सर्व स्थिति देखकर कृष्ण विचार करने लगे कि यह शंख किसने फूँका? क्या कोई चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ है या इंद्र पृथ्वी पर आए हैं? मैं जब मेरा शंख बजाता हूँ तब सामान्य राजाओं को क्षोभ होता है, परंतु इस शंख ध्वनि से तो मैं और बलराम भी क्षुभित हुए हैं। इस प्रकार कृष्ण चिन्तन कर ही रहे थे

कि इतने में अस्त्ररक्षकों ने आकर बताया कि – आपके भाई अरिष्टनेमि ने आकर पाँचजन्य शंख को सहज में ही फूँक डाला है। यह सुनकर कृष्ण विस्मित हो गए। परंतु मन में उस बात पर श्रद्धा न होने से कुछ विचार में पड़ गये। इतने में तो नेमिकुमार भी वहाँ आ गये। कृष्ण ने संभ्रम से खड़े होकर नेमिनाथ को अमूल्य आसन दिया और फिर गौरव से कहा– हे भ्राता! क्या अभी पाँचजन्य शंख आपने फूँका, कि जिसकी ध्वनि से समग्र पृथ्वी अद्यापि क्षोभ पा रही है? नेमिनाथ ने कहा– हाँ, तब कृष्ण उनसे भुजबल की परीक्षा करने के उद्देश्य से आदरपूर्वक बोले– हे भाई! मेरे बिना पाँचजन्य शंख फूंकने में कोई समर्थ नहीं है। तुमने शंख फूँका, यह देख मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। परंतु हे मानद! अब मुझे विशेष प्रसन्न करने के लिए तुम्हारा भुजाबल बताओ और मेरे साथ बाहुयुद्ध से युद्ध करो। नेमिकुमार ने इसे स्वीकार किया। तब दोनों वीरबंधु अनेक कुमार से घिरकर अस्त्रागार में गये।

(गा. 1 से 21)

प्रकृति से दयालु ऐसे नेमिकुमार ने विचारा कि 'यदि मैं छाती से, भुजा से, या चरण से कृष्ण को दबा दूँगा तो उनका क्या हाल होगा? इससे जिस प्रकार उनको कोई अड़चन न हो और वह मेरे भुजाबल को जान ले, ऐसा करना ही योग्य है। इस प्रकार विचार करके नेमिकुमार ने कृष्ण को कहा कि 'हे बन्धु! बारम्बार पृथ्वी पर लौटना आदि से युद्ध करना, यह तो साधारण मनुष्य का काम है। इसलिए परस्पर भुजा को झुकाने के द्वारा ही अपना युद्ध होना चाहिए। कृष्ण ने उनके वचन को मान करके भुजा को लंबा किया, परंतु वृक्ष की शाखा जैसी उस विशाल भुजा को कमलनाल की तरह लीलामात्र में नेमिकुमार ने नमा दिया। पश्चात् नेमिनाथ ने अपनी वाम भुजा को लंबा किया। तब कृष्ण उसको झुकाने के लिए बंदर लिपटे वैसे सर्व बल के द्वारा उससे लिपट गये। परंतु नेमिकुमार के उस भुजस्तंभ को वन का हाथी पृथ्वी के दांत जैसे महागिरि को नमा नहीं सकते वैसे ही किंचित् भी नमा नहीं सके। तब नेमिनाथ का भुजस्तेन छोड़कर अपना खिसियाना छुपा कर कृष्ण उनका आलिंगन करते हुए इस प्रकार बोले– हे प्रिय बंधु! जिस प्रकार बलराम मेरे बल से जगत को तृण समान मानते हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हारे बल से समग्र विश्व को तृण समान गिनता हूँ।' इस प्रकार कहकर कृष्ण ने नेमिनाथ को विदा किया। राम को कहा, हे भाई! तुमने बंधु नेमिनाथ का लोकोत्तर बल देखा?

इससे तो मैं ऐसा मानता हूँ कि इस नेमिनाथ के बल के समान चक्रवर्ती और इंद्र का बल भी नहीं है। उसका ऐसा बल है, इस उपरांत भी यह अपना अनुज बंधु समग्र भारतवर्ष के अधिपति क्यों नहीं होते? इस प्रकार सुस्त होकर क्यों बैठे रहते है? बलराम ने कहा– भाई! जिस प्रकार वह बल में चक्रवर्ती से भी अधिक ज्ञात होता है, वैसे वह शांतमूर्ति राज्य से भी निस्पृह लगता है। राम के इस प्रकार कहने पर भी अपने अनुज बंधु के बल पर शंकित होते कृष्ण को देवताओं ने कहा– 'हे कृष्ण! पूर्व में श्री नेमिप्रभु ने कहा था कि 'मेरे पश्चात् नेमिनाथ तीर्थंकर होंगे, वे कुमार ही रहेंगे, इसलिए उनको राज्यलक्ष्मी की इच्छा नहीं है। वे समय की राह देख रहे हैं। योग्य समय प्राप्त होने पर बाल ब्रह्मचारी रहकर वे दीक्षा ग्रहण करेंगे, इसलिए आप तनिक भी इसकी चिंता मत करना। देवताओं द्वारा इस प्रकार के वचन सुनकर कृष्ण ने प्रसन्न होकर बलराम को विदा किया। पश्चात् स्वयं अंतःपुर में जाकर वहाँ नेमिनाथ को बुलाया।

(गा. 22 से 37)

दोनों बंधुओं ने रत्न के सिंहासन पर बैठकर वीरांगनाओं द्वारा ढोले गए जल कलशों द्वारा स्नान किया। देवदूष्य वस्त्र से पोंछकर दिव्य चंदन का विलेपन किया। जब वहाँ बैठकर दोनों वीरों ने साथ ही भोजन किया। तब कृष्ण ने अंतःपुर के रक्षकों को आज्ञा दी कि, 'ये नेमिनाथ मेरे भाई हैं और मुझ से भी अधिक हैं, इसलिए इसको अंतःपुर में जाते हुए कभी भी रोकना नहीं। सर्वभ्रातृ पत्नियों (भोजाईयों) के बीच में वे नेमिकुमार भी क्रीड़ा करे उसमें कोई भी दोष नहीं है। फिर सत्यभामा आदि अपनी पत्नियों को आज्ञा दी कि यह नेमिकुमार मेरा प्राण जैसा है। वह तुम्हारा देवर है, उसका मान रखना और उसके साथ निःशंक होकर क्रीड़ा करना। इस प्रकार कृष्ण के कहने पर सर्व अंतःपुर की स्त्रियों ने उसी समय नेमिकुमार की पूजा की। नेमिकुमार भोग से पराङ्मुख और निर्विकारी रूप से उनके साथ विहार करने लगे। अपने सदृश ही अरिष्टनेमि कुमार के साथ कृष्ण अंतःपुर सहित हर्ष से क्रीड़ागिरि आदि में रमण करने लगे।

(गा. 38 से 44)

एक बार बसंत ऋतु में कृष्ण नेमिनाथ, नगरजनों और सर्व यादवों के साथ अंतःपुर सहित रैवताचल के उद्यान में क्रीड़ा करने गये। जिस प्रकार नंदनवन में सुर–असुर के कुमार क्रीड़ा करते हैं वैसे ही वहाँ यादव कुमार और

नगरजन विविध क्रीड़ा करने लगे। कोई बकुल वृक्ष के नीचे बैठकर बोरसली पुष्प की खुशबू रूपी मदिरा की पान–पिपासा लेकर पान करने लगे। कोई वीणा बजाने लगे, कोई ऊँचे स्वर से बसंत राग गाने लगे। कोई मदिरा से उन्मत्त होकर अपनी स्त्रियों के साथ किन्नर की तरह नाचने लगे। चमेली, अशोक और बोरसली आदि के वृक्षों पर से कोई पुष्पहार विद्याधर की तरह अपनी स्त्रियों के साथ पुष्प चूँटने लगे। कोई चतुर माली की भाँति पुष्पों के आभूषण गूँथ गूँथ रमणियों के अंगों में पहनाने लगे। कोई नवपल्लव की शय्या में और लतागृह में कांदर्पिक देव जैसे युवतियों के साथ क्रीड़ा करने लगे। कोई गाढ़ रति से श्रांत होकर पानी के तीर पर लौटते भोगियों अर्थात् भोगी (सर्प) की तरह मलयाचल के वचन का पान करने लगे। कोई कंकिल्ला के वृक्ष की शय्या के साथ झुले बांधकर रति और कामदेव के सदृश अपनी अंगना के साथ झूलने लगे, और अनेक कामदेव के शासन में वर्तते पुरुष कंकिल्ल के वृक्षों को अपनी प्रिया के चरणाघात कराने के लिए, बोरसली के वृक्षों पर मदिरा का कुल्ला करके डालने के लिए, तिलक के वृक्षों को सराग दृष्टि से देखने के लिए कुरूवण के वृक्षों से गाढ आलिंगन दिलाने के लिए और इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के दोहद से अन्य वृक्षों को विशेष प्रकार से पुष्पित करने लगे।

(गा. 45 से 56)

उस समय कृष्ण वासुदेव भी नेमिकुमार को साथ में रखकर सत्यभामा आदि स्त्रियों से घिरे होने पर भी वन के हाथी की तरह इधर–उधर घूमने लगे। वहाँ नेमिकुमार को देखकर कृष्ण को विचार आया कि यदि नेमिनाथ मन भोग में लगा ले तो ही मेरी लक्ष्मी कृतार्थ हो और तभी मेरा सौभ्रातृपन भी माना जाय। इससे आलंबन, उद्दीपन और विभाव अनुभाव बारम्बार करके इस नेमिकुमार को मेरे अनुकूल करना कि जिससे कभी मेरा मनोरथ पूर्ण हो। इस प्रकार विचार करके कृष्ण ने अपने हाथों से पुष्पमाला गूंथ कर मुक्ताहार की भांति नेमिकुमार के कंठ में आरोपित की। तब कृष्ण का भाव जानकर सत्यभामा आदि चतुर रमणियाँ भी विचित्र पुष्पामरण से श्री नेमि का शृंगार करने लगी। कोई उनके पृष्ट पर अपने पुष्ट और उन्नत स्तनों का स्पर्श करके उनका केशपाश सुंदर पुष्पमाला द्वारा गूंथने लगी। कोई हरिवल्लभा ऊँची भुजलता करके करमूल को बताती हुई नेमिकुमार के मस्तक पर मुकुट गूंथने लगी, कोई हाथ से पकड़कर उनके कर्ण में कामदेव के जयध्वज जैसा कर्णाभूषण रचने लगी और

कोई उनके साथ क्रीड़ा में विशेष कालक्षेप करने की इच्छा से उनकी भुजापर बारम्बार नये–नये केयूर बांधने लगी। इस प्रकार ऋतु को अनुसरण करके श्री नेमिकुमार ने भी निर्विकार चित्त से उनके प्रति आभार व्यक्त किया।

(गा. 57 से 66)

इस प्रकार विचित्र क्रीड़ाओं से एक अहोरात्र वहाँ ही निर्गमन करके कृष्ण परिवार के साथ वापिस द्वारका में आये। राजा समुद्रविजय, दूसरे दशार्ह और कृष्ण सभी नेमिनाथ के पाणिग्रहण कराने में सर्वदा उत्कंठित रहने लगे। इस प्रकार क्रीड़ा करते नेमि और कृष्ण की बसंतऋतु व्यतीत हो गई और काम की भांति सूर्य को प्रौढ़ करती ग्रीष्मऋतु आ गई। उस समय कृष्ण के प्रताप की तरह बालसूर्य भी असह्य हो गया और प्राणियों के कर्म की तरह रात्रि में भी धर्म (ताप) शांत होता नहीं रहा। उस ऋतु में जवान पुरुष श्वेत कदली की त्वचा जैसे कोमल और कस्तूरी से धूपित ऐसे वस्त्र पहनने लगे। स्त्रियाँ कामदेव के शासन की तरह हाथी के कर्ण जैसे चलाचल पंखें को किंचित् मात्र भी नहीं छोड़ती, युवक विचित्र पुष्परस द्वारा दुगुने सुगंधित किये हुए चंदन जल को अपने ऊपर बार–बार छाँटने लगे। नारियाँ हृदय पर सर्व तरफ कमलनाल रखती हुई मुक्ताहार से भी अधिक सौभाग्य (शोभा) पाने लगी। पुनःपुनः बाहु से गाढ़ आलिंगन करते हुए युवक प्रिया की तरह जलार्द्र वस्तु को छाती पर ही रखने लगे। ऐसी धर्म से भीष्म जैसी ग्रीष्मऋतु में कृष्ण अंतःपुर के साथ नेमिनाथ को लेकर खैतगिरि के उद्यान में स्थिति सरोवर में क्रीड़ा करने के लिए आये। तब मानसरोवर में हंस तर तरह वे सरोवर में कृष्ण अंतःपुर और नेमिनाथ सहित जलक्रीड़ा करने घुसे। उसमें कंठ तक मग्न हुई कृष्ण की स्त्रियों के मुख नवीन उद्भवित कमलिनी के खुड की भ्रांति को उत्पन्न करने लगे। कृष्ण ने किसी रमणी पर जल की अंजलि डाली, तब उस चतुरा ने गूडुप के जल से ही कृष्ण पर आक्षेप किया। अनेक जलनीरु वामा कृष्ण से चिपक जाती, इसलिए कृष्ण ठीक पुतलीवाले स्तंभ की शोभा को धारण करते थे। जलकंपात की तरह बारम्बार उछलती मृगाक्षियाँ कृष्ण के उरःस्थल में वेग से टकराती थी। जल के आघात से वह रमणियों की दृष्टि ताम्रवर्णी हो जाती थी, वे मानो अपने भूषणरूपी अंजन के नाश से उनको स्त्री को उसकी प्रतिपक्षी सपत्नि के नाम से बुलाते थे, जिससे वह हाथी की सूंढ की तरह कमलद्वारा कृष्ण को प्रहार करती थी। किसी बात को कृष्ण अधिक देर तक देखते थे,

जिससे उसकी प्रतिप्रक्षी दूसरी स्त्री ईर्ष्या धरकर कृष्ण के नेत्र पर कमलरज मिश्रित जल से ताड़न करती थी। अनेक मृगनयना युवतियाँ गोपपने की रासलीला को याद करके कृष्ण के आसपास घूमती रहती थी। उस समय नेमिकुमार निर्विकार होने पर भी भाई के आग्रह से अनेक प्रकार के हास्य करती हुई भ्रातृपत्नियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। देवरजी! अब कहाँ जा रहे हो? ऐसा कहकर कृष्ण की स्त्रियाँ एक साथ हाथ से ताड़ित किए हुए जल को नेमि पर आच्छोटन करने लगी। उस वक्त जल के छींटों को उड़ाती हुई कृष्ण भी स्त्रियों के कर से श्री नेमिप्रभु पल्लवित वृक्ष की तरह शोभा देने लगे। तब वे स्त्रियाँ जलक्रीड़ा के बहाने से स्त्रीस्पर्श ज्ञात कराने के लिए नेमिकुमार के कंठ में लग जाती। छाती से छाती टकराकर भुजाओं से लिपट गई। कोई रमणीय छत्र की तरह नेमिकुमार के ऊपर सहस्रपत्र कमल रखकर मानो अंतःपुर की छत्रधारिणी हों वैसी दिखाई देने लगी। किसी स्त्री ने हाथी के कंठ में उसके बंधन की शृंखला डाले वैसे नेमिकुमार के कंठ कंदल में कमलनाल का आरोपण किया। किसी बाला ने कुछ बहाना निकाल कर नेमिनाथ का हृदय कि जो कामदेव के अस्त्रों से अनाहत था, उस पर शतपत्र कमल द्वारा ताड़न किया। नेमिकुमार ने उन सर्व भ्रातृपत्नियों के साथ कृतप्रतिकृत (करे उसके सामने वैसा ही करे) रूप से चिरकाल तक निर्विहार चित्त से क्रीड़ा की। अपने अनुज को क्रीड़ा करते देखकर कृष्ण को इतना हर्ष हुआ कि जिससे वे सरोवर के जल में नंदीवर में हाथी की तरह चिरकाल तक खड़े रहें। जब कृष्ण जलक्रीड़ा समाप्त करके सरोवर में से बाहर निकले तो सत्यभामा रूक्मिणी आदि स्त्रियाँ भी तीर पर आकर खड़ी रही।

(गा. 68 से 95)

नेमिकुमार सरोवर में से हंस की तरह बाहर निकले और जहाँ रुक्मिणी आदि खड़ी थी उस तीर पर जाकर खड़े रहे। उसी क्षण रूक्मिणी आदि ने खड़े होकर उनको रत्नासन दिया। अपने उत्तरीयवस्त्र द्वारा उनके अंगों को जल रहित किया। उस समय सत्यभामा मस्करी में और विनयपूर्वक बोली–देवरजी! तुम हमेशा ही हमारा कहना सहन करते हो, इसलिए मैं निर्भय होकर कहती हूँ कि– हे सुंदर! तुम सोलह हजार स्त्रियों के भरतार श्री कृष्ण के भाई होकर भी एक कन्या को क्यों नहीं ग्रहण करते? इस तीन लोक में तुम्हारा शरीर अप्रतिम रूपलावण्य से पवित्र है और नवीन यौवन है, फिर भी तुम्हारी स्थिति ऐसी क्यों

है? तुम्हारे माता–पिता, तुम्हारे भाइयों और सर्व भोजाइयाँ विवाह करने के लिए तुमसे प्रार्थना कर रही है, इससे हम सबकी इच्छा पूर्ण करो। वंठ (भूत) की जैसे एक अंग वाले रहकर तुम कितने काल निर्गमन करोगे? उसका तुम स्वयं ही विचार करो। हे कुमार! क्या तुम अज्ञ हो? या नीरस हो? या नपुंसक हो? यह हमको कहो। क्योंकि स्त्रीभोग के बिना अरण्य में पुष्प की तरह तुम निष्फल यौवन गँवा रहे हो। जिस प्रकार श्री ऋषभनाथ जी ने पहले तीर्थ का प्रवर्तन किया, उसी प्रकार उन्होंने सांसारिक अवस्था में विवाह मंगल आदि भी आवश्यकता को प्रथम बताया है। योग्य समय पर रूचि के अनुसार खुशी से ब्रह्मचर्य का पालन करना। परंतु गृहस्थपने में अशुचि स्थान में मंत्रोच्चार की तरह ब्रह्मचर्य पालना उचित नहीं है। पश्चात् जांबवती बोली– 'अरे कुमार! तुम्हारे वंश में ही मुनिसुव्रत प्रभु हुए हैं। वे भी विवाह करके पुत्रोत्पत्ति होने के पश्चात् तीर्थंकर हुए हैं। इसके अतिरिक्त भी जिनशासन में अन्य बहुत से महात्मा विवाह के पश्चात् मुक्त हुए और होंगे ऐसा सुना है, वह भी आप जानते हों। फिर भी क्या तुम कोई नवीन मुमुक्षु हुए हो कि जो मुक्तवन का मार्ग छोड़कर जन्म से ही स्त्री पराङ्गमुख रहते हो। पश्चात् सत्यभामा प्रणयकोप करती हुई बोली कि, हे सखि! तुम क्यों इस प्रकार सामवचनों से कहती हो? ये सामवचन से साध्य नहीं है। पिता ने ज्येष्ठ भ्राताओं ने और अन्यों ने भी विवाह के लिए इनसे प्रार्थना की है, तो भी इन्होंने उनका भी मान नहीं रखा। इसलिए हम सब एकत्रित होकर इनको यहीं पर रोका हुआ रखो। यदि ये अपना वचन माने तो इनको छोड़ना, नहीं तो छोड़ना ही नहीं। तब लक्ष्मणा आदि अन्य स्त्रियाँ बोली– बहन! ऐसा नहीं होता, ये अपने देवर है, इससे ये अपने आराधने योग्य हैं। इसलिए यह कुपित हों ऐसा तुमको कुछ कहना योग्य नहीं है, इनको तो किसी भी प्रकार से प्रसन्न करना यही कर्त्तव्य है। इन्होंने ऐसा कहा इसलिए बाद में रूक्मिणी आदि कृष्ण की सर्व स्त्रियों विवाह के लिए आग्रहपूर्वक प्रार्थना करती हुई नेमिकुमार के चरणों में गिर पड़ी। इस प्रकार स्त्रियों को प्रार्थना करते देख कृष्ण भी समीप में आकर विवाह के लिए नेमिकुमार को प्रार्थना करने लगे। उस समय अन्य यादव भी वहाँ आकर बोले कि, हे कुमार! इन भाई के बचनों को मान्य करो और शिवा देवी, समुद्रविजय और अन्य स्वजनों को भी आनंदित करो। जब ये सब इस प्रकार उन पर आग्रहपूर्वक दबाव डालने लगे, तब नेमिनाथ विचार करने लगे कि अहो! इन सबकी कैसी

अज्ञानता है? इस समय मेरी दाक्षिण्यता को भी धिक्कार है। ये लोग केवल संसार समुद्र में ही नहीं पड़ते बल्कि ये सब स्नेह शिला बांधकर अन्यों को भी संसारसमुद्र में गिराते हैं। इसलिए अभी तो इन सभी का कहना मात्र वाणी से मान लूँ, पश्चात् समय आने पर तो अवश्य आत्महित ही करना है। पूर्व में श्री ऋषभदेव प्रभु ने जो विवाह किया था, वह तो मात्र स्वयं के उस प्रकार के भोग्यकर्म के कारण ही, क्योंकि कर्म की गति विचित्र है। इस प्रकार विचार करके श्री नेमिप्रभु ने उन सबका वचन स्वीकार किया, यह सुनकर समुद्रविजय आदि सर्व को अत्यन्त हर्ष हुआ।

(गा. 96 से 121)

तब कृष्ण ग्रीष्मऋतु वहाँ ही व्यतीत करके परिवार के साथ नेमि के योग्य कन्या देखने को उत्सुक होकर द्वारका आए। वहाँ सत्यभामा ने कहा कि, हे नाथ! मेरी राजिमती नामकी छोटी बहन है, वह अरिष्टनेमि के योग्य है। यह सुनकर कृष्ण बोले– हे सत्यभामा! तुम वास्तव में मेरी हितकारिणी हो क्योंकि नेमिनाथ के योग्य स्त्री की चिंतारूपी सागर में से मेरा तुमने ही उद्धार किया है। तब कृष्ण स्वयं ही तत्काल उग्रसेन के घर गए। मार्ग में यादवों ने और नगरजनों ने संभ्रम से उसको जाते हुए देखा। उग्रसेन ने अर्ध्यपाद्य आदि से कृष्ण का सत्कार करके सिंहासन पर बैठाकर आगमन का कारण पूछा। कृष्ण बोले– हे राजन्! आपके राजीमति नामकी कन्या है, वह मेरे अनुज भाई नेमि कि जो मेरे से गुण में अधिक है, उसके योग्य है। ऐसे कृष्ण के वचन सुनकर उग्रसेन बोले– हे प्रभु! आज मेरे भाग्य फले हैं कि जिससे आप मेरे घर पधारें और फिर हमको कृतार्थ किया। हे स्वामिन्! यह गृह, यह लक्ष्मी, हम, ये पुत्री और अन्य सब भी आपके अधीन है। अधीनस्थ वस्तुओं के लिए प्रार्थना क्यों? उग्रसेन के ऐसे वचन सुनकर कृष्ण प्रसन्न हुए। शीघ्र ही समुद्रविजय के पास आकर ये समाचार दिए। समुद्रविजय ने कहा– हे वत्स! तुम्हारी पितृभक्ति और भ्रातृवात्सल्य देखकर मुझे बहुत हर्ष हुआ है। फिर तुमने मेरे नेमिकुमार को भोगोन्मुख किया, इससे हमको अत्यन्त आनंद उत्पन्न हुआ है क्योंकि अरिष्टनेमि विवाह करना स्वीकार करे तो ही ठीक हो, यह मनोरथ इतने समय तक तो हमारे मन में ही घूमता रहा। पश्चात् राजा समुद्रविजय ने क्रोष्टुकि को बुलाकर नेमिनाथ और राजीमति के विवाह के लिए शुभ दिन पूछा। तब क्रोष्टुकि ने कहा कि 'हे राजन्! वर्षाकाल में साधारण शुभ कार्य को भी प्रारंभ

नहीं करते तो विवाह की तो बात ही क्या करनी ? तब समुद्रविजय ने कहा कि 'इस कार्य में विलम्ब करना जरा भी ठीक नहीं है, कारण कि कृष्ण ने बड़ी मुश्किल से नेमिनाथ को विवाह के लिए मनाया है।' इसलिए विघ्न न आवे ऐसा नजदीक में ही कोई विवाह का दिन बताओ और तुम्हारी अनुज्ञा से गांधर्व विवाह की भांति यह विवाह भी हो जाए तो भी अतिउत्तम। क्रोष्टुकि ने विचार करके कहा, 'हे यदुपति! यदि ऐसा ही है तो फिर श्रावण मास की शुक्ल षष्ठी को यह कार्य कर लो। राजा ने क्रोष्टुकि को सत्कार करके विदा किया। पश्चात् वास्तविकता उग्रसेन को भी कहलायी। दोनों ओर तैयारियाँ होने लगी। कृष्ण ने भी द्वारका में प्रत्येक दुकान पर, प्रत्येक दरवाजे पर, और प्रत्येक गृह में रत्नमय मंच रचे। विवाह का दिन नजदीक आया तब दशार्ह और बलराम कृष्ण आदि एकत्रित हुए। शिवादेवी, रोहिणी और देवकी आदि माताओं रेवती प्रमुख राम की पत्नियाँ और सत्यभामा आदि कृष्ण की पत्नियाँ, धात्रियाँ और अन्य गोत्रवृद्ध साथ सौभाग्यवती रमणियाँ एकत्रित होकर उच्च स्वर में गीत गाने लगी। सबने मिलकर नेमिकुमार को पूर्वाभिमुख उत्तम आसन पर बिठाया। बलराम और कृष्ण ने प्रीति से स्वयमेव उनको नहलाया। पश्चात् नेमिकुमार के हाथ में मंगल कांकड़ बांधकर हाथ में बाण देकर कृष्ण उग्रसेन के घर गये। वहाँ पूर्णचंद्र जैसे मुखवाली राजमति को भी कृष्ण उसी प्रकार स्नानादि करवा कर तैयार करके पुनः अपने घर पर लौट आए।

(गा. 122 से 143)

वह रात्रि व्यतीत करके प्रातःकाल में नेमिनाथ को विवाह के लिए उग्रसेन के घर ले जाने को तैयार किया। सिर पर श्वेत छत्र धारण कराया, दोनों ओर श्वेत चँवर बींझे जाने लगे। किनांरी वाले दो वस्त्र पहनाये, मुक्ताफल के आभरणों से शृंगार किया और मनोहर गोशीर्ष चंदन से अंगराज किया। इस प्रकार तैयार हो जाने पर नेमिनाथ श्वेत अश्ववाले रथ पर आरूढ़ हुए। उस समय अश्वों के हेषारव से दिशाओं को बधिर करते क्रोड़ोगम कुमार बाराती बनकर उनके आगे चले। दोनों ओर हजारों बाराती हाथी पर चढ़कर चलने लगे और पीछे दसों दशार्ह और बलराम और कृष्ण चलने लगे। उसके बाद महामूल्यवाली शिबिकाओं में बैठकर अंतपुर की स्त्रियाँ और अन्य भी स्त्रियाँ मंगल गीत गाती गाती चली। इस प्रकार महद्समृद्धि से श्री नेमिकुमार राजमार्ग पर चल दिए। आगे मंगलपाठ उच्च स्वर से मंगल पाठ करते–करते चल रहे थे।

मार्ग में अटारियों पर चढ़ी हुई पुरस्त्रियों की प्रेमार्द्र दृष्टियाँ मंगला लाजा (मंगलिक के निमित्त उड़ाई गई लाजा–धाणी) की तरह नेमिनाथ के ऊपर पड़ती थी। इस प्रकार पौरजनों द्वारा देखे हुए और परस्पर हर्ष से वर्णित नेमिकुमार अनुक्रम से उग्रसेन के घर के पास आए। नेमिनाथ के आगमन का कोलाहल सुनकर मेघध्वनि से मयूरी की तरह कमललोचना राजीमति भी माढ़ उत्कंठा वाली हो गई। इसका भाव जानकर उसकी सखियाँ बोली कि 'हे सुंदरी! तुम धन्य हो कि जिसका पाणिग्रहण नेमिनाथ करेंगे। हे कमललोचने! यद्यपि नेमिनाथ यहाँ ही आने वाले हैं, तथापि हमारी उत्सुकता होने से, गोख पर चढ़ कर उनको देखने की हो रही है। अपने मनोगत भावों को कहने से हर्षित हुई राजीमति भी संभ्रम से सखियों सहित खिड़की पर आ गई।

(गा. 144 से 156)

राजीमति ने चंद्र सहित मेघ के जैसे मालती के पुष्पों से गूंथा हुआ केशपाश धारण किया था। वह दो विशाल लोचन से कर्ण में धारण किये हुए आभूषण भूत कमल को हरा रही थी। मुक्ताफल वाले कुंडलों से युक्त कर्ण से सीप की शोभा को तिरस्कार कर रही थी। हींगलोक सहित अधर से पक्व बिंबफल को लज्जित कर रही थी। उसकी कंठाभूषणयुक्त ग्रीवा सुवर्ण की मेखलावाले शंख की जैसी शोभित हो रही थी। हार से अंकित उसके स्तन बिस ग्रहण करने वाले चक्रवाक जैसे शोभ रहे थे। करकमल से कमलखंडयुक्त सरिता जैसी दिख रही थी। मानो कामदेव की धनुर्लता हो, वैसा उसका मध्यभाग (कटि प्रदेश) मुष्टिग्राह्य था। मानो स्वर्णफलक हो वैसे नितम्ब से मनोरम थी। कदली के जैसे उसके उरू थे हिरणी के जैसी उसकी जंघा थी। रत्न जैसी नखवाली थी। उसके किनारी वाले श्वेतवस्त्र पहने थे और अंग पर गोरूचंदन का विलेपन किया था।

इस प्रकार तैयार होकर देवी जैसे विमान में बैठती है वैसे वह गवाक्ष पर आकर बैठ गई।

(गा. 157 से 162)

वहाँ रहकर उसने मानो प्रत्यक्ष कंदर्प हों वैसे हृदय में कंदर्प को प्रदीप्त करने वाले नेमिनाथ को दूर से ही देखा। उनको नयनों से निरख कर उसने मन में सोचा कि 'अहो! ऐसे मन से भी अगोचर ऐसे पति मिलना दुर्लभ है।

तीन लोक में आभूषण रूप ऐसे ये मुझे जो पति रूप में प्राप्त हों तो फिर मेरे जन्म का फल क्या पूर्ण नहीं हुआ ? यद्यपि ये तो विवाह करने की इच्छा से ही यहाँ आए हैं, तथापि मुझे प्रतीति होती नहीं है। कारण कि ऐसे पुरुष अति पुण्य हों तो ही प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार वह चिन्तन कर ही रही थी कि इतने में उसका दक्षिण लोचन और दक्षिण बाहु फड़कने लगी। इससे उसके मन में और अंग में संताप उत्पन्न हो गया। फिर धारागृह की पुतली की तरह नेत्र में से अश्रु वर्षाती हुई राजीमति ने अपनी सखियों से गद्‌गद् स्वर से यह बात बताई। यह सुनकर सखियाँ बोली 'सखी! पाप शांत हो, अमंगल दूर हों और सर्व कुलदेवियाँ तेरा कल्याण करें। बहन! धैर्य रख। ये तेरे वर पाणिग्रहण से उत्सुक होकर यहाँ आए हैं, चलते हुए इस विवाहमहोत्सव में तुझे अनिष्टचिंता किसलिए होती है ?

(गा. 163 से 170)

इधर नेमिनाथ ने आते–आते प्राणियों का करूण स्वर सुना, इससे उसका कारण जानने पर भी सारथि को पूछा कि 'यह क्या सुनाई दे रहा है ? सारथि ने कहा, नाथ! क्या आप नहीं जानते ? यहाँ आपके विवाह में भोजन के लिए विविध प्राणियों को लाया हुआ है। हे स्वामिन्! मेढ़े आदि भूमिचर, तीतर आदि खेचर और गांवों के और अश्वी के प्राणी यहाँ भोजन के निमित्त पंचत्व को प्राप्त करेंगे। उनको रक्षकों ने वाड़े में भर रखा है, इससे वे भयत्रस्त होकर पुकार कर रहे हैं। क्योंकि सर्व जीवों को प्राणविनाश का भय सबसे बड़ा होता है। पश्चात् दयावीर नेमिप्रभु ने सारथि को कहा कि जहाँ ये प्राणी हैं, वहाँ मेरा रथ ले चलो। सारथि ने तत्काल वैसा ही किया। इसलिए प्रभु ने प्राणनाश के भय से चकित हुए विविध प्राणियों को वहाँ देखा। किसी के रस्सी को गले से बांधा हुआ था। ऊँचे मुख वाले, दीन नेत्र वाले और जिनके शरीर कांप रहे थे ऐसे उन प्राणियों को दर्शन से ही तृप्त करते हैं, वैसे नेमिनाथ प्रभु को देखा। तब वे अपनी अपनी भाषा में पाहि, पाहि (रक्षा करो, रक्षा करो) ऐसे बोले। यह सुनकर शीघ्र ही प्रभु ने सारथि को आज्ञा करके उनको छुड़ा दिया। वे प्राणी अपने अपने स्थान पर चले गये। तब प्रभु ने अपना रथ वापिस अपने घर की ओर मोड़ने हेतु सारथी से कहा।

(गा. 171 से 180)

नेमिकुमार को वापिस मुड़ते देख शिवादेवी और समुद्रविजय शीघ्र ही वहाँ आकर नेत्रों में अश्रु लाकर बोले 'वत्स! इस उत्सव में से अचानक कैसे लौट रहे हो? नेमिकुमार बोले– 'हे माता–पिता! जिस प्रकार ये प्राणी बंधन से बंधे हुए थे, वैसे ही हम सब भी कर्म रूपी बंधन से बंधे हुए हैं। जैसे मैंने उनको बंधन से मुक्त किया, वैसे मैं भी कर्मबंधन से मुक्त होने के लिए अद्वैत सुख का कारण रूप दीक्षा ग्रहण करने का इच्छुक हूँ।' नेमिकुमार के ऐसे वचन सुनकर उनके माता पिता मूर्च्छित हो गये और सर्व यादव नेत्रों से अविच्छिन्न अश्रुपात कर करके रोने लगे। उसी समय कृष्ण ने वहाँ आकर शिवादेवी और समुद्रविजय को आश्वासन देकर सर्व का रूदन निवार कर अरिष्टनेमि को कहा, 'हे मानवंता भाई! तुम मुझे और राम को सदा मान्य हो। तुम्हारा अनुपम रूप है और नवीन यौवन है, फिर यह कमललोचन राजीमति तुम्हारे योग्य है। इस उपरांत भी तुमको वैराग्य होने का क्या कारण है? वह कहो और तुमने जिन प्राणियों को बंधा हुआ देखा था उनको भी तुमने बंधन से छुड़ा दिया है। तो अब तुम्हारे माता–पिता और बुधओं के मनोरथ को पूर्ण करो। हे बंधु! तुम्हारे माता–पिता तो महाशोक में निमग्न हो गये हैं, उनकी उपेक्षा करना योग्य नहीं है। उनके ऊपर भी सर्व की तरह साधारण कृपा करो। जैसे तुमने इन दीन प्राणियों को खुश किया, वैसे ही अब तुम्हारा विवाहोत्सव मनाकर बलराम आदि भाईयों को भी खुश करो।

(गा. 181 से 191)

नेमिनाथ बोले– 'हे बांधव! मेरे माता–पिता और तुम बंधुओं को शोक होने का कुछ भी कारण मुझे दिखाई नहीं देता और मुझे वैराग्य होने का कारण तो यह है कि यह चतुर्गतिरूप संसार हेतु इसमें उत्पन्न हुए प्राणी निरन्तर दुःख का ही अनुभव करते हैं। प्रत्येक भव में माता–पिता और भाई तो होते ही रहते हैं, परन्तु इनमें कोई भी तुम्हारे कर्म के भागीदार नहीं होते हैं। सभी को अपने अपने कर्म भोगने पड़ते हैं। हे हरि! यदि दूसरे का दुःख अन्य से नाश होता हो तो विवेकी मनुष्य माता–पिता के लिए प्राण भी दे दे। परंतु प्राणी पुत्रादिक के होने पर जरा, मृत्यु आदि के दुःख स्वयं ही भोगता है। इसमें कोई किसी का रक्षक नहीं होता है। यदि पुत्र पिता दृष्टि को आनंदभाव देने के लिये है तो उनका एक और पुत्र महानेमी भी तो है। वे भी तो आनंद के हेतु हो सकते हैं। मैं तो वृद्ध पांथ की तरह संसार रूप मार्ग में गमनागमन करके खिन्न हो गया हूँ।

इसलिए अब तो उसके हेतु रूप कर्म का उच्छेद करने का ही प्रयत्न करूँगा। उस कर्म का उच्छेद दीक्षा के बिना साध्य नहीं है। इसलिए मैं वही ग्रहण करूँगा, आप वृथा ही आग्रह न करें।

(गा. 192 से 199)

पुत्र के इस प्रकार वचन सुनकर समुद्रविजय बोले– 'वत्स! तू गर्भेश्वर है, सुकुमार है तो दीक्षा का कष्ट किस प्रकार सहन करेगा? ग्रीष्मऋतु का घोर ताप सहन करना तो दूर रहा, परन्तु अन्य ऋतुओं का ताप भी छत्री बिना सहन करना कठिन है। क्षुधा–तृषा आदि के दुःख दूसरों से भी सहन नहीं होते तो दिव्य भोगों के योग्य शरीर वाले तुमसे ये कैसे सहन होंगे? यह सुनकर नेमिप्रभु बोले– 'पिताजी! जो प्राणी उत्तरोत्तर नारकी के दुःखों को जानता है। उसमें समक्ष तो ये दुःख है ही क्या? तपस्या के सहज भाव दुःख से अनंत सुखात्मक मोक्ष मिलता है और विषयों के किंचित् सुख से अनंत सुखात्मक मोक्षदायक नरक प्राप्त होता है। तो आप ही स्वयमेव विचार करके कहो कि इन दोनों में से क्या करना योग्य है? इस पर विचार करने से सभी मनुष्य जान ही सकता है, परंतु विरले ही इस पर विचार करते हैं। इस प्रकार नेमिकुमार के वचनों से उनके माता–पिता, कृष्ण और राम आदि अन्य स्वजनों ने नेमिनाथ की दीक्षा का निश्चय जान लिया, इससे वे उच्च स्वर से रूदन करने लगे और श्री नेमिनाथ रूप हस्तिश्रेष्ठ स्वजनस्नेह रूपी बेड़ी को तोड़कर सारथि से रथ चलवाकर स्वगृह आ गये।

(गा. 200 से 207)

उस समय योग्य अवसर जानकर लोकांतिक देवगण वहाँ आए, और प्रभु को नमस्कार करके बोले कि हे नाथ! तीर्थ का प्रवर्तन करो। भगवान् नेमि ने इंद्र की आज्ञा से जृंभक देवता द्वारा भरे हुए द्रव्य द्वारा वर्षीदान देना आरंभ किया।

(गा. 208 से 209)

नेमिनाथ वापिस लौट गये और वे व्रत लेना चाहते हैं, यह समाचार सुनकर राजीमति वृक्ष पर खिंची हुई वल्ली को तरह भूमिपर गिर जाती है, उसी भांति जैसे मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। शीघ्र भयभीत हुई उसकी सखियाँ सुगंधित शीतल जल से सिंचन करने लगी। कंदलीदल के पंखे से हवा करने

लगी। फलस्वरूप कुछ समय में संचेतना पाकर बैठी हुई। तब जिसके कपोलभाग पर केश उड़ रहे थे और अश्रुधारा से जिसकी कंचुकी भीगी हुई थी, ऐसी वह बाला विलाप करने लगी। अरे देव! नेमि मेरे पति हों, ऐसा मेरा मनोरथ भी नहीं था, फिर भी हे नेमि! किसने देव से प्रार्थना की कि जिससे तुम मेरे स्वामी हुए, और स्वामी हुए तो भी इस प्रकार अचानक वज्रपात की तरह तुमने मुझसे ऐसा विपरीत व्यवहार किया? इस पर से तुमसे एक ही मायावी और विश्वासघाती हो, ऐसा लगता है। अथवा मेरे भाग्य की प्रतीति से तो मैंने पहले ही जान लिया था कि तीन जगत् में उत्कृष्ट नेमिकुमार मेरे वर कहाँ? और मैं कहाँ? अरे नेमि! यदि पहले ही मुझे विवाह के लायक समझा नहीं था तो विवाह अंगीकार करके मुझे ऐसा मनोरथ किसलिए उत्पन्न कराया? और हे स्वामिन्! यदि ऐसा मनोरथ कराया तो फिर उसे भग्न क्यों किया? कारण कि 'महान् पुरुष जो स्वीकार करते हैं, उसे यावज्जीवन पर्यन्त स्थिर रूप से पालते भी हैं। हे प्रभो! आपके जैसे महान पुरुष भी जो स्वीकृत से चलित होंगे तो अवश्य ही समुद्र भी अपनी मर्यादा छोड़ देगा अथवा इसमें तुम्हारा कोई भी दोष नहीं है, मेरे कर्म का ही दोष है। अब वचन से भी मैं तुम्हारी गृहिणी तो कहलाऊंगी ही। फिर भी यह सुंदर मातृगृह, यह देवमंडप और यह रत्नवेदिका कि जो अपने विवाह के लिए रचे गये थे, ये सब व्यर्थ हो गये। अभी जो धवल मंगल गाए जा रहे हैं, वे सब सत्य नहीं होते यह कहावत सत्य हो गई है। कारण कि तुम धवलगीतों में मेरे भर्ता रूप से गाये गये हो, परंतु वह सत्य नहीं हुआ। क्या मैंने पूर्वजन्म में दंपत्तियों का वियोग कराया होगा कि जिससे इस भव में पति के करस्पर्श का सुख भी मुझे प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार विलाप करती हुई राजीमति ने दोनों करकमलों से छाती कूटते हुए हार तोड़ डाला और कंकणों को फोड़ डाला। उस समय उसकी सखियाँ बोली– 'हे बहन! किस लिए तू इतना खेद करती है? तेरा इसके साथ क्या संबंध है? और अब तुमको इससे क्या काम है? स्नेह बिना का, निःस्पृह, व्यवहार से भी विमुख, वन के प्राणियों की तरह घर में रहने पर भी गृहवास में भीरू, दाक्षिण्यता बिना का, निष्ठुर और स्वेच्छाचारी ऐसा यह वैरीरूप नेमि चला गया, तो भले गया। अपन ने इसे पहले से ही जान लिया, यह ठीक हुआ। यदि तुमको परण कर बाद में इस प्रकार ममतारहित हुआ होता तो कुएं में उतार कर रस्सी काटने जैसा होता। अब पद्युम्न, शांब आदि अन्य अनेक यदुकुमार हैं, उनमें से जो मनपसन्द हो, वह तुम्हारा पति हो

जाएगा। हे सुभ्रु! तुम नेमिनाथ को तो संकल्प से ही दी गई थी। इसलिए जब तक उन्होंने तुम्हारा पाणिग्रहण किया नहीं, तब तक तुम कन्यारूप ही हो।'

(गा. 210 से 229)

सखियों के इस प्रकार के वचन सुनकर राजीमति क्रोधित होती हुई बोली– 'अरे सखियों! मेरे कुल को कलंक लगे वैसा और कुतरा के कुल के योग्य ऐसे वचन तुम कैसे बोल रही हो? तीन जगत में नेमिकुमार ही एक उत्कृष्ट है, उनके सदृश दूसरा कौन है? और यदि उनके जैसा अन्य कोई हो तो वह भी किस काम का? कारण कि कन्यादान तो एक बार ही होता है। मैं मन–वचन से इन नेमिकुमार का ही वरण कर चुकी हूँ और उन्होंने गुरुजनों के आग्रह से मुझे पत्नीरूप से स्वीकार भी कर लिया था इस उपरांत भी ये त्रैलोक्यश्रेष्ठ नेमिकुमार ने मुझे वरण नहीं किया, तो प्रकृति से ही अनर्थ के हेतु रूप ऐसे इन भोगों से मुझे भी क्या काम है? मुझे इनकी कुछ जरूरत नहीं है। यद्यपि उन्होंने विवाह में तो मेरा कर से स्पर्श किया नहीं, तथापि व्रतदान में तो वे मेरा स्पर्श करेंगे। अर्थात् मेरे मस्तक पर वासक्षेप के द्वारा हस्तक्षेप अवश्य करेंगे।' इस प्रकार प्रतिज्ञा करके उग्रसेन की पुत्री राजीमति सखिजनों को निवार कर श्री नेमिकुमार का ध्यान करने में ही तत्पर होकर काल व्यतीत करने लगी।

(गा. 230 से 235)

इधर श्री नेमिनाथ प्रतिदिन वर्षीदान देने लगे और समुद्रविजय आदि वेदना से बालक की भांति अहर्निश रूदन करने लगे। भगवान् नेमि ने राजमति की पूर्वोक्त प्रतिज्ञा लोगों के मुख से और त्रिविध ज्ञान के प्रभाव से जान ली, तथापि ये प्रभु तो ममतारहित रहे। प्रभु ने इस प्रकार निर्बाधरूप से एक वर्ष पर्यन्त दान दिया। पश्चात् शक्रादि देवनायकों ने आकर प्रभु का दीक्षा संबंधी अभिषेक किया और उत्तरकुरू नाम की रत्नमयी शिबिका में शिवाकुमार (नेमिकुमार) आरूढ़ हुए। तब सुर–असुर–मनुष्यों ने उस शिबिका को वहन किया। उस समय प्रभु के दोनों ओर शक्र और ईशानेन्द्र चामर लेकर चले। सनत्कुमारेन्द्र ने सिर पर छत्र धारण किया। महेन्द्र इंद्र उत्तम खड्ग लेकर चले। ब्रह्मेन्द्र ने दर्पण लिया, लांतक इंद्र ने पूर्ण कुंभ लिया, महाशुक्रेन्द्र ने स्वस्तिक लिया, सहस्रार इंद्र ने धनुष लिया, प्राणताधीश ने श्रीवत्स धारण किया,

अच्युतेन्द्र ने नंदावर्त उठाया और अन्य चरमेन्द्र आदि इन्द्र थे। वे अनेक प्रकार के शस्त्रधारी होकर आगे चले। इस प्रकार पिता और दशार्द्ध, शिवादेवी आदि माताएँ, और रामकृष्णादि बंधुओं से घिरे हुए महामनस्वीर भगवंत राजमार्ग पर चल गये। जब प्रभु उग्रसेन के गृह के नजदीक आये, तब उनको देखकर राजीमति सद्य नवीन शोक उत्पन्न होने पर बारबार मूर्च्छित होने लगी। प्रभु तो अविच्छिन्न गमन करते हुए उज्ज्यंतगिरि के आभूषण रूप और नंदनवन जैसे सहस्राम्रवन नामक उपवन में पधारे।

(गा. 236 से 245)

उस समय नये खिले हुए केतकी के पुष्पों से मानो स्मितहास्य करता हो और गिरे हुए अनेक जामुन के फलों से मानो वहाँ की पृथ्वी नीलमणि से बंधी हुई हो, ऐसा वह वन लगता था। अनेक स्थानों पर कदम्ब के पुष्पों की शय्या में उन्मत्त भँवरें सोए हुए थे, मयूर नृत्य करते हुए ध्वनि से तांडव कर रहे थे। कामदेव के अस्त्र के अंगारे हों वैसे इंद्रवर्ण के पुष्प खिल रहे थे। मालती तथा जूही के पुष्पों की सुगंध लेने के लिए अनेक पथिक जन स्वस्थ होकर बैठे थे। ऐसे अति सुंदर उद्यान में आकर प्रभु शिबिका में से नीचे उतरे। पश्चात् शरीर पर से सर्व आभूषण उतारे। तब इंद्र ने आभूषण उनसे लेकर कृष्ण को दिये। जन्म से तीन वर्ष जाने के पश्चात् श्री नेमिप्रभु ने श्रावण मास की शुक्ल षष्ठी को पूर्वाह्न काल (दोपहर के आगे) चंद्र का चित्रा नक्षत्र में आने पर छठ तप करके पंचमुष्टि लोच किया। शक्रेन्द्र ने केश लिये और प्रभु के स्कंध पर देवदूष्य वस्त्र रखा। तब शक्रेन्द्र ने उन केशों को क्षीरसागर में बहा दिया और आकर सारा कोलाहल शांत किया। तब प्रभु ने सामायिक उच्चारण किया। उसी समय जगद्गुरु को चौथा मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ और क्षणभर के लिए नारकियों को भी सुख हुआ। नेमिनाथजी के पीछे एक हजार राजाओं ने भी दीक्षा ली। तब इंद्र और कृष्ण प्रमुख आदि प्रभु को नमन करके अपने-अपने स्थान पर गये।

(गा. 246 से 254)

दूसरे दिन प्रभु ने गोष्ठ में रहने वाले वरदत्त नामके ब्राह्मण के घर परमात्र से पाखा किया। उस समय उसके घर में सुगंधित जल और पुष्प की वृष्टि, आकाश में दुंदुभि की गंभीर ध्वनि, चेलोत्क्षेप (वस्त्र की वृष्टि) और वसुधारा यानि द्रव्य की वृष्टि आदि पाँच दिव्य देवताओं द्वारा प्रकट किये। पश्चात् घाती

कर्म का क्षय करने में उद्यत हुए नेमिनाथ जी निवृत्त होकर वहाँ से अन्यत्र विहार करने में प्रवृत्त हुए।

(गा. 255 से 257)

श्री नेमिनाथजी के दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उनका अनुज बंधु रथनेमि राजीमति को देखकर कामातुर होकर इंद्रियों के वश हो गया। इससे वह हमेशा अपूर्व वस्तुएँ भेजकर राजीमति की सेवा करने लगा। उस भाव को नहीं जानने वाली इस मुग्धा ने उसका निषेध भी किया नहीं। राजीमति तो यह समझती कि यह रथनेमि बड़े भाई के स्नेह के कारण मेरी उपासना करता है और रथनेमि यह समझता था कि यह राजीमति का मुझ पर राग होने से मेरी सेवा स्वीकार कर रही है? तुच्छ बुद्धिवाला वह नित्य राजीमति के यहाँ जाता और भ्रातृजाया (भाभी) के बहाने से उसके साथ हास्य किया करता। एक बार एकान्त देखकर उसने राजीमति से कहा कि 'अरे मुग्धे! मैं तुमसे विवाह करने को तैयार हूँ, तू अपने यौवन को क्यों वृथा गवाँ रही है? हे मृगाक्षि! मेरा बंधु तो भोगों से अनभिज्ञ था, इससे उसने तेरा त्याग किया, तो इस प्रकार करके वह तो भोगसुखों से ठगाया है, परंतु अब तुम्हारी क्या गति? हे कमल समान उत्तम वर्णवाली! तूने उसकी प्रार्थना की, तो भी वह तुम्हारा पति हुआ नहीं, और मैं तो तेरी प्रार्थना कर रहा हूँ, इससे देख, हम दोनों में कितना अंतर है? इस प्रकार रथनेमि के वचन सुनकर उसके पूर्व के सर्व उपचारों का हेतु स्वभाव से ही सरल आशयवाली राजीमति को ख्याल में आया। तब इस धर्मज्ञ बाला ने धर्म का स्वरूप कहकर उसे बहुत बोध दिया, तथापि यह दुर्भति उस दुष्ट अध्यवसाय से विराम नहीं पा सका।

(गा. 258 से 266)

एक बार उसको समझाने के लिए सद्बुद्धिवान् राजीमति ने कंठ तक दूध का पान किया, और जब रथनेमि आया, तब वमन कराने वाला मदनफल खाया तब रथनेमि को कहा कि 'एक सुवर्ण का थाल ला।' शीघ्र ही वह सुवर्ण का थाल ले आया, तब उसमें उसने पान किया हुआ सब दूध का वमन कर डाला। तब रथनेमि को कहा कि 'तुम इस दूध का पान कर लो।' रथनेमि बोला– 'क्या मैं श्वान की तरह वमन किए हुए का पान करने वाला हूँ?' तब राजीमति बोली– 'क्या यह पीने योग्य नहीं है, ऐसा तुम मानते हो?' रथनेमि

बोला– केवल मैं नहीं, परंतु बालक भी यह तो जानता ही है। राजीमति ने कहा– 'अरे यदि तू जानता है तो नेमिनाथ ने मेरा वमन कर दिया है, तो भी मेरा उपभोग करना क्यों चाहता है? फिर उनका ही भ्राता होकर तू ऐसी इच्छा क्यों करता है? इसलिए अब इसके बाद नारकी का आयुष्य बंधन कराने वाले ऐसे वचन नहीं बोलना।' इस प्रकार राजीमति के वचन सुनकर रथनेमि मौन हो गया। पश्चात् लज्जित होता हुआ और मनोरथ क्षीण हो जाने से विमनस्क रूप से अपने घर चला गया।

(गा. 267 से 273)

राजीमति नेमिनाथ में ही अनुराग धारण कर संवेग प्राप्त होने पर वर्ष जैसे दिन व्यतीत करने लगी। नेमिनाथ जी व्रत लेने के पश्चात् 54 दिन तक विहार करते हुए पुनः रैवतगिरि के सहस्राम्रवन नामक उद्यान में आए। वहाँ वैतसना वृक्ष के नीचे अट्ठम (तेले) का तप करके ध्यान धरते हुए नेमिनाथजी के घाती कर्म टूट गए, अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इससे आश्विन मास की अमावस्या के दिन प्रातःकाल में चंद्र के चित्रा नक्षत्र में आने पर श्री अरिष्टनेमिजी को केवल्यज्ञान उत्पन्न हुआ। तत्काल ही आसन चलायमान होने से सर्व इंद्र वहाँ आये, उन्होंने तीन प्रकार से शोभित समवसरण रचा। उसमें पूर्वद्वार से प्रवेश करके एक सौ बीस धनुष ऊँचे चैत्यवृक्ष की प्रदक्षिणा देकर 'तीर्थाय नमः' ऐसा कहकर ये बावीसवें तीर्थंकर पूर्वाभिमुख होकर पूर्व सिंहासन पर आरूढ़ हुए। नव परिचमादिक तीन दिशाओं में व्यंतर देवताओं ने तीनों दिशाओं में रत्न सिंहासन पर श्री नेमिनाथजी के तीन प्रतिबिंब की विकुर्वणा की। तब चारों प्रकारों के देव–देवियाँ चन्द्र पर चकोर जैसे प्रभु के मुख पर दृष्टि स्थापित करके योग्य स्थान पर बैठीं। इस प्रकार भगवन्त समवसरे हैं, ये समाचार गिरिपालकों ने जाकर शीघ्र ही अपने स्वामी कृष्ण वासुदेव को कहे। तब वे साढ़े बारह कोटि द्रव्य देकर शीघ्र ही श्री नेमिनाथजी को वंदन की इच्छा से गजारूढ़ होकर चल दिये। दसों दशार्द, अनेक माताएँ, अनेक भाईयों कोटि संख्या में कुमार, सर्व अंतःपुर और सोलह हजार मुकुटबंध राजाओं से परिवृत श्री कृष्ण विपुलसमृद्धि के साथ समवसरण में आए। दूर से ही गजेन्द्र से उतर कर, राज्य चिह्न छोड़कर, उत्तरद्वार से समवसरण में उन्होंने प्रवेश किया। श्री नेमिनाथ प्रभु को प्रदक्षिणा देकर, नमन करके कृष्ण इंद्र के पीछे बैठे। अन्य सभी भी अपने अपने योग्य स्थान पर बैठे। पश्चात् इंद्र और उपेन्द्र (कृष्ण) ने

पुनः खड़े होकर नेमिप्रभु को नमस्कार करके भक्ति से पवित्र वाणी द्वारा स्तुति करना प्रारम्भ किया।

(गा. 274 से 289)

'हे जगन्नाथ! सर्व विश्व के उपकारी, जन्म से ब्रह्मचारी, दयावीर और रक्षक आपको हमारा नमस्कार हो। हे स्वामिन्! चौवन दिन में शुक्लध्यान से आपने घाती कर्मों का घात किया, यह हमारे ही भाग्ययोग से बहुत ही अच्छा हुआ है। हे नाथ! आपके केवल यदुकुल को ही शोभित किया है ऐसा नहीं है, परंतु केवलज्ञान के आलोक में सूर्य रूपी प्रभु आपने त्रैलोक्य को भी शोभित किया है। हे प्रभु! यह संसार सागर जो कि अपार एवं अगाध है। वह आपके प्रासाद से घुटने तक मात्र ऊँडा और गाय के खुर जितना लघु हो जाता है। हे नाथ! सर्व का हृदय ललनाओं के ललित चरित्र से बिंद जाता है, परन्तु इस जगत में आप एक ही उससे अमेघ और वज्र के जैसे हृदयवाले रहे हो, अन्य कोई वैसा नहीं है। हे प्रभु! आपको व्रत लेने में निषेध करने वाली जो बंधुओं की वाणी हुई थी वह अभी आपकी इस समृद्धि को देखने से पश्चाताप में परिणित हो गई है। उस समय दुराग्रही बंधुवर्ग से हमारे भाग्य के बल से ही आप स्खलित केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसे आप हमारी रक्षा करो। हे देव! जहाँ वहाँ रहे हुए और जैसे तैसे करते हुए हमारे हृदय में आप विराजित रहना, अन्य किसी की हमको आवश्यकता नहीं है।' इस प्रकार स्तुति करके इंद्र और कृष्ण ने विराम लिया। तब प्रभु ने सर्व भाषा को अनुसरती ऐसी वाणी द्वारा धर्मदेशना प्रारंभ की।

(गा. 290 से 298)

सर्व प्राणियों के लिये लक्ष्मी विद्युत के विलास जैसी चपल है। संयोग अंत में वियोग को ही प्राप्त करने वाला तथा स्वप्न में प्राप्त हुआ द्रव्य जैसा है। यौवन मेघ की छाया जैसा नाशवंत है। प्राणियों का शरीर जल के बुदबुदे जैसा है। इससे इस असार संसार में कुछ भी सारभूत नहीं है। मात्र ज्ञान, दर्शन और चारित्र का पालन यही सारभूत है। उसमें तत्त्व पर जो श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन कहलाता है। यथार्थ तत्त्व का बोध यह ज्ञान कहलाता है, और सावद्य योगों से विरति, वह मुक्ति का कारण चारित्र कहलाता है। वह चारित्र मुनियों को सर्वात्मरूप से तथा गृहस्थों को देश से होता है। श्रावक यावत् जीवन पर्यन्त देश

चारित्र में तत्पर, सर्व साधुओं का उपासक और संसार के स्वरूप का ज्ञाता होता है। श्रावक को १. मदिरा, २. मांस, ३. मक्खन, ४. मधु, ५–९. पांच प्रकार के उंबरादि वृक्ष के फल, १०. अनन्तकाय, ११. अज्ञात फल, १२. रात्रिभोजन, १३. कच्चे गोरस (दूध, दही, छाछ) के साथ दालों का मिलाना, द्विदल, १४. पुष्पितभात (बासी भोजन), चलितरस अर्थात् दो दिन व्यतीत हुआ दही और बिगड़ा हुआ अन्न अर्थात् चलित रस काल व्यतीत होने के बाद की मिठाईयाँ आदि सर्व अभक्ष्य (अर्थात् हिम, बर्फ, करा–ओले, सर्व प्रकार का विष, कच्ची मिट्टी, नमक आदि, तुच्छ फल, संधानक–बोर आदि का अचार, बहुबीज और बैंगन आदि) का त्याग करना चाहिए।

(गा. 299 से 306)

जिस प्रकार पुरुष चतुर भी हो परंतु दुर्भाग्य के उदय से स्त्री उससे दूर रहती है– चाहती नहीं है। वैसे ही मदिरापान करने से बुद्धि नष्ट हो जाती है। मदिरा के पान से जिनका चित्त परवश हुआ है, ऐसे पापी पुरुष माता को प्रिय मानते हैं और प्रिय को माता मानते हैं। वे चित्त चलित हो जाने से अपने या पराये के या पराये या अपने पदार्थों को जानते नहीं है। स्वयं रंक होने पर भी स्वामी हो बैठते हैं और अपने स्वामी को किंकर समान गिनते हैं। शव की तरह चौराहे पर आलोटते मद्यपायी (शराबी) के मुख में श्वान विवर समझकर पेशाब करता है। मद्यपान के रस में मग्न हुआ मनुष्य नग्न होकर चौट (चौपड़) में सो जाता है और सहज में अपना गुप्त अभिप्राय को भी प्रकाशित कर देता है। जिस प्रकार विचित्र चित्र की रचना भी काजल मिटाने से नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मदिरा के पान से कांति, कीर्ति, भिति और लक्ष्मी चली जाती है, शराबी भूत की तरह नाचता है, शोक युक्त हो ऐसा चिल्लाता है और दाहज्वर हुआ हो, वैसा पृथ्वी पर लौटता है। मदिरा हलाहल विष की तरह अंग को शिथिल कर देती है, इंद्रियों को ग्लानि देती है, और मूर्च्छित कर देती है। अग्नि की एक चिनगारी से जैसे तृण का बड़ा ढेर भस्म हो जाता है, वैसे ही मद्यपान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया और क्षमा सर्व विलीन हो जाता है। मदिरा के रस में बहुत से जीवजंतुओं का उद्भव हो जाता है, इसलिए हिंसा के पाप से भीरू पुरुष को कदापि मदिरापान नहीं करना चाहिए। शराबी जिसे कुछ दिया हो उसे नहीं दिया कहता है, लिया हो उसे नहीं लिया कहता है, किया हो

उसे नहीं किया कहता है और राज्यादि मिथ्या अपवाद देकर स्वेच्छा से बकता रहता है। मूढ़बुद्धि वाला शराबी वध बंध आदि का भय छोड़कर घर, बाहर या मार्ग में जहाँ भी मिलता हो वहाँ दूसरों के द्रव्य को झपट लेता है। मद्यपान करने से उन्माद से परवश हुआ पुरुष बालिका, वृद्धा, युवती, ब्राह्मणी या चांडाली सर्व जाति की परस्त्री को भी उन्मत्त होकर भोगता है। शराबी मनुष्य रोता, गाता, लोटता, दौड़ता, कोप करता, तुष्ट होता, हँसता, स्तब्ध रहता, नमता, घूमता रहता और खड़ा रहता, इस प्रकार अनेक क्रिया करता हुआ पशुनर की तरह भटकता रहता है। हमेशा जंतुओं के समूह का ग्रास करने पर भी यमराज जैसे तुष्ट नहीं होता वैसे मधुपायी बारम्बार मधुपान करने पर भी थकता नहीं है। सर्व दोषों का कारण मद्य है और सर्व प्रकार की आपत्ति का कारण भी मद्य है, इससे अपथ्य का रोगी उसका त्याग करता है, वैसे मनुष्य को भी उसका त्याग करना चाहिये।

(गा. 307 से 322)

जो प्राणियों के प्राण का अपहार करके मांस खाना चाहता है, वह धर्मरूप वृक्ष के दया नाम के मूल का उन्मूलन करता है। जो मनुष्य हमेशा मांस का भोजन करके भी दया पालना चाहता है, वह प्रज्वलित अग्नि में लता को आरोपित करना चाहता है। मांस भक्षण करने में क्षुब्ध मनुष्य की बुद्धि दुर्बुद्धि वाली डाकण की तरह प्रत्येक प्राणी का हनन करने में प्रवृत्त रहती है। जो दिव्य भोजन करने पर भी मांसाहार करता है, वह अमृत रस को छोड़कर हलाहल विष को खाता है। जो नरक रूप अग्नि में ईंधन जैसे अपने मांस से दूसरे के मांस का पोषण करना चाहता है, उसके जैसा दूसरा कोई निर्दय नहीं है। शुक्र और शोणित से उत्पन्न हुआ और विष्ठारस से बढ़ा हुआ और खून के द्वारा बना हुआ मांस कि जो नरक का फल रूप है, उसका कौन बुद्धिमान् पुरुष भक्षण करे?

(गा. 323 से 333)

अंतर्मुहूर्त के पश्चात् जिसमें अनेक अति सूक्ष्म जंतु उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे मक्खन को विवेकी पुरुष को कभी खाना नहीं चाहिये। एक जीव की हिंसा में कितना पाप लगता है, तो फिर अनेक जंतुमय मक्खन का सेवन कौन करे?

(गा. 334 से 335)

जो अनेक जंतु समूह की हिंसा से उत्पन्न हुआ हो और जो लार के जैसे जुगुप्सा करने योग्य है, ऐसे मधु (शहद) कौन चखे? थोड़े जंतुओं को मारना भी शौनिकहतो जो लाख क्षूद्र जंतुओं के क्षय से उत्पन्न होता इस मधु को कौन खाये? एक एक पुष्प में से रसलेकर मक्खियों का वमन किये हुए मधु को धार्मिक पुरुष कभी चखते भी नहीं।

(गा. 336 से 338)

यदि औषध के रूप में भी मधु का सेवन करने तो वह नरक गति का बंध कराता है, क्योंकि अनेकों के प्राण नाश हो जाने से वह कालकूट विष के कण के समान होता है। जो अज्ञानी मधु के स्वाद की लोलुपता से इसे ग्रहण करते हैं, वे नारकीय वेदनाओं का भी आस्वाद करते हैं। उंबर, बड़, पीपल, काकउंदुबर और पीपल के फल जो बहुत से जंतुओं से आकुलित हो, इससे इन पाँचों वृक्ष के फल कभी खाना नहीं चाहिए। दूसरा भक्ष्य मिला नहीं हो तो और क्षुधा (भूख) से शरीर क्षाम (दुर्बल) हो गया हो तो भी पुण्यात्मा प्राणी उंबर आदि वृक्ष के फल खाते नहीं है।

(गा. 339 से 342)

सर्व जाति के आर्द्र कंद, सर्व जाति की कुपलियाँ सर्व जाति के थोर, लवणवृक्ष की त्वचा, कुमारी (कुंवार) गिरिकर्णिका, शतावरी, विरुढ़, गहुची, कोमल इमली, पल्यंक, अमृत बेल, सूकर जाति के वाल और इसके अतिरिक्त अन्य सूत्रों में कहे हुए अनंतकाय पदार्थ कि जो मिथ्यादृष्टियों से अज्ञात हैं, वे सब दयालु पुरुषों के प्रयत्नपूर्वक वर्जित कर देना चाहिये।

शास्त्र में निषेध करे हुए फल के भक्षण में अथवा विषफल भक्षण में जीव की प्रवृत्ति न हो, इस हेतु से चतुर पुरुषों को स्वयं अथवा अन्य को ज्ञात फल ही खाना चाहिये, अज्ञात फलों को त्याग देना चाहिए।

(गा. 343 से 346)

रात्रि के समय में निरंकुश रूप से घूमते फिरते प्रेत, पिशाच आदि क्षूद्र देवों से अन्न उच्छिष्ट (झूँठा) हो जाता है, इससे रात्रि में भोजन कदापि नहीं करना चाहिए। फिर रात्रि के समय में घोर अंधकार के कारण मनुष्यों की दृष्टि भी अवरुद्ध होने से भोजन में गिरते जंतु देखे नहीं जा सकते, इसलिए ऐसे रात

के समय में कौन भोजन करे? कदाच् यदि भोजन में चींटी आ गई हो तो वह बुद्धि का नाश करती है। जूँ खाने में आ जाए तो उससे जलोदर रोग हो जाता है। मक्खी आ जाय तो उल्टियाँ हो जाती है, छिपकली आ जाए तो कुष्ठ रोग हो जाता है। कांटा या लकड़ी का दुकड़ा खाने में आ जाए तो वह गले को व्यथित करती है। भोजन में यदि बिच्छू आ जाय तो वह तालु को बींध देता है तथा भोजन में केश (बाल) गले में लग जाय तो वह स्वर भंग करता है, इत्यादि अनेक दोष सर्व मनुष्यों ने रात्रि भोजन में देखे हैं। रात्रि में सूक्ष्म जीव–जंतु दिखाई नहीं देते। इसलिए प्रासुक (अचित्त) पदार्थ भी रात्रि में खाना नहीं चाहिये। क्योंकि उस समय उनमें भी अवश्य ही अनेक जंतुओं की उत्पत्ति संभवित है। जिसमें जीवों का समूह उत्पन्न होता है, ऐसे भोजन को रात्रि में खाने वाले मूढ़ पुरुष राक्षसों से भी अधिक दुष्ट क्यों न कहे जाए? जो मनुष्य दिन–रात खाता ही रहता है, वह शृंग (सींग) पूँछ बिना का साक्षात् पशु ही है। रात्रि भोजन के दोषों को जानने वाला मनुष्य दिन के प्रारंभ की और अंत की दो–दो घड़ी का त्याग करके भोजन करता है, वह पुण्य का भाजन होता है। रात्रि भोजन के त्याग का नियम किये बिना भेल कोई मनुष्य मात्र दिन में ही भोजन क्यों न करता हो तो भी वह उसके सम्यक् फल को प्राप्त नहीं करता क्योंकि किसी को रूपये देने पर भी ऋण का खुलासा किये बिना ब्याज नहीं मिल सकता। जो जड़ मनुष्य दिन का त्याग करके रात्रि को ही भोजन करते हैं, वे रत्न का त्याग करके काँच का स्वीकार करते हैं। रात्रि भोजन करने से मनुष्य परभव में उल्लू, कौआ, बिल्ली, गिद्द, शंबर, मृग, सूअर, साँप, बिच्छू और गधा अथवा गृह गोधा (छिपकली) के रूप में उत्पन्न होते हैं। जो धन्य पुरुष सर्वदा रात्रि भोजन की निवृत्ति करते हैं, वे अपने आयुष्य के अर्धभाग के अवश्य उपवासी होते हैं। रात्रि भोजन का त्याग करने में जितने गुण रहे हैं, वे सद्गति उत्पन्न करने वाले है। ऐसे सर्व गुणों के गिनने में कौन समर्थ है?

(गा. 347 से 361)

कच्चे गोरस (दूध, दही और छाछ) में द्विदल अर्थात् जिस अन्न की दो फाड़े हो जाती हैं वे दालें आदि को मिलाने से उसमें उत्पन्न होने वाले सूक्ष्मजंतुओं को केवली भगवंत ने देखे हैं, इससे उसका भी त्याग करना चाहिए। दया धर्म में तत्पर मनुष्यों को जंतुओं से मिश्रित ऐसे फल, पुष्प और पत्र (पत्तों) का त्याग

करना चाहिए तथा जीव मिश्रित अचारों का कि जिसमें दीर्घकाल तक रहने से बहुत से त्रस जंतु उत्पन्न होते हों, उनका भी त्याग करना चाहिए।

(गा. 362 से 364)

ऐसी प्रभु की देशना सुनकर वरदत्त राजा संसार से परम वैराग्य प्राप्त कर व्रत लेने को उत्सुक हो गये। तब कृष्ण ने भगवंत को नमस्कार करके पूछा कि 'हे भगवन्! आप पर सभी जन अनुरागी हैं, परंतु राजीमति को सर्व की अपेक्षा विशेष अनुराग होने का क्या कारण है? वह फरमाइए।' तब प्रभु ने धन और धनवती के भव से लेकर आठ भवों का उसके साथ का संबंध कह सुनाया। तब जोड़ कर प्रभु से विज्ञप्ति की कि– 'हे नाथ! स्वाति नक्षत्र में मेघ से पुष्करों (सीपों) में मुक्ताफल उत्पन्न होते हैं, वैसे आपसे प्राप्त श्रावक धर्म भी प्राणियों को महाफलदायक होता है। परंतु आप तो गुरू रूप हो आपसे मिलने व दर्शन करने मात्र से मैं संतोष प्राप्त नहीं करता, क्योंकि कल्पवृक्ष प्राप्त होने पर मात्र उसके पत्तों की इच्छा कौन करे? इसलिए मैं तो आपका प्रथम शिष्य होना चाहता हूँ। अतः हे दयानिधि! मुझ पर दया करके मुझ संसारतारिवी दीक्षा दो। इस प्रकार राजा के कहने पर प्रभु ने तत्काल दीक्षा दी तथा उसके पश्चात् दो हजार क्षत्रियों ने दीक्षा ग्रहण की।

(गा. 365 से 371)

पूर्व में धन के भव में जो धनदेव और धनदत्त नाम के दो बंधु थे वे और अपराजित के भव में विमलबोध नामका जो मंत्री था वह, तीनों स्वामी के साथ में भवभ्रमण करके इस भव में राजा हुए थे और समवसरण में आए हुए थे। उनको राजीमति के प्रसंग से अपना पूर्व भव सुनने में आने पर शीघ्र ही जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे अपूर्व वैराग्य संपत्ति को प्राप्त करके उन्होंने श्री अरिष्टनेमि प्रभु के पास उसी वक्त व्रत ग्रहण किया। तब जगद्गुरु नेमिनाथ प्रभु ने उनके साथ वरदत्त आदि ग्यारह गणधरों की विधिपूर्वक स्थापना की और उन्होंने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रिपदी का उपदेश दिया। उस त्रिपदी के अनुसार उन्होंने शीघ्र ही द्वादशांगी की रचना की। बहुत सी कन्याओं से घिरी हुई यक्षिणी नाम की राजपुत्री ने उसी समय दीक्षा ली, तब उसे प्रभु ने प्रवर्तिनी पद पर स्थापित किया। दश दशार्द, उग्रसेन, वासुदेव, लगणा और प्रद्युम्न आदि कुमारों ने श्रावक व्रत ग्रहण किया। शिवा, रोहिणी, देवकी तथा

रुक्मिणी आदि तथा अन्य स्त्रियों ने भी श्रावक व्रत ग्रहण किया, अतः वह श्राविकाएं हुई। इस प्रकार उसी समवसरण में पृथ्वी को पवित्र करने वाले चतुर्विध धर्म की तरह चतुर्विध संघ स्थापित हुआ। प्रथम पौरूषी पूर्ण होने पर प्रभु ने देशना पूर्ण की, तब दूसरी पौरुषी में वरदत्त गणधर ने देशना दी। पश्चात् इंद्र आदि देवतागण एवं कृष्ण प्रमुख राजा प्रभु को नमन करके अपने अपने स्थान पर गये।

(गा. 372 से 383)

श्री नेमिनाथ प्रभु के तीर्थ में तीन मुखवाला, श्यामवर्णी, मनुष्य का वाहनवाला, तीन दक्षिण दिशा में बिजोरा, परशु और चक्र धारण करने वाला तथा तीन वाम भुजा में नकुल, त्रिशूल और शक्ति को धारण करने वाला गोमेध नाम का यक्ष शासनदेवता हुए और सुवर्ण समान कांति वाली, सिंह के वाहन पर आरूढ़, दो दक्षिण भुजा में आज की लुम्ब (टहनी) और पाश को धारण करने वाली और दो वाम भुजा में पुत्र और अंकुश को धारण करने वाली कुष्मांडी अथवा अंबिका नाम की प्रभु की शासन देवी हुई। ये दोनों शासन–देवता प्रभु के सान्निध्य में निरन्तर रहते थे। प्रभु वर्षा और शरदऋतु का उल्लंघन करके भद्र गजेन्द्र की तरह गति करते हुए लोगों के कल्याण के लिए वहाँ से अन्यत्र विहार करने में प्रवृत्त हुए।

(गा. 384 से 388)

दशम सर्ग

पांडव कृष्ण की कृपा से अपने हस्तिनापुर नगर में रहते और द्रौपदी के साथ बारी के अनुसार हर्ष से क्रीड़ा करते थे। एक बार नारद घूमते–घूमते द्रौपदी के घर आए। तब यह अविरत है 'ऐसा समझकर द्रौपदी ने उनका सत्कार किया नहीं। इससे यह द्रौपदी किस प्रकार दुःखी हो ऐसा सोचते हुए नारद क्रोधित होकर उसके घर में से निकले। परन्तु इस भरतक्षेत्र में तो कृष्ण के भय से उसका कोई अप्रिय करे वैसा दिखाई नहीं दिया। इसलिए वे घातकीखंड के भरतक्षेत्र में गये। वहाँ चम्पानगरी में रहने वाला कपिल नामक वासुदेव का सेवक पद्मनाभ का राजा, अमरकंका नगरी का स्वामी जो व्याभिचारी था, उसके पास नारद आए। तब राजा ने उठकर नारद को सन्मान दिया और अपने अंतःपुर में ले गये। वहाँ अपनी सर्व स्त्रियाँ बताकर कहा कि 'हे नारद! आपने ऐसी स्त्रियाँ किसी अन्य राजा के अंतःपुर में देखी हैं? उस समय नारद ने इससे मेरा इरादा सिद्ध होगा ऐसा विचार कर कहा कि– 'राजन्! कुँए के मेंढ़क की तरह ऐसी स्त्रियों से तू क्या हर्षित होता है? जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नगर में पांडवों के घर द्रौपदी नामकी स्त्री है, वह ऐसी स्वरूपवान् है कि उसके समक्ष ये तेरी सारी स्त्रियाँ दासी समान हैं।' ऐसा कहकर नारद वहाँ से उड़कर अन्यत्र चले गए। नारद के जाने के बाद पद्मनाभ राजा ने द्रौपदी को प्राप्त करने की इच्छा से अपने पूर्व संगति वाले एक पातालवासी देव की आराधना की। इससे उस देव ने प्रत्यक्ष होकर कहा कि 'हे पद्मनाभ! कहो, तुम्हारा क्या काम करूँ? तब पद्म ने कहा, 'द्रौपदी को लाकर मुझे अर्पण करो।' देव ने कहा कि 'ये द्रौपदी पांडवों को छोड़कर अन्य किसी को चाहती नहीं है।' परंतु तेरे आग्रह से मैं उसे ले आता हूँ। ऐसा कहकर वह देव तत्काल हस्तिनापुर आया और अस्विप्नी निद्रा द्वारा सबको निद्रावश करके निद्राधीन हुई द्रौपदी

का वहाँ से रात्रि में हरण कर लिया। उसे पद्म को अर्पण करके देव अपने स्थान पर चला गया। जब द्रौपदी जागृत हुई अपने आपको अन्यत्र पाकर सोचने लगी कि क्या यह स्वप्न है या इन्द्रजाल ? उस समय पद्मनाभ ने उनको कहा कि– 'हे मृगाक्षि! तू भयभीत मत हो, मैं ही तेरा यहाँ हरण करवा लाया हूँ। इसलिए यहाँ मेरे साथ रहकर भोगों को भोग। यह घातकी खंड नाम का द्वीप है, उसमें यह अमरकंका नाम की नगरी है, मैं इसका पद्मनाभ नाम का राजा हूँ, जो तेरा पति होने का इच्छुक हूँ।' यह सुनकर प्रत्युत्पन्न मति बोली कि 'रे भद्र! एक मास के अन्दर जो कोई मेरा संबंधी यहाँ आकर मुझे न ले जाय तो बाद में मैं तुम्हारा वचन मान्य कर लूँगी।' पद्मनाभ ने सोचा कि 'यहाँ जंबूद्वीप के मनुष्यों की गति एकदम अशक्य है, इससे इसके वचन को मान्य करने में कोई कठिनाई नहीं है।' ऐसा सोचकर कपटी पद्मनाभ ने उसका कहना मान लिया। 'तब मैं पति के बिना एक मास तक भोजन करूँगी नहीं' ऐसा पतिव्रत रूप महासती द्रौपदी ने अभिग्रह धारण किया।

(गा. 1 से 19)

इधर पांडवों ने प्रातःकाल द्रौपदी को देखा नहीं, तब वे जल, स्थल और वनादि में उसकी बहुत खोज करने लगे। जब किसी भी स्थान पर द्रौपदी के कुछ भी समाचार नहीं मिले तब उनकी माता ने जाकर कृष्ण को बताया। कारण कि वे ही उनके शरणरूप और संकट वियोग में बंधुरूप थे। कृष्ण कार्य में दृढ़ होकर विचाराधीन हो गए। इतने में अपने द्वारा कृत अनर्थ को देखने के लिए नारद मुनि वहाँ आए, तब कृष्ण ने नारद को पूछा कि 'तुमने किसी स्थान पर द्रौपदी को देखा है ? नारद ने कहा कि 'मैं घातकी खंड में अमरकंका नगरी में गया था, वहाँ के राजा पद्मनाभ के घर मैंने द्रौपदी को देखा है।' ऐसा कहकर वे वहाँ से अन्यत्र चले गये। कृष्ण ने पांडवों से कहा कि पद्मनाभ ने द्रौपदी का हरण किया है, इससे मैं वहाँ जाकर द्रौपदी को ले आऊँगा। इसलिए तुम खेद मत करो। तब कृष्ण पांडवों को लेकर विपुल सैन्य के साथ मगध नामके पूर्व सागर के तट पर गये। वहाँ पांडवों ने कहा, 'स्वामिन्!' यह समुद्र संसार की तरह अत्यन्त भयंकर, पारावार और उद्धृत है। यहाँ किसी स्थान पर बड़े बड़े पर्वत एक पत्थर की तरह उसमें निमग्न हो गए हैं, किसी स्थान पर बड़े पर्वत जैसे जलजंतु इसमें रहे हुए हैं। किसी स्थान पर समुद्र को शोषण करने की प्रतिज्ञा करके बड़वानल रहा हुआ है। किसी स्थान पर कैवर्त की तरह बेलंधर

देवता रहे हुए हैं। किसी स्थान पर अपने तरंग से उस मेघ का भी कमंडल की तरह उद्वर्तन करता है। यह समुद्र मन से भी अलंघ्य है। तो इसे देह से कैसे उल्लंघन कर सकेंगे? पांडवों के ऐसे वचन सुनकर 'तुमको क्या चिंता है?' ऐसा कहकर शुद्ध हृदय वाले कृष्ण ने उसके तट पर बैठकर उसके अधिष्ठायिक सुस्थित नामक देव की आराधना की। तत्काल वह देव प्रकट होकर बोला– 'मैं क्या कार्य करूँ? कृष्ण ने कहा कि– हे लवणोदधि के अधिष्ठायक देव! पद्मनाभ राजा ने द्रौपदी का हरण किया है, तो जिस प्रकार भी घातकीखंड में से द्रौपदी को ले जाकर जैसे उसे सौंपी है, वैसे ही मैं लाकर उसे आपको सौंप दूं अथवा यह बात जो आपको नहीं रुचती हो तो बल, वाहन सहित इस पद्मनाभ को समुद्र में फेंककर द्रौपदी को लाकर आपको अर्पण करूँ। कृष्ण ने कहा कि 'ऐसा करने की जरूरत नहीं है।' मात्र इन पांडवों और मैं इन छः पुरुषों के द्वारा रथ में बैठकर जाया जाय वैसा जल में अनाहत मार्ग दे दो कि जिससे हम वहाँ जाकर उस बेचारे को जीत कर द्रौपदी को यहाँ ले जावें। यह मार्ग हमको यश देने वाला है। तब उस सुस्थित देव ने वैसा ही किया। तब कृष्ण पांडव सहित स्थल की तरह समुद्र का उल्लंघन करके अमरकंका नगरी में पहुँचे। वहाँ उस नगर के बाहर उद्यान में रहकर कृष्ण ने दारुक सारथि को समझाकर पद्मनाभ राजा के पास दूत के रूप में भेजा। दारुक तुरंत ही वहाँ गया और पद्म के चरण पीठ को अपने चरण से दबाता, भयंकर भृकुटी चढ़ाता और भाले के अग्रभाग पर से कृष्ण के लेख को देता हुआ पद्म को इस प्रकार बोला– 'अरे पद्म राजा! जिसे कृष्ण वासुदेव की सहायता है, ऐसी पांडवों की स्त्री द्रौपदी को जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में से तू हरण करके ले आया है। वे कृष्ण पांडवों के साथ समुद्र के द्वारा दिये गए मार्ग से यहाँ आ गये हैं, इसलिए अब जीना चाहता है तो शीघ्र ही वह द्रौपदी कृष्ण को सौंप दे। पद्मराजा बोला– 'यह कृष्ण तो जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के वासुदेव है, यहाँ तो ये छः ही जने मेरे सामने क्या है? इसलिए जा, उनको युद्ध के लिए तैयार कर। दारुक ने आकर कृष्ण को सब कथन कह सुनाया। इतने में तो पद्मनाभ राजा भी युद्ध का इच्छुक होकर तैयारी करके सेना लेकर नगर के बाहर निकला। समुद्र की तरंग की भांति उसके सैनिक उछल उछलकर टूट कर गिरने लगे। उस समय कृष्ण ने नेत्र को विकसित करके पांडवों को कहा कि तुम इस पद्मराजा के साथ युद्ध करोगे या मैं युद्ध करूँ, वह रथ में बैठकर देखोगे? पांडवों ने कहा– प्रभु! या तो आज पद्मनाभ

राजा रहेगा या हम राजा रहेगें। ऐसी प्रतिज्ञा लेकर हम पद्मनाभ के साथ युद्ध करेंगे।' कृष्ण ने यह बात स्वीकारी। तब वे पद्मनाभ के साथ युद्ध करने के लिए गये। पद्म ने क्षणभर में ही उनको हरा दिया। इसलिए उन्होंने कृष्ण के पास आकर कहा कि, 'हे स्वामिन्! यह पद्मनाभ तो बहुत बलवान् है और बलवान् सैन्य से ही आवृत्त है। इसलिए यह तो तुम से ही जीता जा सकता है, हम से नहीं जीता जा सकता है, इसलिए अब आपको जो योग्य लगे वैसा करें। कृष्ण बोले– 'हे पांडवों! तब से तुमने पद्मनाभ राजा या हम राजा ऐसी प्रतिज्ञा ली थी, तब से ही तुम हार ही गये हो।'' तब मैं राजा हूँ, पद्मनाभ नहीं ऐसा कहकर कृष्ण युद्ध करने चले और महाध्वनि वाला पाँचजन्य शंख फूँका। सिंह की गर्जना से मृग के टोले की गति की तरह उस शंख के नाद से पद्मनाभ राजा के सैन्य का तीसरा भाग टूट गया। तब कृष्ण ने शार्ङ्ग धनुष का टंकार किया, तो उसकी ध्वनि से दुर्बल डोरी की तरह पद्मनाभ के लश्कर का दूसरा तीसरा भाग टूट गया। जब स्वयं के सैन्य का तृतीयांश अवशेष रहा, तब पद्मनाभ राजा रणभूमि में से भाग कर तत्काल अमरकंका नगरी में घुस गया एवं लोहे की अर्गला द्वारा नगरी के दरवाजे बंद कर दिये। कृष्ण क्रोध से प्रज्वलित होकर रथ से नीचे उतर पड़े और तत्काल समुद्घात द्वारा देवता बनाए वैसे नरसिंह रूप धारण किया। यमराज के जैसे क्रोधायमान होकर दाड़ो खोलकर (फैलाकर) भयंकर रूप से मुख को फाड़ा। उग्र गर्जना करके नगरी के द्वार पर दौड़कर पैर से घात किया। इससे शत्रु के हृदय के साथ सर्व पृथ्वी कंपायमान हो गई। उनके चरणघात से किले का अग्रभाग टूट गया। देवालय गिर पड़े और कोट की दीवारें टूट गई। इन नरसिंह के भय से उस नगर में रहने वाले लोगों में से अनेक खड्डों में छुप गये, अनेक जल में घुस गये और अनेक मूर्च्छित हो गये। उस समय पद्मनाभ राजा द्रौपदी की शरण में आकर कहने लगा– 'हे देवी! मेरा अपराध क्षमा करो और यमराज जैसे इस कृष्ण से मेरी रक्षा करो।' द्रौपदी बोली– 'हे राजन् मुझे आगे करके स्त्री का वेश पहनकर यति कृष्ण के शरण में जाएगा तो ही जीवित रह सकोगे। अन्यथा जिंदा भी नहीं रह सकोगे।' तब वह उसी प्रकार करके कृष्ण की शरण आया और नमस्कार किया। पद्मनाभ को शरण में आया देखा तब कृष्ण ने कहा कि 'अब तू भयभीत मत हो।' ऐसा कहकर पांडवों को द्रौपदी सुपुर्द की और रथारूढ़ होकर कृष्ण जिस मार्ग से आए थे उसी मार्ग से वापिस लौटने लगे।

(गा. 20 से 63)

उस समय उस धातकीखंड में चंपानगरी के पूर्णभद्र नामक उद्यान में भगवान श्री मुनिसुव्रत प्रभु समवसरे थे। उनकी सभा में कपिल वसुदेव बैठे थे। उन्होंने प्रभु को पूछा कि, 'स्वामिन्! मेरे जैसा यह किसके शंख का नाद सुनाई दे रहा है! तब प्रभु ने कहा, 'यह कृष्ण वासुदेव के शंख की ध्वनि है।' तब कपिल ने पूछा, 'क्या एक स्थान पर दो वासुदेव हो सकते हैं?' तब प्रभु ने द्रौपदी, कृष्ण और पद्मराजा का सर्ववृत्तांत कह सुनाया। तब कपिल ने कहा, 'हे नाथ! जंबूद्वीप के अर्द्ध भरतक्षेत्राधिपति कृष्ण वासुदेव का अन्यागत अतिथि की तरह मैं आतिथ्य करूँ?' प्रभु बोले, 'जैसे एक स्थान पर दो तीर्थंकर और दो चक्रवर्ती मिलते नहीं है, वैसे ही दो वासुदेव भी कारणयोग से एक क्षेत्र में आने पर भी नहीं मिलते।' ऐसे अर्हत् के वचन सुने। तो भी कपिल वासुदेव कृष्ण को देखने में उत्सुक होने पर, उसके रथ के चाले–चीले चलकर समुद्र तट के ऊपर आए। वहाँ समुद्र के बीच में हाकर जाते कृष्ण तथा पांडवों के रूपा और सुवर्ण के पात्र जैसा श्वेत और पीले रथ की ध्वजा उन्हें दिखाई दी। तब मैं कपिल वासुदेव तुमको देखने के लिए उत्कंठित होकर समुद्र किनारे आया हूँ, अतः वापिस आओ। ऐसा स्पष्ट अक्षर समझ में आवे वैसा उसने शंखनाद किया। इसके उत्तर में हम बहुत दूर निकल गये हैं, इसलिए अब कुछ कहना उचित नहीं, ऐसे स्पष्ट अक्षर की ध्वनि वाला शंख कृष्ण उसके जवाब में फूँका। उस शंख की ध्वनि को सुनकर कपिल वासुदेव वापिस लौट आए और अमरकंका पुरी में आकर 'यह क्या किया? इस प्रकार पद्मराजा को पूछा। तब उसने अपने अपराध की बात कहकर फिर बताया कि, हे प्रभु! आप जैसे स्वामी के होने पर भी भरतक्षेत्र के वासुदेव कृष्ण ने मेरा पराभव किया।' तब कपिल वासुदेव ने कहा कि– 'अरे असामान्य विग्रह वाले दुरात्मा। तेरा यह कृत्य तो सहन करने योग्य नहीं है।' ऐसा कहकर उसे राज्य से भ्रष्ट किया, और उसके पुत्र को राज्य पर बिठाया।

(गा. 64 से 76)

इधर कृष्ण समुद्र पार करके पांडवों से बोले– हे पांडवों! जब तक मैं सुस्थित देव से आज्ञा लूँ, तब तक तुम गंगा उतर जाओ तब वे नाव में बैठकर साढ़े बासठ योजन वाले गंगा के भयंकर प्रवाह को पार करके परस्पर कहने लगे कि 'यहाँ अपनी नाव खड़ी करके कृष्ण का बल देखें कि कृष्ण नाव के बिना इस गंगा के प्रवाह को कैसे पार करते हैं? ऐसा संकेत करके वे नदी व तट पर छिप गये। कृष्ण कार्य साधकर कृत कृत्य होकर गंगा के किनारे आए।

वहाँ नाव दिखाई नहीं दी। तब एक भुजा पर अश्वसहित रथ को रखकर दूसरे हाथ से जल में तैरने लगे। तैरते हुए जब गंगा के मध्य में आए, तब श्रांत होकर विचारने लगे कि अहा! पांडव बहुत शक्तिशाली है कि नाव बिना ही गंगा को तैर कर पार कर गये। कृष्ण को इस प्रकार चिंतित जानकर गंगादेवी ने तत्काल स्थल दे दिया। तब विश्राम लेकर हरि सुखपूर्वक उसे पार कर गये। किनारे पर आकर पांडवों ने कहा कि, आपने वाहनबिना किस प्रकार गंगा को पार किया? पांडवों ने कहा कि हम तो नाव से गंगा उतरे? तब कृष्ण ने कहा फिर नाव को मेरे लिए वापिस क्यों नहीं भेजा? पांडव बोले– आपके बल की परीक्षा के लिए हमने नाव भेजी नहीं। यह सुनकर कृष्ण कुपित होते हुए बोले 'तुमने समुद्र तैरने में या अमरकंका को जीतने में मेरा बल जाना नहीं था, जो अभी मेरा बल देखना बाकी रह गया था? इस प्रकार कहकर पांडवों के पाँचों रथों को लोहदंड के द्वारा चूर्ण कर डाले और उस स्थान पर रथमर्दन नगरी बसाया। तब कृष्ण ने पांडवों को देश निकाला दिया और स्वयं अपनी छावनी में आकर सबके साथ द्वारका में आये।

(गा. 77 से 88)

पांडवों ने अपने नगर में आकर यह वृत्तांत कुंतीमाता को कहा, तब कुंती द्वारका में आयी। और कृष्ण को कहा कि 'कृष्ण! तुमने देशनिकाला दिया तो अब मेरे पुत्र कहाँ रहेंगे? क्यों इस भरतार्द्ध में तो ऐसी कोई पृथ्वी नहीं है जो कि तुम्हारी न हो। तब कृष्ण बोले 'दक्षिण समुद्र के तट पर पांडुमथुरा नामकी नवीन नगरी बसा कर उसमें तुम्हारे पुत्र निवास करें।' कुंती ने आकर यह कृष्ण की आज्ञा पुत्रों को कही। तब वे समुद्र के बेला से पवित्र ऐसे पांडुदेश में गए। कृष्ण ने हस्तिनापुर के राज्य पर अपनी बहन सुभद्र के पौत्र और अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित का राज्यभिषेक किया। भगवान् नेमिनाथ पृथ्वीमल को पवित्र करते हुए अनुक्रम से सर्व नगरों में श्रेष्ठ भद्दिलपुर में पधारे। वहाँ सुलसा और नाग के पुत्र जो देवकी के उदर से उत्पन्न हुए थे और जिनको नैगमेषी देवता ने हरण करके सुलसा को दिया था, वे वहाँ रहते थे। प्रत्येक ने बत्तीस कन्याओं से विवाह किया था। उन्होंने श्री नेमिनाथ प्रभु के बोध से उसके पास व्रत ग्रहण किया। वे छहों चरम शरीरी थे। वे द्वादशांगी ग्रहण करके महान् बड़े–बड़े तप करते हुए प्रभु के साथ विहार करने लगे।

(गा. 89 से 97)

अन्यदा प्रभु विहार करते हुए द्वारका के समीप पधारे। वहाँ सहस्राम्रवन में समवतसरे। उस समय देवकी के छः पुत्रों ने छठ तप के पारणे के लिए दो–दो की जोड़ी होकर तीन–तीन भाग में अलग–अलग ठहरने के लिए प्रवेश किया। उसमें प्रथम अनीकयशा और अनंतसेन देवकी के घर गये। उनको कृष्ण के जैसा देखकर बहुत हर्ष हुआ। तब उसने सिंह केशरिया मोदक से प्रतिलाभित किया। वहाँ से अन्यत्र गए। इतने में उनके सहोदर अजितसेन और निहल शत्रुनाम के दो महामुनि वहाँ पधारे। उनको भी देवकी ने प्रतिलाभित किया। इतने में देवयशा और शत्रुसेन नाम की तीसरी जोड़ी के दोनों महामुनि भी वहाँ पधारे। उनको नमस्कार करके अंजली जोड़कर देवकी ने पूछा, 'हे मुनिराज! क्या आप दिग्भ्रम से पुनःपुनः यहाँ आ रहे हो?

(गा. 98 से 104)

या फिर मेरी मति को भ्रम हो गया है क्या आप वे नहीं है? अथवा संपत्ति से स्वर्गपुरी जैसी इस नगरी में क्या महर्षियों को योग्य भक्तपान नहीं मिलता? ऐसे देवकी के प्रश्न से वे मुनि बोले– हमको कुछ भी दिग्मोह नहीं हुआ। परंतु हम छः सहोदर भाई हैं। भद्दिलपुर के निवासी है और सुलसा एवं नागदेव के पुत्र हैं। श्री नेमिनाथ प्रभु के पास धर्म श्रवण करके हम छहों ही भाईयों ने दीक्षा ले ली है। आज हम तीन जोड़ में बहरने निकले हैं। तो तीनों ही युगल अनुक्रम से आपके यहाँ आ गए लगते हैं। यह सुनकर देवकी विचार में पड़ गई कि 'ये छहों हो मुनि कृष्ण के जैसे कैसे हैं?' इनमें तिलमात्र जितना भी फर्क नहीं है। पूर्व में अतिमुक्त साधु ने मुझे कहा था कि 'तुम्हारे आठ पुत्र होंगे और वे सभी जीवित रहेंगे तो ये छहों ही मेरे पुत्र तो नहीं? इस प्रकार विचार करके देवकी दूसरे दिन देवरचित समवसरण में विराजित श्री नेमिप्रभु को पूछने के लिए गई। देवकी के हृदय के भाव जानकर देवकी के पूछने से पहले ही प्रभु ने कहा कि हे देवकी! तुमने तो कल देखे थे वे छहों तुम्हारे ही पुत्र हैं। उनको नैगमेषी देव ने जीवित ही तुम्हारे पास से लेकर सुलसा को दिये थे। वहाँ उन छहों साधुओं को देखकर देवकी के स्तन में से पय झरने लगा। उसने उन छहों मुनियों को प्रेम से वंदन करके कहा कि 'हे पुत्रों! तुम्हारे दर्शन हुए यह बहुत अच्छा हुआ।' मेरे उदर से जन्म लेकर एक को उत्कृष्ट राज्य मिला और तुम छहों ने दीक्षा ली, यह तो बहुत ही उत्तम हुआ, परंतु मुझे इसमें इतना ही खेद है कि तुममें से मैंने किसी को खिलाया या पालनपोषण नहीं किया। भगवान्

नेमिनाथ बोले– 'देवकी! वृथा खेद किसलिए करती हो? पूर्वजन्म के कृत्य का फल इस जन्म में मिला है। क्योंकि पूर्व भव में तुमने तुम्हारे सात रत्न चुराये थे, पश्चात् जब वह रोने लगी तब तुमने उनमें से एक रत्न वापिस दिया था। यह सुनकर देवकी पूर्व भव अपने पूर्व के दुष्कृत की निंदा करती हुई घर गई और पुत्रजन्म की इच्छा से खेदयुक्त चित्त से रहने लगी। इतने में कृष्ण ने आकर पूछा कि हे माता! तुम दुःखी क्यों हो? देवकी बोली– हे वत्स! मेरा तो जीवन ही निष्फल गया है, क्योंकि तुम तो बालपन से ही नंद के घर बड़े हुए और तुम्हारे अग्रज छहों सहोदर भाई नागसार्थवाह के यहाँ बड़े हुए। मैंने तो सात पुत्रों में से एक का भी लालनपालन नहीं किया, इससे हे वत्स! बालक का लालनपालन करने की इच्छा से मैं एक पुत्र की इच्छा करती हूँ। उन पशुओं को भी धन्य है कि जो अपने अपत्यों (बछड़ों) का लालपालन करते हैं।'

(गा. 105 से 119)

माता के ऐसे वचन सुनकर मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा ऐसा कहकर कृष्ण ने सौधर्म इंद्र के सेनापति नैगमेषी देव की आराधना की। देव प्रत्यक्ष होकर बोला– हे भद्र! तुम्हारी माता के आठवाँ पुत्र होगा, किन्तु जब वह बुद्धिमान् युवावस्था प्राप्त करेगा, तब दीक्षा ले लेगा। उसके इस प्रकार के कथन के स्वल्प समय के पश्चात् महार्द्धिक देव स्वर्ग से च्यव कर देवकी के उदर में उत्पन्न हुआ। समय आने पर पुत्र रूप से अवतरा। उसका गजसुकुमाल नामकरण किया। माना दूसरा कृष्ण ही हो ऐसे उस देवसमान पुत्र का देवकी लालनपालन करने लगी। माता को अति लाड़ला, और भ्राता को प्राण समान कुमार दोनों के नेत्ररूप कुमुद को चंद रूप समान प्रिय हुआ। अनुक्रम से यौवनवय को प्राप्त किया। तब पिता की आज्ञा से द्रुम राणा की पुत्री प्रभावती से विवाह किया, साथ ही सोमशर्मा ब्राह्मण की क्षत्रियाणी स्त्री से उत्पन्न सोमा नामकी कन्या से इच्छा न होने पर भी माता और भ्राता की आज्ञा से विवाह किया। इतने में श्री नेमिनाथ प्रभु वहाँ समवसरे। उनके पास स्त्रियों के साथ जाकर गजसुकुमाल ने सावधानी से धर्म श्रवण किया। जिसके फलस्वरूप अपूर्व वैराग्य होने पर दोनों पत्नियों के साथ आज्ञा लेकर उसने प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार की। जब गजसुकुमाल ने दीक्षा ली तब उसके वियोग को सहन नहीं कर सकने के कारण माता पिता और कृष्ण प्रमुख भाईबंधु उच्च स्वर में रुदन करने लगे।

(गा. 120 से 129)

जिस दिन दीक्षा ली उसी दिन गजसुकुमाल मुनि प्रभु की आज्ञा लेकर सायंकाल में श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग ध्यान में रहे। इतने में किसी कारण से बाहर गये हुए सोमशर्मा ब्राह्मण ने उनको देखा। उनको देखकर सोमशर्मा ने सोचा कि, यह गजसुकुमाल वात्सव में पाखंडी है, इसने अनिच्छा से मुझे अपमानित करने के दुराशय से ही मेरी पुत्री के साथ विवाह किया। ऐसा सोचकर महाविरोधी बुद्धि वाले सोमशर्मा ने अत्यन्त क्रोधित होकर जलती चिता के अंगारे से भरी घड़े की सिगड़ी जैसी बना उनके सिर पर रख दी। उससे अत्यन्त दहन होने पर भी उन्होंने समाधिपूर्वक सब सहन किया। इससे इन गजसुकुमाल मुनि के कर्मरूप ईंधन उसमें जलकर भस्म हो गए और तत्काल केवलज्ञान को प्राप्त करके आयुष्य पूर्ण होने पर वे मुनि मोक्ष में पधार गये।

(गा. 130 से 133)

प्रातः कृष्ण अपने परिवार सहित रथ में बैठकर पूर्ण उत्कंठित मन से गजसुकुमाल मुनि को वंदन करने के लिए चले। द्वारका से बाहर निकले। इतने में एक वृद्ध ब्राह्मण सिर पर ईंट लेकर किसी देवालय की ओर ले जाते दिखलाई दिया, उस वृद्ध पर द्रवित होकर उसमें से एक ईंट स्वयं उस देवालय में ले गये। तब कोटिगम लोग भी उसी प्रकार एक–एक ईंट ले गये। इससे उस वृद्ध ब्राह्मण का कार्य हो गया। उस ब्राह्मण को कृतार्थ करके कृष्ण श्री नेमिनाथ प्रभु के पास आए। वहाँ स्थापित किए भंडार के जैसे अपने भाई गजसुकुमाल की वहाँ देखा नहीं। तब कृष्ण ने भगवंत को पूछा कि प्रभो! मेरे भाई गजसुकुमाल मुनि कहाँ है? भगवंत ने कहा कि 'सोमशर्मा ब्राह्मण के हाथ से उनका मोक्ष हो गया।' यह बात विस्तारपूर्वक सुनने से कृष्ण मूर्च्छित हो गये। थोड़ी देर में चेतना आने पर कृष्ण ने पुनः पूछा– भगवन्! इस मेरे भाई का वध करने वाले ब्राह्मण को मैं कैसे पहचानूँ? प्रभु बोले– 'कृष्ण! इस सोमशर्मा के ऊपर तुम क्रोध मत करो, क्योंकि यह तुम्हारे भाई के साथ मोक्षप्राप्ति में सहायक हुआ है। जिस प्रकार तुमने उस वृद्ध ब्राह्मण की सहायता की तो उसकी सर्व इंटें स्वल्प समय में ही इच्छित स्थान पर पहुँच गई। यदि सोमशर्मा तुम्हारे भाई पर ऐसा उपसर्ग न करता तो कालक्षेप बिना उसकी सिद्धि किस प्रकार होती? अब तुम्हें उसे पहचानना ही है तो यहाँ से वापिस लौटते समय नगरी में घुसते ही तुमको देखकर जिसका मस्तक फट जाये और वह मर जाए, उसे तुम्हारे भाई का वध करने वाला जानना। तब कृष्ण ने रुदन करते हुए अपने भाई का उत्तर

संस्कार किया। वहाँ से खेदपूर्वक लौटते समय नगरी में घुसते ही उस सोमशर्मा ब्राह्मण को मस्तक फट कर मर जाते देखा। तब शीघ्र ही उसके पैर में रस्सी बंधवा कर मनुष्यों से पूरी नगरी में घूमवाकर गिद्द आदि पक्षियों को नया बलिदान देने हेतु बाहर फिंकवा दिया।

(गा. 134 से 145)

गजसुकुमाल के शोक से प्रभु के पास बहुत से यादवों ने और वसुदेव के बिना नव दशार्हों ने दीक्षा ली। प्रभु की माता शिवादेवी ने नेमिनाथ जी के सात सहादेर बंधुओं ने और कृष्ण के अनेक कुमारों ने भी दीक्षा ली। राजीमति ने भी संवेग धारण कर प्रभु के पास दीक्षा ली। उसके साथ नंद की कन्या एकनाशा और यादवों की अनेक स्त्रियों ने भी दीक्षा ली। उस समय कृष्ण ने कन्या को विवाह करने का अभिग्रहण धारण किया। तब उनकी सर्व पुत्रियों ने भी प्रभु के समीप दीक्षा ले ली। कनकवती, रोहिणी और देवकी के अतिरिक्त वसुदेव की सर्व स्त्रियों ने भी व्रत ग्रहण किया। कनकवती के घर में रहते हुए संसार की स्थिति का चिंतन करते हुए सद्य की घातिकर्म क्षय हो जाने से केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। नेमिनाथजी के सर्व को ज्ञात कराने पर देवताओं ने उसकी महिमा की। तब स्वयं ही मुनिवेश धारण कर वह प्रभु के समक्ष गयी। वहाँ नेमिनाथ प्रभु के दर्शन करके, वन में जाकर एक मास का अनशन करके वह कनकवती मोक्ष पधारी।

(गा. 146 से 153)

राम का पौत्र और निषिध का पुत्र सागरचंद्र विरक्त होने से प्रथम वह अणुव्रतधारी हुआ था, उसने उस समय काया प्रतिमा धारण की। (श्रावक की 11 प्रतिमा) एक बार उसने काउसग्ग किया, वहाँ हमेशा उसके छिद्र देखने वाला नमःसेन ने उसको देखा। तब उसके पास आकर नमः सेन बोला– 'अरे पाखंडी! अभी तू यह क्या कर रहा है? कमलामेला के हरण में जो तूने किया था, अब तू उसका फल चख। ऐसा कहकर उस दुराशय नमःसेन ने उसके मस्तक पर चिता के अंगारे से भरा हुआ घड़े का कांठा रखा। उस उपसर्ग को सम्यक् भाव से सहनकरके उससे दग्ध लेकर सागरचंद्र पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र का स्मरण करता हुआ मरकर देवलोक में गया।

(गा. 154 से 158)

एक बार इंद्र ने सभा में कहा कि 'कृष्ण वासुदेव हमेशा किसी के भी दोष को छोड़कर मात्र गुण का ही कीर्तन करते हैं और कभी भी नीच युद्ध नहीं करते। इंद्र के इन वचनों पर श्रद्धा नहीं रखने वाला कोई देवता उनकी परीक्षा करने हेतु शीघ्र ही द्वारिका आया। उस समय रथ में बैठकर कृष्ण स्वेच्छा से क्रीड़ा करने जा रहे थे। वहाँ मार्ग में उस देवता ने कृष्णवर्णी एक मरे हुए श्वान को विकुर्वणा की। उसके शरीर में से ऐसी दुर्गन्ध निकल रही थी कि लोग दूर से ही उससे दुर्गन्ध और बाधा पा रहे थे। उस श्वान को देखकर कृष्ण ने कहा, अहो! इस कृष्णवर्णीय श्वान के मुख में पांडुवर्णीय दांत कितने शोभा दे रहे हैं? इस प्रकार एक परीक्षा करके उस देव ने चोर बनकर कृष्ण के अश्वरत्न का हरण कर लिया। उसके पीछे कृष्ण के अनेक सैनिक दौड़ पड़े। उसको उसने जीत लिया, तब कृष्ण स्वयं दौड़कर उसके नजदीक जाकर बोले कि, अरे चोर! मेरे अश्वरत्न को क्यों चुराता है? उसे छोड़ दे, क्योंकि अब तू कहाँ जाएगा? देव ने कहा, मुझे जीतकर अश्व ले लो। कृष्ण ने कहा कि 'अब तो तू रथ में बैठ, क्योंकि मैं रथी हूँ। देव ने कहा, 'मुझे रथ या हाथी आदि की कुछ जरूरत नहीं है, मेरे साथ युद्ध करना हो तो बाहुयुद्ध से युद्ध करो।' कृष्ण ने कहा, 'जा, अश्व को ले जा, मैं हारा क्योंकि यदि सर्वस्व का नाश हो जाय तो भी मैं नीच–अधम नियम विशुद्ध नहीं करूँगा। यह सुनकर वह देव संतुष्ट हुआ। पश्चात् उसने इंद्र द्वारा की गई प्रशंसा आदि का वृत्तांत बताकर कहा कि 'हे महाभाग! वरदान मांगो। कृष्ण ने कहा, अभी मेरी द्वारिकापुरी रोग से उपसर्ग से व्याप्त है, तो उसकी शांति के लिए कुछ दो।' तब देवता ने कृष्ण को 'भेरी' (नगाड़ा नहीं होता प्रत्युत्त बोल मुड़ा हुआ किसी सींग से बना वाद्य होता है) देकर कहा कि यह भेरी छःछः माह में द्वारिकानगरी में बजाना। इसका शब्द सुनने से पूर्व उत्पन्न सर्व व्याधि और उपसर्गों का क्षय हो जाएगा और छः महिने पर्यन्त नई व्याधि आदि उपसर्ग नहीं होंगे। इस प्रकार कहकर वह देव स्वस्थान पर चला गया।

(गा. 159 से 172)

कृष्ण ने द्वारका में ले जाकर वह भेरी बजाई, जिससे नगरी में हुए सर्व रोगों का उपशमन हो गया। इस भेरी की ख्याति सुनकर कोई धनाढ्य दाहज्वर से पीड़ित हुआ, देशांतर से द्वारका में आया। उसने आकर भेरी के पालक को कहा, 'हे भद्र! मुझ पर उपकार करके एक लाख द्रव्य लेकर उस भेरी का छोटा का टुकड़ा मुझे दे दो। इतनी मुझ पर दया करो। भेरीपाल द्रव्य में लुब्ध हुआ इससे

उसका एक खंड तोड़कर उसे दिया और चंदन के खंड से उसे सांध दिया। इसी प्रकार यह द्रव्यलुब्ध व्यक्ति अन्यों को भी उसके टुकड़े काट–काटकर देने लगा। इससे वह भेरी मूल से (पूरी ही) चंदन की कंथा जैसी हो गई। पुनः एक बार उपद्रव होने पर कृष्ण ने उसे बजवायी तो उसका एक मशक जैसा नाद हुआ जो कि सभा में भी पूरा सुनाई नहीं दिया। इससे यह क्या हुआ? कृष्ण ने अपने विश्वासु व्यक्तियों को पूछा, तब उन्होंने तलाश करके कहा कि उसके रक्षक ने पूरी भेरी को जोड़–जोड़ कर कथा जैसी बना दी है, यह बात सुनकर कृष्ण ने उसके रक्षक को मृत्युदंड दिया और फिर अट्ठम तप करके उसके जैसी दूरी भेरी उस देव से प्राप्त की। क्योंकि 'महान् पुरुषों के लिए क्या मुश्किल है?'

(गा. 173 से 179)

पश्चात् रोग की शांति के लिए कृष्ण ने वह भेरी बजवाई। धन्वंतरी और वैतरणी नामके दो वैद्यों को भी लोगों की व्याधि की चिकित्सा करने की आज्ञा दी। इनमें वैतरणी वैद्य भव्य जीव था। वह जिसे जो उपयुक्त होती और धन्वंतरी पाप भरी चिकित्सा करता इससे उसे जब साधु कहते कि 'यह औषध हमको खाने योग्य नहीं है। तब वह सामने जवाब दे देता कि– मैंने साधुओं के अनुरूप आयुर्वेद पढ़ा नहीं है, इसलिए मेरा कथन महामानो। और न मेरे कथनानुसार करो। इस प्रकार ये दोनों वैद्य द्वारका में वैद्य पना करते थे। एक बार कृष्ण ने नेमिप्रभु से पूछा कि 'इन दोनों वैद्यों की क्या गति होगी?' तब प्रभु बोले कि 'धन्वंतरी वैद्य सातवीं नगर के अप्रतिष्ठान नामके सातवें नरकावास में जाएगा, और जो वैतरणी वैद्य है, वह विंध्याचल में एक युवा यूथपति वानर होगा। उस वनमें कोई सार्थ के साथ साधुगण आवेंगे। उनमें से एक मुनि के चरण में कांटा लग जाएगा, इससे वे चलने में असमर्थ हो जाएंगे। उनके साथ अन्य मुनि भी वहाँ अटक कर खड़े रह जायेंगे। तब वह मुनि अन्य मुनियों से कहेंगे कि तुम मुझे यहाँ छोड़ जाओ, नहीं तो। सार्थ भ्रष्ट होने से सर्वजन मृत्यु को प्राप्त होंगे। फिर उनके चरण में से कांटा निकालने में असमर्थ अत्यंत व्यथित मुनीगण हैं उन मुनि को एक छायादार जमीन पर बैठाकर खेदयुक्त चित्त से सार्थ के साथ चले जायेंगे। इतने में वह यूथपति बंदर अनेक बंदरों के साथ वहाँ आयेगा। तब मुनि को देखकर आगे चलने वाले बंदर किलकिलाख करने लगेंगे। उस नाद से रोष करता हुआ वह यूथपति बंदर आगे आएगा। उन मुनि को देखकर वह विचार करेगा कि ऐसे मुनि को पहले कहीं देखा है।' इस प्रकार

ऊहापोह करते उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न होगा। इससे वह अपने पूर्व भव के वैद्यक कर्म याद करेगा। तब प्राप्त हुए उस वैद्यकज्ञान से पूर्व पर से वह बंदर विशल्या और रोहिणी नामक दो औषधियाँ लाएगा। उसमें से विशल्पा नामकी औषधि को दांतों से पीस कर मुनि के चरण पर रखेगा। इससे उनका पैर से कांटा निकल जाएगा। फिर रोहिणी नामकी औषधि से शीघ्र ही घाव भर जाएगा। तब वह यूथपति मैं पहले द्वारका में वैतरणी नामक का वैद्य था। इस प्रकार के अक्षर लिखकर उन मुनि को बताएगा। तब मुनि उसका चारित्र याद करके उसे धर्मोपदेश देंगे, इससे वह कपि तीन दिन का अनशन करके सहस्रार नामक आठवें देवलोक में जाएगा। देवलोक में देव बना हुआ वह युथपति अवधि ज्ञान द्वारा अपना पूर्व वानर रूप देखेगा– जिसे वह मुनिकृपा से तीन दिवस के अनशन के बाद कायोत्सर्ग कर आया था। वहाँ उत्पन्न होते ही अवधिज्ञान वह अपना कायोत्सर्गी वानर शरीर देखेगा और उसके पास बैठकर नवकार मंत्र सुनाते मुनि को देखेगा। तब मुनि पर अत्यन्त भक्ति वाला वह देव वहाँ आकर उन मुनि को नमस्कार करके कहेगा कि 'हे स्वामिन्! आपकी कृपा से मुझे ऐसे देव–संबंधी महाऋद्धि प्राप्त हुई है। पश्चात् वह मुनि को सार्थ के साथ गए अन्य मुनियों के साथ मिला देगा। तब वह मुनि उस कपि की कथा को अन्य साधुओं से कहेंगे। भगवंत द्वारा कथित इस प्रकार वर्णन सुनकर धर्म पर श्रद्धा रखते हुए हरि प्रभु को नमस्कार करके स्वस्थान पर गये। प्रभु ने भी वहाँ से अन्यत्र विहार किया।

(गा. 180 से 199)

किसी समय वर्षा ऋतु के आरंभ में मेघ की तरह जगत को तृप्त करने वाले नेमिनाथ प्रभु द्वारका के समीप आकर समवसरे। कृष्ण ने भगवन्त के पास सेवा करते हुए प्रभु को पूछा, हे नाथ! आप और अन्य साधुगण वर्षाऋतु में विहार क्यों नहीं करते? प्रभु बोले– वर्षा ऋतु में समग्र पृथ्वी विविध जीव जंतुओं से व्याप्त हो जाती है, इससे जीवों को अभय देने वाले साधु उस समय विहार नहीं करते। कृष्ण ने कहा कि 'तब तो मैं भी परिवार सहित बारम्बार गमनागमन करता हूँ, इससे बहुत से जीवों का क्षय होता है, इसलिए मैं भी वर्षाकाल में राजमंदिर से बाहर नहीं निकलूंगा। ऐसा अभिग्रह लेकर कृष्ण ने वहाँ से जाकर अपने राजमंदिर में प्रवेश किया। वहाँ द्वारपालों को आज्ञा दी कि 'वर्षाऋतु के चार मास पर्यन्त किसी को भी राजमहल में प्रवेश नहीं करने देना।

(गा. 200 से 205)

द्वारका नगरी में वीरो नामक एक बुनकर विष्णु का परम भक्त था। वह कृष्ण के दर्शन और उनकी पूजा करके ही भोजन करता, नहीं तो खाता नहीं था। कृष्ण के पूर्वोक्त आज्ञा से द्वारपाल ने वर्षाकाल में उसे कृष्ण मंदिर में प्रवेश करने नहीं दिया, इससे वह द्वार पर ही बैठा रहकर कृष्ण का स्मरण करके पूजा किया करता। परन्तु कृष्ण के दर्शन न होने से वह भोजन नहीं करता। जब वर्षाकाल व्यतीत हो गया और कृष्ण राजमहल से बाहर निकले, उस समय सर्व राजागण और यह वीरो बुनकर भी द्वार के पास आकर खड़े हो गये। तब वीरो बुनकर को अत्यन्त कृश हुआ देखकर वासुदेव ने पूछा 'तूँ इतना दुर्बल कैसे हो गया?' तब द्वारपालों ने जो उसका कृश होने का यथार्थ कारण था, वह कह सुनाया। तब कृष्ण ने कृपा करके उसे हमेशा अपने महल में निर्बाध रूप से आने देने की आज्ञा दी।

(गा. 206 से 210)

पश्चात् कृष्ण परिवार सहित श्री नेमिनाथ प्रभु को वंदन करने गए। वहाँ भगवंत द्वारा यतिधर्म के विषय में सुनकर कृष्ण बोले– 'हे नाथ! मैं यतिधर्म पालने में तो समर्थ नहीं हूँ, परन्तु अन्यों को दीक्षा दिलाने में और उनकी अनुमोदना करने का नियम लेता हूँ। जो कोई भी दीक्षा लेगा, उसमें मैं अवरोध नहीं करूँगा, बल्कि पुत्रवत् उसका निष्क्रमणोत्सव करूँगा। ऐसा अभिग्रह लेकर विष्णु (कृष्ण) स्वस्थान पर गए। इतने में उनकी विवाह के योग्य हुई कन्याएं उनको नमस्कार करने आयीं। उनको कृष्ण ने कहा कि 'हे पुत्रियों! तुम स्वामिनी बनोगी या दासी बनोगी?' वे बोली कि 'हम तो स्वामिनी बनेंगी।' तब कृष्ण ने कहा कि हे निष्पाप पुत्रियों! यदि तुमको स्वामिनी बनना हो तो श्री नेमिनाथ प्रभु के पास जाकर दीक्षा ले लो। इस प्रकार कहकर विवाह के योग्य उन कन्याओं को कृष्ण ने दीक्षा दिलाई। इसी प्रकार जो जो कन्या विवाह योग्य होती उसे दीक्षा दिलाने लगे। एक बार एक रानी ने अपनी केतुमंजरी नाम की कन्या को सिखाया कि वत्से! यदि तेरे पिता तुझे पूछे तो तू निःशंक होकर कहना कि– मुझे दासी होना है, रानी नहीं होना। अनुक्रम से वह जब विवाह योग्य हुई तब उसकी माता ने उसके पिता (कृष्ण) के पास भेजी। जब वह गई तब कृष्ण ने पूछा कि 'दासी होना है या रानी? तब जैसे माता ने सिखाया था, वैसे ही उसने कह दिया। यह सुनकर कृष्ण विचारने लगे 'यदि दूसरी पुत्रियाँ भी ऐसे कहेगी, तब तो वे मेरी पुत्रियाँ होने पर भी भवजंजाल में भ्रमण करके सर्वथा अपमानित

होती रहेगी, यह तो अच्छा नहीं रहेगा। इसलिए दूसरी पुत्रियाँ ऐसे बोले नहीं, ऐसा उपाय करूँ। ऐसा सोचकर कृष्ण ने उस वीर कुंविद को बुलाकर–कहा कि तूने कुछ भी उत्कृष्ट पराक्रम किया है? उसने कहा कि 'मैंने तो कुछ भी पराक्रम नहीं किया।' कृष्ण ने कहा– सोचकर कह, कुछ तो किया ही होगा? तब उस वीर ने विचार करके कहा कि 'पहले बदरी (बोर) वृक्ष के ऊपर रहे गए एक गिरगिट को मैंने पत्थर मारकर गिरा दिया था, और फिर वह मर गया था। एक मैंने रास्ते में गाड़ी के पहिये के पड़े निशानों में जल को बायें पैर से रोक रखा था। एक बार घड़े में मक्खियाँ घुस गई थी, उस घड़े के मुँह को मैंने बांये हाथ से बंद कर दिया था, और बहुत देर तक गुनगुनाहट करती उन मक्तिखयों को उसमें भर कर रख दिया था।

(गा. 211 से 224)

दूसरे दिन कृष्ण सभास्थान में जाकर सिंहासन पर बैठकर राजाओं से बोले कि 'हे राजाओं! वीर कुविंद का चरित्र अपने कुल के योग्य नहीं है, अर्थात् अधिक पराक्रम वाला है।' तब कृष्ण ने 'चिरंजीवी रहो' ऐसे बोले तो नृपतिगण सुनने के लिए सावधान हो गए। कृष्ण ने इस प्रकार कहना प्रारंभ किया कि 'जिसने भूमिशस्त्र से बदरी के वृक्ष पर रहे हुए लाल फण वाले नाग को मार डाला था, वह यह वीर वास्तव में क्षत्रीय है। चक्र से खुदी हुई और कलुषित जल को वहन करती गंगानदी जिसने अपने वाम चरण से रोक रखी थी, वह यह वीर कुविंद वास्तव में क्षत्रिय है, और उसने घटनगर रहने वाली घोष करती हुई सेना को एक वाम कर से ही रोककर रखी थी, वह यह वीर वास्तव में क्षत्रिय है, इससे यह पुरुषव्रतधारी वीरक वास्तव में मेरा जमाता होने योग्य है। इस प्रकार सभाजनों को कहकर कृष्ण ने उस वीरक को कहा कि 'तू इस केतुमंजरी को ग्रहण कर।' वीर के ऐसा करने का निषेध करने पर कृष्ण ने भृकुटि चढ़ाई, इससे वह तत्काल ही केतुमंजरी से विवाह कर उसे अपने घर ले गया। केतुमंजरी उसके घर पर शय्या पर ही बैठी रहने लगी और वह बिचारा वीरक रात–दिन उसकी आज्ञा में रहने लगा। एक बार कृष्ण ने वीरक को पूछा– क्या केतुमंजरी तेरी आज्ञा में रहती है? तब वह बोला कि – मैं उसकी आज्ञा में रहता हूँ। कृष्ण ने कहा– यदि तू तेरा सब काम उससे नहीं कराएगा तो मैं तुझे कारागृह में डाल दूँगा। कृष्ण के आशय को समझ कर वीरक घर आया और उसने केतुमंजरी को कहा, 'अरे भाग्यवान! तू बैठी कैसे रहती है?

वस्त्र बुनने के लिए पान तैयार कर।' केतुमंजरी क्रोधित होकर बोली कि 'अरे कोली! क्या तू मुझे नहीं पहचानता? 'यह सुनकर वीरक ने रस्सी से केतुमंजरी को निःशंक होकर मारा। इससे वह रोती–रोती कृष्ण के पास गई और अपने अपमान की बात कह सुनाई। तब कृष्ण ने कहा कि 'हे पुत्री! तूने स्वामिनी छोड़ कर दासीपना माँगा, तो अब मैं क्या करूँ? तो बोली– पिताजी! तो अभी भी मुझे स्वामित्व ही दे दो।' तब कृष्ण बोले कि 'अब तू वीरक के आधीन है, मेरे आधीन नहीं है। जब केतुमंजरी ने अत्यन्त आग्रह से कहा, तब कृष्ण ने वीर को समझाकर केतुमंजरी की अनुमति से श्री नेमिप्रभु के पास उसे दीक्षा दिला दी।

(गा. 225 से 239)

एक बार कृष्ण ने सर्व (१८०००) साधुओं को द्वादशावर्त वंदना करनी चालू की। तब दूसरे राजा तो थोड़े ही मुनियों को वंदन से निर्वेद पाकर अर्थात् थककर बैठ गए। परंतु कृष्ण के अनुवर्तन से उस वीर बुनकर ने तो सर्व साधुओं को द्वादशावर्त वंदना की। कृष्ण ने प्रभु से कहा कि 'सर्व मुनियों को द्वादशावर्त वंदन करने से आज मुझे जितना श्रम हुआ है उतना श्रम तीन सौ साठ युद्ध करने में भी मुझे नहीं हुआ था। तब सर्वज्ञ प्रभु बोले कि 'हे वासुदेव! तुमने आज विपुल पुण्य, क्षायिक समकित और तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया है और सातवीं नरक के योग्य कर्म पुद्गलों को खपाकर तीसरी नरक के योग्य आयुष्य का बंध कर लिया है। जिसे तुम इस भव के प्रांत भाग में निकाचित करोगे। कृष्ण ने कहा– 'हे भगवन्! अब पुनः सर्व मुनियों को वंदना कर लूँ जिससे पूर्व की भांति मेरी नरक का आयुष्य भूल से ही क्षय हो जाय। प्रभु बोले– 'हे धर्मशील! अब जो वंदना करोगे तो द्रव्यवंदना होगी और फल तो भाववंदना से मिलते हैं, अन्यथा नहीं मिलता।' तब कृष्ण ने उस वीरा बुनकर द्वारा की गई मुनि वंदना के फल के विषय में पूछा, तब प्रभु बोले– 'इसने वंदना की वह मात्र शरीर क्लेश जितना फल दायक हुआ है। क्योंकि उसने तो तुम्हारे अनुयायी रूप में भाव के बिना वंदन किया है। कृष्ण प्रभु को नमन करके उनके वचनों का विचार करते हुए परिवार सहित द्वारिकापुरी में आ गये।

(गा. 240 से 248)

कृष्ण के ढंढणा नाम की स्त्री से ढंढण नामका पुत्र हुआ था। उसने युवावस्था में बहुत सी राजकुमारियों से विवाह किया था। एक बार श्री नेमिनाथ प्रभु से धर्म श्रवण करके उसने संसार से विरक्त होकर दीक्षा ली। उस समय

कृष्ण ने निष्क्रमणोत्सव किया। ढंढणकुमार मुनि प्रभु के साथ विहार करने लगे और सर्व साधुओं के अनुमत हो गये। इस प्रकार रहते हुए उनको पूर्वबद्ध अन्तरायकर्म का उदय हुआ। इससे वे जहाँ भी जाते वहाँ उनको आहारादि कुछ भी मिलता नहीं। इतना ही नहीं परन्तु जिन मुनियों के साथ भी जाते तो उनको कुछ भी मिलता नहीं। तब सभी साधुओं ने मिलकर श्री नेमिनाथ प्रभु को पूछा कि 'हे स्वामिन्! तीन लोक के स्वामी आप के शिष्य और कृष्ण वासुदेव के पुत्र होने पर भी इन ढंढणमुनि को बड़े धनाढ्य, धार्मिक और उदार गृहस्थों से युक्त इस सम्पूर्ण द्वारकानगरी में किसी स्थान पर भी भिक्षा नहीं मिलती इसका क्या कारण है? प्रभु बोले– 'पूर्व समय में मगध देश में धान्यपूरक नाम के गाँव में राजा का परासर नामका ब्राह्मण सेवक रहता था। वह उस गाँव के लोगों के पास से राजा के खेतों में बुवाई कराता था। परंतु भोजन का समय हो जाने पर भी और भोजन आ जाने पर भी वह उन लोगों को भोजन करने की इजाजत नहीं देता। परन्तु भूखे प्यासे और थके हुए बैलों द्वारा वह उन ग्रामीण लोगों के पास हल जुतवा कर एक–एक चास (हल जोतने से बनी हुई गहरी लकीर) निकलवाता था। ऐसा कार्य करके उसने अंतराय कर्म बांधा है, उसके उदय से इसे भिक्षा नहीं मिलती। इस प्रकार प्रभु के वचन सुनकर ढंढणमुनि को अत्यन्त संवेग हुआ। इससे उन्होंने प्रभु के पास अभिग्रह लिया कि आज से मैं दूसरे की लब्धि के द्वारा मिले आहार से भोजन नहीं करूंगा। इस प्रकार अलाम परीषह को सहन करते हुए ढंढण मुनि को परलब्धि से मिले आहार को ग्रहण नहीं करते हुए, आहार के बिना बहुत सा समय व्यतीत हुआ। एक बार सभा में बैठे हुए नेमिप्रभु से कृष्ण वासुदेव ने पूछा 'स्वामिन्! इस सर्व मुनियों में दुष्कर कार्य करने वाले कौन है?' प्रभु बोले– 'सर्व ही दुष्कर कार्य करने वाले हैं, परंतु ढंढण तो सबसे अधिक है, क्योंकि उन्होंने अलाभ परीषह सहन करते हुए बहुत सा काल व्यतीत किया है। कृष्ण वासुदेव प्रभु को नमन करके द्वारका में जा रहे थे, इतने में मार्ग में ढंढणमुनि को गोचरी जाते देखा। इसलिए शीघ्र ही हाथी से उतरकर अतिभक्ति से उनको नमस्कार किया। उस समय किसी एक श्रेष्ठी ने कृष्ण को नमस्कार करते हुए देखकर विचार किया कि इन मुनि को धन्य है कि जिनको महाराज कृष्ण भी इस प्रकार नमन करते हैं।' ढंढणमुनि भी घूमते–घूमते उन्हीं श्रेष्ठी के घर पहुँच गए। तब उस श्रेष्ठी ने उनको बहुमानपूर्वक मोदक बहराए। ढंढणमुनि ने आकर सर्वज्ञ प्रभु से नमस्कार करके कहा कि–

'हे प्रभु! आज तो मुझे भिक्षा मिली है, क्या मेरा अन्तराय कर्म क्षीण हो गया है? प्रभु ने कहा– 'तुम्हारा अंतराय कर्म अभी क्षीण नहीं हुआ, परंतु कृष्ण वासुदेव की लब्धि से तुमको आहार मिला है। कृष्ण को तुझको वंदना करते देखकर श्रेष्ठी ने तुझे प्रतिलाभित किया है।' यह सुनकर रागादिक से रहित ऐसे ढंढणमुनि ने यह परलब्धि जन्य आहार है ऐसा सोचकर वह भिक्षा शुद्ध स्थंडिल भूमि में परठने (त्याग करने) लगे। उस समय 'अहो! जीवों के पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय होना बहुत कठिन है।' ऐसा स्थिररूप से ध्यान करते हुए उन मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। तब नेमिप्रभु को प्रदक्षिणा देकर ढंढणमुनि केवली की पर्षदा में बैठे और देवतागण ने उनका पूजा की।

(गा. 240 से 270)

भगवान् नेमिनाथजी अनेक ग्राम, खान, नगरादि में विचरण करके पुनः पुनः द्वारका में समसरते थे। एक बार प्रभु गिरनार में थे, इतने में अकस्मात् वृष्टि हुई। उस समय रथनेमि बाहर के लिए भ्रमण करके प्रभु के पास आ रहे थे। उस वृष्टि से हैरान होकर वे एक गुफा में घुसे। इसी समय राजीमति साध्वी भी प्रभु को वंदन करके साध्वियों के साथ लौट रही थी। परंतु सभी वृष्टि के भय से अलग–अलग स्थान पर चली गयीं। दैवयोग से राजीमति ने अनजान में उसी गुफा में कि जहाँ रथनेमि मुनि पहले घुसे थे, उसमें ही प्रवेश किया। अंधकार के कारण अपने समीप में ही रहे हुए रथनेमि मुनि उसे दिखाई नहीं दिये और उसने अपने भीगे कपड़े सुखाने के लिए निकाल दिये। उसे वस्त्र बिना देखकर रथनेमि कामातुर हो गये और बोले– 'हे भद्रे! मैंने तुझसे पहले भी प्रार्थना की थी, और अभी तो भोग का अवसर है।' स्वर से रथनेमि को पहचान कर शीघ्र ही उसने अपना शरीर वस्त्र से ढंक लिया और कहा कि 'कभी भी कुलीन व्यक्ति को ऐसा नहीं बोलना चाहिए।' फिर तुम तो सर्वज्ञ प्रभु के अनुज बंधु हो और उनके ही शिष्य बने हो। फिर अभी भी तुम्हारी उभय लोक के विरूद्ध ऐसी दुर्बुद्धि क्यों है? मैं सर्वज्ञ की शिष्या होकर तुम्हारी इस वांछा को पूरी नहीं करूँगी। परंतु तुम तो वांछा मात्र से ही भवसागर में डूब जाओगे। चैत्यद्रव्य का नाश, मुनि और साध्वी का शीलभंग, मुनि की हत्या और प्रवचन की निंदा ये बोधिवृक्ष के मूल में अग्नि के जैसे हैं। फिर अगंधन कुल में उत्पन्न हुआ सर्प प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर जाता है परन्तु वमन किया हुआ वापिस खाना चाहता नहीं है। अरे कामी! तेरे मनुष्यत्व को धिक्कार

है जो तू वमन किये को भी वापिस खाना चाहता है। इससे तो मर जाना बेहतर है। मैं भोजवृष्टि कुल में उत्पन्न हुई हूँ जबकि तू अंधकवृष्टि के कुल में उत्पन्न हुआ पुत्र है। अपन कोई नीच कुल में उत्पन्न नहीं हुए हैं। जो अंगीकार किए हुए संयम को भंग करे। यदि तू स्त्री को देखकर इस प्रकार कामातुर होकर उसकी स्पृहा करेगा, तो तू वायु से हनन किए वृक्ष की तरह अस्थिर हो जाएगा। इस प्रकार राजीमति से प्रतिबोधित हुए रथनेमि मुनि बारम्बार पश्चात्ताप करते हुए सर्व प्रकार की भोग की इच्छा त्याग कर उत्कृष्ट रूप से व्रतों का पालन करने लगे और वहाँ से तुरन्त प्रभु के पास आकर अपने सर्व दुश्चरित्र की घटना कह सुनाई। विशुद्ध बुद्धि वाले रथनेमि मुनि ने एक वर्ष पर्यन्त छद्मस्थ छलस्थ रूप में रहकर अंत में केवलज्ञान को प्राप्त किया।

(गा. 271 से 287)

भव्यजनरूप कमल में सूर्य समाज श्री नेमिनाथ प्रभु अन्यत्र विहार करके पुनः रैवतगिरि पर समवसरे। यह समाचार जानकर कृष्ण ने पालक और शांब आदि पुत्रों को कहा कि जो सुबह जल्दी उठकर सर्व प्रथम प्रभु को वंदन करेगा, उसे मैं इच्छित वस्तु दूंगा। यह सुनकर शांब कुमार ने प्रातः शय्या से उठकर घर में ही रहकर भाव से प्रभु को वंदन किया। पालक ने सघन रात्रि को जल्दी उठकर बड़े अश्व पर बैठकर शीघ्रता से गिरनार पर जाकर हृदय में आक्रोश रखते हुए प्रभु की वंदना की। तब कृष्ण ने आकर उससे दर्पक नामके अश्व की मांग की। कृष्ण ने कहा कि 'श्री नेमिप्रभु जिसे प्रथम वंदना करने वाला कहेंगे, उसे वह अश्व दूंगा। कृष्ण ने प्रभु पास जाकर पूछा कि 'स्वामिन्! आपकी प्रथम किसने वंदना की? प्रभु बोले 'पालक ने द्रव्योत्तर शांब भाव से प्रथम वंदना की है, कृष्ण ने पूछा 'ऐसा किस प्रकार?' तब प्रभु बोले 'पालक अभव्य है और जांबवती का पुत्र शांब भव्य है। यह सुनकर कृष्ण ने कुपित होकर भावरहित पालक को निकाल दिया और शांब को मांग के अनुसार उस उत्तम अश्व को दे दिया और बड़ा मांडलिक राजा बना दिया।'

एकादश सर्ग

एक बार देशना के अंत में विनयवान् कृष्ण ने भगवंत को नमस्कार करके अंजलिबद्ध होकर पूछा– भगवन्! इस द्वारका नगरी का, यादवों का और मेरा किस प्रकार नाश होगा? यह किसी अन्य हेतु से अन्य के द्वारा या काल के प्रभाव से स्वयमेव होगा? प्रभु ने फरमाया– शौर्यपुर के बाहर एक आश्रम में पाराशर नामक एक पवित्र तापस रहता है। किसी वक्त उसने यमुना द्वीप में जाकर किसी नीचकुल की कन्या को भोगा, उससे उसे द्वैपायन नामक पुत्र हुआ। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला और इंद्रियों का दमन करने वाला वह द्वैपायन ऋषि यादवों के स्नेह से द्वारका के समीप रहेगा। उसे किसी समय शांब आदि यदुकुमार मदिरा से अंध होकर मारेंगे। इससे क्रोधांध हुआ वह द्वैपायन यादवों द्वारका को जला देगा, और तुम्हारे भाई जराकुमार के द्वारा तुम्हारा नाश होगा। प्रभु के ऐसे वचन सुनकर सभी कहने लगे 'अरे यह जराकुमार अपने कुल में अंगार रूप है।' इस प्रकार सर्व यादव कुमार दंभ पुवांक हृदय से उसे देखने लगे। जराकुमार भी यह सुनकर विचार करने लगा कि 'क्या मैं वसुदेव का पुत्र होकर भी भाई का घात करने वाला होऊंगा? प्रभु का वचन सर्वथा अन्यथा करने का मैं प्रयत्न करूँ।' ऐसा विचार करके प्रभु को नमन करके वह वहाँ से उठा और दो तूणीर (तरकश) तथा धनुष को धारण करके कृष्ण की रक्षा करने के विचार से (स्वयं से उसका विनाश न हो जाय इसलिए) वनवास को अंगीकार किया। द्वैपायन भी जनश्रुति से प्रभु के वचन सुनकर द्वारका और यादवों की रक्षा के लिए वनवासी हो गये। कृष्ण भी प्रभु को नमन करने द्वारकापुरी में आए और मदिरा के कारण से अनर्थ होगा, ऐसा जानकर मदिरा पान करने का सर्वथा निषेध कर दिया। कृष्ण की आज्ञा से समीपस्थ पर्वत पर आये हुए कंदबवन के मध्य में कादम्बरी नामक गुफा के पास में

अनेक शिलाकुंडों के अंदर धर की खाल के जल के जैसे द्वारका के लोग पूर्व में तैयार की हुई सर्वप्रकार की मद्य ला–लाकर डालने लगे।

(गा. 1 से 13)

उस समय सिद्धार्थ नाम के सारथि को शुभ भाव आने से उसने बलदेव को कहा, 'इस द्वारका नगरी की ओर यादव कुल की ऐसी दशा को मैं किस प्रकार देख सकूंगा? इसलिए मुझे प्रभु के चरण की शरण में जाने दो कि जिससे मैं वहाँ जाकर व्रत ग्रहण करूँ।' मैं जरा भी कालक्षेप सहन नहीं कर सकता हूँ। बलदेव नेत्र में अश्रु लाकर बोले– हे अनघ! हे भ्रात! तू तो उपयुक्त कहता है, परंतु मैं तुझे छोड़ने में समर्थ नहीं हूँ, तथापि मैं तुझे विदाई देता हूँ। परंतु यदि तूं तपस्या करके देव बने, तो जब मुझ पर विपत्ति का समय आवे तब तू भ्रातृस्नेह याद करके मुझे प्रतिबोध देना। बलभद्र के इस प्रकार के वचन सुनकर बहुत अच्छा ऐसा कहकर सिद्धार्थ ने प्रभु के पास दीक्षा ले ली और छः महीने तक तीव्र तपस्या करके स्वर्ग में गया।

(गा. 14 से 18)

इधर द्वारका के लोगों ने जिस शिलाकुंड में मदिरा डाली थी, वहाँ विविध वृक्षों के सुगंधी पुष्प गिरने से वह और अधिक स्वादिष्ट हो गयी। एक वक्त वैशाख महिने में शांब कुमार का कोई सेवक घूमता–घूमता वहाँ आया, उसे प्यास लगी थी, तो उसने उस कुंड में से मदिरा पी। उसके स्वाद से हर्षित होकर वह मदिरा की एक मशक भर उसे लेकर शांब कुमार के घर आया। उसने उस मदिरा को शांब कुमार को भेंट दी। उसे देखते ही वह कृष्ण कुमार अत्यन्त हर्षित हुआ। पश्चात् तृप्ति पर्यन्त उसका आकंठपान करके वह बोला कि 'ऐसी उत्तम मदिरा तुझे कहाँ से मिली? उसने वह स्थान बता दिया। तब दूसरे ही दिन शांब यादवों के दुर्दान्त कुमारों को लेकर कादम्बरी गुफा के पास आया। कादंबरी गुफा के योग से विविध प्रकार की स्वादिष्ट मदिरा को देखकर तृषित मनुष्य जैसे नदी को देखकर हर्षित होता है, उसी भांति वे अत्यन्त हर्षित हुए। वहाँ पुष्पवाले वृक्षों की वाटिका में बैठकर शांब कुमार ने अपने भाईयों और भ्रातृपुत्रों के साथ मदिरा पान गोष्ठी रची। अपने सेवकों से मंगवा मंगवा कर वे मदिरा पीने लगे। दीर्घ समय से प्राप्त हुई और अनेक सुगंधित और स्वादिष्ट द्रव्यों से संस्कारित उस मदिरा पान करके वे तृप्त नहीं हुए। वहाँ से क्रीड़ा करते

हुए और मदिरा पान से अंध बने उन कुमारों ने उस गिरि पर आश्रय लेकर रहे हुए धयानस्थ द्वैपायन ऋषि को देखा। उनको देखकर शांब कुमार बोले कि– 'यह तापस हमारी नगरी को और हमारे कुल का नाश करने वाला है। इसलिए इसे ही मार डालो कि जिससे मर जाने के बाद यह दूसरे का किस प्रकार नाश करेगा? ऐसे शांबकुमार के वचन से शीघ्र ही कुपित हुए सभी यादव कुमार, पत्थरों से पादुकाओं से थप्पड़ों से और मुक्कों से उसे बार–बार मारने लगे। इस प्रकार उसे पृथ्वी पर गिराकर मृतप्रायः करके वे सभी द्वारका में आकर अपने–अपने घर में घुस गये।

(गा. 19 से 30)

कृष्ण ने अपने व्यक्तियों के पास से ये सर्व समाचार सुनकर खेदयुक्त होकर विचारने लगे कि – 'अहो! इन कुमारों ने उन्मत्त होकर कुल का अंत करने जैसा आचरण किया है? तब कृष्ण राम को लेकर द्वैपायन ऋषि के पास आए। वहाँ बड़े दृष्टिविष सर्प की तरह क्रोध से लाल–लाल आंखों वाले उस द्वैपायन ऋषि को देखा। तब उन्मत्त हाथी को जैसे महावत शांत करता है उसे अति भयंकर त्रिदंडी को कृष्ण विनम्र वचनों के द्वारा शांत करने लगे। क्रोध एक बड़ा शत्रु है कि जो केवल प्राणियों को इस जन्म में ही दुःख नहीं देता बल्कि लाखों जन्म तक दुःख देता रहता है। हे महर्षि! मद्यपान से अंध हुए मेरे अज्ञानी पुत्रों ने आपका बहुत बड़ा अपराध किया है, उनको क्षमा करो। क्योंकि आपके जैसे महाशयों को क्रोध करना उपयुक्त नहीं है। कृष्ण ने इस प्रकार बहुत कुछ विनम्रता से तो भी वह त्रिदंडी शांत नहीं हुआ। वह बोला कि– हे कृष्ण! तुम्हारी सान्त्वना का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि जिस समय तुम्हारे पुत्रों ने मुझे मारा तब ही मैंने सर्व लोगों सहित द्वारका नगरी को जलाने का नियाणा कर लिया है। उनमें से तुम्हारे दो के बिना अन्य किसी का छुटकारा होगा नहीं। इस प्रकार उसके वचन सुनकर राम ने कृष्ण का निषेध करते हुए कहा कि 'हे बांधव! इस संन्यासी को वृथा किसलिए मनाते हो? जिनके मुख, धरण, नासिका और हाथ टेड़े हों, जिनके होंठ, दांत और नासिका स्थूल हो, जिसकी इंद्रिया विलक्षण हों और जो हीन अंगवाला हो, वह कभी भी शांति नहीं पा सकता। इस विषय में इसे कहना भी क्या है? क्योंकि भवितव्यता का नाश किसी भी प्रकार से नहीं है और सर्वज्ञ के वचन अन्यथा नहीं होते। कृष्ण शोकवदन घर आये। द्वारका में उस द्वैपायन के नियाणे की बात फैल गई।'

(गा. 31 से 41)

दूसरे दिन कृष्ण ने द्वारका में घोषणा करवा दी कि 'सब लोग धर्म में विशेष तत्पर रहें।' तब सभी जन ने वैसा ही किया। इतने में भगवान नेमिनाथ जी भी रैवताचल पर आकर समवसरे। ये समाचार सुनकर कृष्ण वहाँ गये। जगत् की मोहरूपी महानिद्रा को दूर करने के लिए रवि की कांति जैसी धर्मदेशना सुनने लगे। उस धर्मदेशना को सुनकर प्रद्युम्न, शांब, निषध, उल्मुक और सारणादि अनेक कुमारों ने दीक्षा ले ली। इसी प्रकार रूक्मिणी, और जांबवती आदि अनेक यादवों की स्त्रियों ने भी संसार से उद्वेग पाकर प्रभु के पास दीक्षा ले ली। कृष्ण के पूछने पर प्रभु ने कहा कि 'द्वैपायन आज से बारहवें वर्ष में द्वारका का दहन करेगा।' यह सुनकर कृष्ण चिंता करने लगे कि 'उन समुद्रविजय जी आदि को धन्य है कि जिन्होंने पहले से ही दीक्षा ले ली है, और मैं तो राज्य में लुब्ध होकर दीक्षा के बिना ही पड़ा हूँ, मुझे धिक्कार हो।' कृष्ण का ऐसा आशय जानकर प्रभु बोले कि – 'हे कृष्ण! कभी उनके चरित्र धर्म के उच्च सिद्धांतों के पालन में अर्गला स्वरूप बाधक होते हैं। राज्यधर्म के पालन में उनसे पापकर्म होते ही हैं– यह अनिवार्यता है अस्तु इसके फलस्वरूप नरक धारण भी अनिवार्य है। यह नियम अपरिवर्तनीय है।' यह सुनते ही कृष्ण अत्यन्त दुःखी हो गये, तब सर्वज्ञ प्रभु ने पुनः कहा कि 'हे वासुदेव! तुम खेद मत करो। क्योंकि तुम नारकीय जीवन निकालकर इस भरतक्षेत्र में तीर्थंकर होवोगे। ये बलभद्र यहाँ से मृत्यु प्राप्त करके ब्रह्मदेवलोक में जायेंगे। वहाँ से च्यव कर पुनः मनुष्य होंगे, फिर देवता होंगे, वहाँ से च्यवकर इस भरतक्षेत्र में उत्सर्पिणी काल में राजा होंगे और तुम्हारे ही तीर्थ में मोक्ष जायेंगे। इस प्रकार कहकर प्रभु ने अन्यत्र विहार किया। वासुदेव भी उनको नमन करके द्वारका में आये। तब कृष्ण ने उद्घोषणा कराई तो सर्व लोग विशेष धर्मनिष्ठ हुए।

(गा. 42 से 56)

द्वैपायन वहाँ से मृत्यु प्राप्त करके अग्निकुमार निकाय में देवतारूप में उत्पन्न हुआ। पूर्व का वैर स्मरण उसने करके उसी समय वह द्वारका में आया। परंतु वहाँ सब लोगों को चतुर्थ, छट्ठ, अट्ठम आदि तप में संलग्न और देवपूजा में निमग्न देखा। धर्म के प्रभाव से वह कुछ भी उपसर्ग करने में समर्थ न हो सका। इससे उनके छिद्र देखता हुआ ग्यारह वर्ष तक वह वहाँ ही रहा। जब बारहवां वर्ष लगा तब लोगों ने विचारा कि अपने तप के प्रभाव से द्वैपायन भ्रष्ट होकर चला गया और अपन जीवित रह गये। इसलिए अब अपन स्वेच्छा से

घूमे फिरें। तब मद्यपान करने में अभक्ष्य खाने में और स्वेच्छा से क्रीड़ा करने में निमग्न रहने लगे। उस समय छिद्रान्वेषी द्वैपायन को अवकाश मिला। इसलिए उसकी कटुदृष्टि से शीघ्र ही कल्पांत काल जैसे और यमराज के द्वार जैसे विविध उत्पात द्वारका में उत्पन्न हुए। आकाश में उल्कापात के निर्घात होने लगे। पृथ्वी कांपने लगी। ग्रहों में से धूमकेतु को विडंबना उत्पन्न करने वाला धुँआ निकलने लगा। अंगारों की वृष्टि होने लगी। सूर्यमंडल में छिद्र दिखाई देने लगे। अचानक सूर्य–चंद्र ग्रहण होने लगे। महलों में स्थित लेप्यमय पुतलियाँ अट्टहास करने लगी। चित्रों में चित्रित देवतागण भृकुटि चढ़ाकर हंसने लगे। नगरों में भी हिसंक जानवर विचरण करने लगे। उस समय वह द्वैपायन देव भी अनेक शाकिनी, भूत और वैताल आदि से परिवृत्त होकर घूमने लगा। नगरजन स्वप्न में रक्त वस्त्र (लाल) रक्त विलेपनवाले, कीचड़ में धँसे हुए और दक्षिणाभिमुख खींचते हुए अपनी आत्मा को देखने लगे। राम और कृष्ण के हल, चक्र आदि आयुधरत्नों का नाश हो गया। तब द्वैपायन ने संवर्त्तक वायु की विकुर्वणा की। उस वायु ने काष्ठ, तिनके आदि सब ओर से ला लाकर नगरी में डाले। जो लोग चारों दिशाओं में भागने लगे उनको भी ला लाकर डाल दिया। उसी पवन ने आठों दिशाओं में से वृक्षों का उन्मूलन कर दिया और उनको लाकर समग्र द्वारका नगरी को लकड़ियों से भर दिया। साठ कुल कोटि बाहर रहने वाले और बहत्तर कुल कोटि द्वारका में रहने वाले इस प्रकार सर्व यादवों को इकट्ठा करके इस द्वैपायन असुर ने अग्नि प्रकट की। यह अग्नि प्रलयकाल की अग्नि की भांति अपने सघन धुएँ से समग्र विश्व में अंधकार करती हुई धग् धग् शब्द करती हुई प्रज्वलित हुई। आबाल वृद्ध सभी लोग मानो बेड़ियों से कैद किए हुए हो, जकड़े हुए हो, वैसे एक डग भी वहाँ से चलने में समर्थ नहीं हुए। सभी पिंडाकार रूप में एकत्रित हो गये। उस समय राम और कृष्ण ने वसुदेव देवकी और रोहिणी को अग्नि में से बाहर निकालने के लिए रथ में बिठाया। परंतु वादी जैसे सर्प को स्तंभित कर देता है, वैसे देवता से स्तंभित किए हुए अश्व और वृषभ वहाँ से जरा भी चल नहीं सके। तब राम–कृष्ण घोड़ों को छोड़कर स्वयं ही उस रथ को खींचने लगे। इतने में तो उस रथ की धुरी तड़–तड़ शब्द करती हुई, लकड़े के टुकड़े की तरह टूट गई। तथापि वे हे राम! हे कृष्ण हमारा रक्षण करो, रक्षण करो! ऐसे दीनता से पुकारने अपने माता–पिता को बचाने के लिए अत्यन्त सामर्थ्य से उस रथ को मुश्किल से नगर के दरवाजे के पास

लाये, इतने में उसके दोनों किवाड़ बंध हो गये। राम ने पग की एड़ी के प्रहार से उन दोनों किवाड़ों को तोड़ डाला। तथापि मानो पृथ्वी ने ग्रस लिया हो। वैसे जमीन में धंसे हुए रथ को बाहर निकाल नहीं सके। उस समय द्वैपायन देव ने आकर कहा कि 'अरे बलराम और कृष्ण! तुमको यह क्या मोह हुआ है? मैंने तुमको पहले ही कहा था कि – तुम्हारे दो के सिवा अन्य कोई भी अग्नि में से मुक्त नहीं हो सकेगा। क्योंकि मैंने इसके लिए मेरी तपस्या की भी बली चढ़ा दी। अर्थात् नियाणे द्वारा निष्फल कर दी।' यह सुनकर उनके माता पिता बोले– हे वत्सों! अब तुम चले जाओ, तुम दोनों जीते रहोगे तो मानों सारे यादव जीते हैं। इसलिए वृथा श्रम मत करो। तुमने तो हमको बचाने के लिए बहुत किया। परंतु भवितव्यता बलवान् और दुर्लध्य है। हम अभागों ने प्रभु के पास दीक्षा ली नहीं, तो अब हम हमारे कर्मों के फल को भोगेंगे। उनको इस प्रकार कहते, सुनकर भी जब राम–कृष्ण उनको छोड़कर गये नहीं, तब वसुदेव देवकी और रोहिणी ने कहा कि 'अभी से ही हमको त्रिजगद्गुरु श्री नेमिनाथजी की शरण है, हम चतुर्विध आहार के पच्चक्खाण करते हैं और शरणेच्छु ऐसे हम अर्हत, सिद्ध साधु और अर्हत कथित धर्म का शरण अंगीकार करते हैं। हम किसी के नहीं और कोई हमारा नहीं है। इस प्रकार आराधना करके वे नवकार मंत्र के ध्यान में तत्पर हुए। तब द्वैपायन ने उनके ऊपर अग्नि के मेघ की तरह अग्नि बरसाई। इससे वे तीनों शीघ्र ही मृत्यु पाकर स्वर्ग में गये। राम और कृष्ण नगरी के बाहर निकलकर जीर्णोद्यान में गये और खड़ें रहकर जलती हुई द्वारकापुरी को देखने लगे।

(गा. 57 से 89)

द्वारका में अग्नि के जलने से माणक की दीवारें पाषाण के टुकड़ों की तरह चूर्ण होने लगी। गोशीर्षचंदन के स्तंभ भूंसे की तरह ध्वस्त हो रहे थे। किल्ले के कंगूरे तड़–तड़ शब्द करके टूट रहे थे और घरों के तलभाग में फट फट शब्द करते फूट रहे थे। समुद्र में जल की तरह अग्नि की ज्वालाओं जरा भी अंतर नहीं था। प्रलयकाल में जिस प्रकार सर्वत्र एकार्णव हो जाय वैसे सर्व नगरी एकानल रूप हो गई थी। अग्नि अपना ज्वालारूप करों से नाच रही थी। अपने शब्दों से गर्जना कर रहे थे और विस्तरित होते धुँए के बहाने से नगर जन रूप मछलियों के ऊपर मानों जाल बिछाया हो वैसा दिखाई दे रहा था। इस प्रकार की द्वारका की स्थिति देखकर कृष्ण ने बलभद्र को कहा – नपुंसक जैसा

मुझे धिक्कार हो कि मैं तटस्थ रहकर इस मेरी नगरी को जलती देख रहा हूँ। आर्य बंधु! जिस प्रकार इस नगरी की रक्षा करने में मैं समर्थ नहीं हूँ, वैसे इसे देखने में भी उत्साह रखता नहीं हूँ। इसलिए कहो अब अपन कहाँ जायेंगे? क्योंकि सर्वत्र अपने विरोधी राजा हैं। बलभद्र बोले– 'भाई! इस समय वास्तव में अपने सगे, संबंधी, बांधव या मित्र पांडव ही हैं। इसलिए उनके यहाँ चले।' कृष्ण ने कहा, आर्य! पहले मैंने उनको देश निकाला दिया था, तो अपकार की लज्जा से अब वहाँ किस प्रकार जायेंगे? राम बोले– 'सत्पुरुष अपने हृदय में उपकार को ही धारण करते हैं। वे बुरे स्वप्न की तरह कभी भी अपकार को तो याद करते ही नहीं है। हे भ्राता! अपनों से अनेक बार सत्कारित पांडव कृतज्ञ होने से अपनी पूजा सत्कार ही करेंगे। उनके संबंध में अन्य विचार लाना ही नहीं। इस प्रकार राम के कहने पर कृष्ण पांडवों की पांडुमथुरा नगरी का लक्ष्य करके नैऋत्य दिशा की ओर चल दिये।

(गा. 90 से 100)

इधर द्वारका नगरी धधक रही थी, उस समय राम का पुत्र कुब्जवारक जो कि चरम शरीरी था, वह महल के अग्रभाग पर चढ़कर, हाथ ऊँचे कर के इस प्रकार बोला कि– 'इस समय मैं श्री नेमिनाथजी का व्रतधारी शिष्य हूँ। मुझे प्रभुजी ने चरमशरीर और मोक्षगामी कहा है। यदि अर्हन्त की आज्ञा के अनुसार ही मैं हूँ तो अग्नि से कैसे जलूंगा? इस प्रकार वह बोला। जब जृंभक देवता उसे वहाँ से उठाकर प्रभु के पास ले गए। उस समय श्री नेमिप्रभुजी पाण्डवों के देश में समवसरे थे। वहाँ जाकर उस महामनस्वी ने दीक्षा ली। जिन राम कृष्ण की स्त्रियों ने पहले दीक्षा नहीं ली थी, उन्होंने भी श्री नेमिप्रभु का स्मरण करते हुए अनशन करके अग्नि ही मृत्यु का वरण किया। इस अग्नि में साठ कुलकोटि और बहत्तर कुलकोटि यादव जलकर भस्म हो गए। छः महिने तक द्वारका नगरी जलती रही, तत्पश्चात् समुद्र ने जल से उसे आप्लावित कर डाला।

(गा. 101 से 105)

इधर मार्ग में चलते हुए कृष्ण हस्तिकल्प नामक नगर में आए। तब उनको क्षुधा की पीड़ा उत्पन्न हुई, इसलिए यह बात बलभद्र को बतलाई। बलभद्र बोले– 'हे बांधव! मैं तुम्हारे लिए भोजन लेने इस नगर में जाता हूँ। परंतु तुम यहाँ प्रमादरहित होकर रहना। यदि मुझे नगर में कुछ कष्ट हुआ, तो मैं सिंहनाद

करूंगा तो तुम वह सुनकर शीघ्र ही वहाँ आना।' इस प्रकार कहकर बलराम नगर में गये। उस समय नगरजन उनको देखकर यह देवाकृति पुरुष कौन है? ऐसे आश्चर्यचकित होकर निरखने लगे। विचार करते-करते उनको ख्याल आया कि 'द्वारका अग्नि से जलकर भस्म हो गई है, वहाँ से निकलकर ये बलभद्र यहाँ आए लगते हैं।' बलभद्र ने किसी दुकान पर जाकर अंगुली से मुद्रिका देकर विधि प्रकार का भोजन लिया और कलाल की दुकान से कड़ा देकर मदिरा ली। वह लेकर बलदेव जैसे ही नगरी के द्वार की ओर चले, वैसे ही राजा का चौकीदारों ने उनको देखकर विस्मित होकर यह बात राजा को ज्ञात कराने के लिए राजा के पास गये। उस नगर में धृतराष्ट्र का पुत्र अच्छदंत राज्य करता था। पूर्व में जब पांडवों ने कृष्ण का आश्रय लेकर सब कौरवों का विनाश किया, तब उसे ही अवशेष रखा था। रक्षकों ने आकर उस राजा से कहा कि 'कोई बलदेव के जैसा पुरुष चोर की भांति महामूल्वान कड़ा और मुद्रिका देकर उसके बदले में अपने नगर में से मद्य और भोजन लेकर नगर के बाहर जा रहा है। अब वे बलभद्र हो या कोई चोर हो, हमने आपको जानकारी दे दी है। इस बाबत हमारा कोई अपराध नहीं है।' ऐसे समाचार सुनकर अच्छदंत सैन्य बल लेकर बलदेव को मारने के लिए उसके पास आया और नगर के दरवाजे बंद करवा दिये। शीघ्र ही बलदेव उस भोजन एवम् पान को एक ओर रखकर हाथी का आलानस्तंभ उखाड़ कर सिंहनाद करके शत्रु के सैन्य पर टूट पड़े। सिंहनाद सुकर कृष्ण भी वहाँ आने के लिए दौड़े। दरवाजे बंद देखकर पैरों के प्रहार से पैरों से कवाड़ों को तोड़कर समुद्र में जैसे वडवानल घुसता है वैसे उस नगर में घुसे। कृष्ण ने उस दरवाजे की अर्गला से ही शत्रु के तमाम सैनिकों को मार डाला। तब वशीभूत हुए राजा अच्छदंत को उन्होंने कहा कि 'अरे मूर्ख! हमारी भुजा का बल अभी कहीं नहीं गया, यह जानते हुए भी तुमने यह क्या किया? अब जा, निश्चल होकर तेरे राज्य को भोग। तेरे अपराध करने पर भी हम तुझे छोड़ देते हैं। ऐसा कहकर नगर से बाहर आकर उन्होंने उद्यान में बैठकर भोजन किया। फिर वहाँ से दक्षिण दिशा की ओर चलकर कौशांबी नगरी के वन में आए।

(गा. 106 से 122)

उस समय मद्यपान से, लवण सहित भोजन करने से, ग्रीष्मऋतु के योग से, श्रम से, शोक से, और पुण्य के क्षय से कृष्ण को बहुत प्यास लगी। इससे

उन्होंने बलराम से कहा कि भाई! अतितृषा से मेरा तालु सूख रहा है। इसलिए इस वृक्ष की छाया वाले वन में भी मैं चलने में शक्तिवान् नहीं हूँ। बलभद्र ने कहा, 'भ्राता! मैं जल्दी–जल्दी जल के लिए जाता हूँ, इसलिए तुम यहाँ इस वृक्ष के नीचे विश्रांत और प्रमादरहित होकर क्षणभर के लिए बैठो।' इस प्रकार कहकर बलभद्र गये, तब कृष्ण एक पैर को दूसरे जानु पर चढ़ाकर पीला वस्त्र ओढ़कर मार्गगत वृक्ष के नीचे सो गए और क्षणभर में निद्राधीन हो गये। राम ने जाते–जाते भी कहा था कि 'प्राणवल्लभ बंधु! जब तक मैं वापिस लौटूँ, तब तक क्षणभर के लिए भी तुम प्रमादी मत होना।' पश्चात् ऊँचा मुख करके बलभद्र बोले– 'हे वनदेवियों! यह मेरा अनुज बंधु तुम्हारी शरण में है। इसलिए इस विश्ववत्सल पुरुष की रक्षा करना।' ऐसा कहकर राम जल लेने गए। इतने में हाथ में धनुष धारण किए हुए, व्याघ्रचर्म के वस्त्रों के पहने हुए और लंबी दाढ़ी वाला शिकारी बना हुआ जराकुमार वहाँ आया। शिकार के लिए घूमते–घूमते जराकुमार ने कृष्ण को इस अवस्था में सोये हुए देखा। जिससे उसने मृग की बुद्धि से उनके चरण तल पर तीक्ष्ण बाण मारा। बाण लगते ही कृष्ण वेग से बैठ होकर बोले कि 'अरे! मुझ निरपराधी को छल करके कहे बिना चरणतल में किसने बाण मारा? पहले कभी भी जाति और नाम कहे बिना किसी ने मुझ पर प्रहार किया नहीं, इसलिए जो भी हो, वह अपना गोत्र और नाम कहे। इस प्रकार का प्रश्न सुनकर जराकुमार ने वृक्ष की घटा में छुपकर ही कहा 'हरिवंशरूपी सागर में चंद्र जैसे दसवें दशार्द वसुदेव की स्त्री जरादेवी के उदर से जन्म लिया हुआ मैं जराकुमार नामका पुत्र हूँ। राम कृष्ण का अग्रज बंधु हूँ, और श्री नेमिनाथजी के वचन सुनकर कृष्ण की रक्षा करने के लिए (मुझ से उनका वध न हो इसलिए) मैं यहा इस जंगल में आया हूँ। मुझे यहाँ रहते बारह वर्ष व्यतीत हो गए। परन्तु आजतक मैंने यहाँ किसी मनुष्य को देखा नहीं है। ऐसा बोलने वाले तुम कौन हो? यह कहो।' कृष्ण बोले– अरे पुरुष व्याघ्र बंधु! यहाँ आ। मैं तुम्हारा अनुज बंधु कृष्ण ही हूँ कि जिसके लिए तुम वनवासी हुए हो। हे बांधव! दिग्मोह से अति दूर मार्ग का उल्लंघन करने वाले पथिक की भांति तुम्हारा बारह वर्ष का प्रवास वृथा चला गया।' यह सुनकर क्या यह कृष्ण है? ऐसा बोलता हुआ जराकुमार उनके समीप आया और कृष्ण को देखते हुए मूर्च्छित हो गया। तब मुश्किल से चेतना पाकर जराकुमार ने करुण स्वर में रुदन करते हुए पूछा, अरे भ्रात! यह क्या हो गया? तुम यहाँ कैसे? क्या द्वारिका दहन

हुआ ? क्या यादवों का क्षय हुआ ? अरे! तुम्हारी यह अवस्था देखकर लगता है कि नेमिनाथ की वाणी सत्य हो गई है। जब कृष्ण ने सर्व वृत्तांत कह सुनाया। जराकुमार ने रुदन करते हुए कहा कि– 'अरे भाई! मैंने यह शत्रु योग्य ऐसा कार्य किया है, कनिष्ठ, दुर्दशा में मग्न और भ्रातृवत्सल ऐसे तुमको मारने से मुझे नरकभूमि में भी स्थान मिलना संभव नहीं है। तुम्हारी रक्षा के खातिर मैंने वनवास धारण किया, परंतु मुझे ऐसा पता नहीं कि विधि ने पहले से ही मुझे तुम्हारे कालरूप में कल्पित किया है। हे पृथ्वी! तू विश्वास दे कि जिससे मैं इस शरीर से ही नरकभूमि में जाऊँ, कारण कि तुम्हारी विद्यमानता में ही मैं एक साधारण मनुष्य यदि मर जाता तो क्या न्यूनता हो जाती ? कृष्ण बोले– हे भाई! अब शोक मत करो। जराकुमार कहने लगा सर्व दुःख से अधिक भ्रातृहत्या का दुःख आ जाने से अब यहाँ रहना मुझे नरक से भी अधिक दुःखदायी है। मैंने ऐसा अकार्य किया है कि अब मैं वसुदेव का पुत्र, या तुम्हारा भ्राता या मनुष्य भी रह सकूँ ? उस समय सर्वज्ञ के वचन सुनकर मैं मर क्यों नहीं गया। अब शोक करने से भी क्या ? कारण कि तुमसे या मुझसे भवितव्यता का उल्लंघन नहीं हो सकता है। हे जराकुमार, तुम यादवों में मात्र एक ही अवशेष रहे हो। इसलिए तुम चिरकाल तक जीओ और यहाँ से शीघ्र ही चले जाओ। क्योंकि बलराम यहाँ पहुँचेगे तो वे मेरे वध करने वाले को क्रोध से मार डालेंगे। यह मेरा कौस्तुभ रत्न निशानी रूप में लेकर तुम पांडवों के पास चले जाओ। यह सत्य वृत्तांत कहना। वे अवश्य तुम्हारी सहायता करेंगे। तुम यहाँ से उल्टे पैरों चले जाओ, ताकि राम तुम्हारे पद चिह्नों का अनुसरण करके आवे तो भी शीघ्र ही तुम मिल नहीं सकोगे। मेरे वचन से सर्व पांडवों को और अन्यों को भी खमाना (क्षमा मांगना)। क्योंकि पहले मेरे ऐश्वर्य के समय में मैंने उनको देश निकाला देकर क्लेश पहुंचाया है।' ऐसा कृष्ण ने बार–बार कहा। जराकुमार कृष्ण के चरण में से अपना बाण खींच कर कौस्तुभ रत्न लेकर वहाँ से चला गया।

(गा. 123 से 153)

जराकुमार के जाने के बाद कृष्ण चरण की वेदना से पीड़ित होने पर भी उत्तराभिमुख रहकर अंजली जोड़कर इस प्रकार कहने लगे कि– अर्हंत भगवंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधुओं को मन–वचन–काया से मेरा नमस्कार हो। फिर जिन्होंने हम जैसे पापियों का त्याग करके धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया, ऐसे भगवंत श्री अरिष्टनेमि परमेष्ठी को मेरा नमस्कार हो।

ऐसा कहकर तृण के संथारे पर सोकर जानु पर चरण रखकर और वस्त्र ओढ़कर सोचने लगे कि भगवान् श्री नेमिनाथ, वरदत्त आदि गणधर, प्रद्युम्न आदि कुमार और रुक्मिणी आदि मेरी स्त्रियों को धन्य है कि जो सतत संसारवास के कारण रूप गृहवास का त्याग करके दीक्षा लेकर चल पड़े और इस संसार में ही विडंबना पाने वाला मैं, मुझे धिक्कार हो। इस प्रकार शुभभावना भाते भाते कृष्ण अंग सर्व तरफ से टूटने लगा और यमराज का सहोदर जैसा प्रबलवायु कोप हुआ। जिससे तृष्णा, शोक और घातकी वासु से पीड़ित कृष्ण का विवेक सर्वथा भ्रष्ट हो गया। वे शीघ्र ही अशुभ विचारणा करने लगे कि 'मेरा जन्म से कोई भी मनुष्य या देवता भी पराभव कर नहीं सका। उसे इस द्वैपायन ने कैसी बुरी दशा को प्राप्त करा दिया! इतना होने पर अब भी यदि मैं उसे देखूं तो अभी भी उठकर उसका अंत कर दूं। मेरे सामने वो क्या है? और उसका रक्षण करने में भी कौन समर्थ है? इस प्रकार क्षणमात्र रौद्रध्यान ध्याते हुए एक सहस्रवर्ष का आयुष्य पूर्ण करके मृत्यु के पश्चात् निकाचित धर्म उपार्जित तीसरी नरक में गये। कृष्ण वासुदेव ने सोलहवर्ष कौमारावस्था में छप्पन वर्ष मांडलिक रूप में और नौ सौ अट्ठावीस वर्ष अर्धचक्रीरूप में इस प्रकार सब मिलाकर एक हजार वर्ष का आयुष्य पूर्ण किया।

(गा. 154 से 165)

द्वादश सर्ग

इधर राम मार्ग में अपशकुन होने से व्यथित होते हुए कमल से पत्रपुट में जल लेकर शीघ्र ही कृष्ण के पास आये। उस समय 'यह सो गया है' ऐसा सोचकर एक क्षण तो वे बैठे रहे। इतने में तो कृष्ण वर्णीय मक्खियाँ वहाँ भिनभिनाती देखकर मुख पर से वस्त्र खींच लिया। तब अपने प्रियबंधु को मरण पाये हुए देखकर छेदे हुए वृक्ष की तरह राम मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। तब किसी प्रकार चेतना पाकर उन्होंने जोर से बड़ा सिंहनाद किया कि जिससे शिकारी प्राणी भी त्रास पाने लगे और सारा वन कंपित हो गया। तब वे बोले कि 'जिस पापी ने सुखपूर्वक सोये हुए मेरे इस विश्ववीर बुधु को मार डाला, वह अपनी आत्मा को बतावे और वास्तव में बलवान् हो तो मेरे सामने आवे। परंतु वास्तव में बलवान् तो सोये हुए, प्रमादी, बालक, मुनि और स्त्री पर प्रकार कैसे करेगा? इस प्रकार उच्च स्वर से आक्रोश करते हुए राम उस वन मे घूमने लगे। परंतु कोई मनुष्य न मिलने पर पुनः कृष्ण के पास आकर आलिंगन करके रुदन करने लगे कि– 'हे भ्रात! हे पृथ्वी मैं अद्वितीय वीर! हे मेरे उत्संग में हुए! हे कनिष्ठ होने पर भी गुणों में ज्येष्ठ! और हे विश्व श्रेष्ठ! तुम कहाँ हो? अरे वासुदेव! तुम पहले कहते थे कि मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता और इस समय तो सामने उत्तर भी नहीं देते हो, तो वह प्रीति कहाँ गई? तुमको कुछ रोष हुआ है और इससे ही तुम रूठ गए लगते हो, परंतु मुझे मेरा कुछ अपराध याद आता नहीं है। अथवा क्या मुझे जल लाने में बिलम्ब हुआ, जो तुम्हारे रोष का कारण बना है? हे भ्राता! वह तुम्हारे रोष का कारण बना हो तो ठीक है। तथापि अभी तुम बैठे सको तो बैठ पाओ। क्योंकि सूर्यास्त हो रहा है और वह समय महात्माओं के सोने का नहीं है।' इस प्रकार प्रलाप करते हुए राम ने वहाँ रात्रि व्यतीत की। पुनः प्रातःकाल में कहने लगे भाई बैठ जाओ! बैठ जाओ! इस

प्रकार बार–बार कहने पर भी जब कृष्ण बैठे नहीं हुए तब राम स्नेह से मोहित होकर उनके स्कंध पर चढ़ाकर गिरिवन आदि में घूमने लगे। स्नेह से मोहित होने पर भी कृष्ण की मृतकाया को प्रतिदिन पुष्पादिक से अर्चन पूजन करते हुए बलराम ने छः महिने व्यतीत किये।

(गा. 1 से 14)

इस प्रकार घूमते घूमते अनुक्रम से वर्षाकाल आया। तब वह सिद्धार्थ जो देव हुआ था, उसने अविधज्ञान से देखा कि मेरा भ्रातृवत्सल भाई बलराम कृष्ण के मृतशरीर को वहन करके घूम रहा है। इसलिए वहाँ जाकर उनको बोध दूँ। क्योंकि उन्होंने पूर्व में मेरे से वचन मांगा था कि जब मुझ पर विपत्ति आवे तब तू देव हो तब आकर मुझे प्रतिबोध देना। इस प्रकार विचार करके उसने पर्व से उतरते एक पाषाणमय रथ की निकुर्वणा की और स्वयं उसका कौदुम्बिक बनकर विषम पर्वत पर से उतरते उस रथ को तोड़ दिया। फिर उसे जोड़ने की मेहनत करने लगा। उसे पाषाणमय रथ को जोड़ते देखकर बलभद्र बोले– अरे मूर्ख! विषमगिरि पर से उतरते हुए जिसके टुकड़े–टुकड़े हो गए ऐसे इस पाषाणमय रथ को जोड़ना क्यों चाहता है? उस देव ने कहा, हजारों युद्ध में भी हनन नहीं किया हुआ पुरुष युद्ध के बिना ही मर जाय और वह यदि पुनः जी जाय, तो यह मेरा रथ पुनः सज्ज क्यों न होगा? वह देव आगे जाकर पत्थर पर कमल रोपने लगा। तब बलदेव ने पूछा– क्या कभी पाषाणभूमि पर कमलवन उगेगा? फिर देव ने आगे जाकर एक जले हुए वक्ष को सींचने का असफल प्रयास आरम्भ किया। यह देखकर बलदेव ने कहा– दग्ध हुआ वृक्ष पानी से सींचने से पुनः उगेगा? तब देव ने प्रत्युत्तर दिया कि यदि तुम्हारे स्कंध पर रहा हुआ यह शव जी जाएगा तो यह वृक्ष भी पुनः उग जाएगा। आगे जाकर वह देव ग्वाला होकर गायों के शवों के मुख में जिंदा गाय की तरह नवीन दुर्वा डालने लगा। यह देखकर बलदेव ने कहा कि 'अरे मूढ़! यह अस्थिप्रायः हुई गायें क्या तेरी दी हुई दुर्वा कभी भी चरेंगी? देव बोला कि 'यदि यह तुम्हार अनुज बंधु जीएगा तो ये मृत गायें भी दुर्वा को चरेंगी।' यह सुनकर राम ने विचार किया कि क्या मेरे इस अनुज बंधुने वास्तव में मृत्यु प्राप्त की है कि जिससे ये अलग–अलग लोग एक जैसा ही जवाब दे रहे हैं। बलदेव का विचार इस प्रकार सुधरता हुआ देखकर शीघ्र ही उस देवता ने सिद्धार्थ का रूप बनाया और बलराम के आगे आकर कहा कि 'मैं तुम्हारा सारथी सिद्धार्थ हूँ। दीक्षा

लेकर मृत्यु के पश्चात् देवता बना हूँ। तुमने पहले मुझसे मांग की थी। इससे तुमको बोध देने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। नेमिप्रभु ने कहा था कि 'जराकुमार से कृष्ण की मृत्यु होगी।' वैसा ही हुआ है क्योंकि सर्वज्ञ भाषित कभी भी अन्यथा नहीं होता। अपना कौस्तुम रत्न निशानी रूप में देकर कृष्ण ने जराकुमार को पांडवों के पास भेज दिया है। बलदेव बोले– हे सिद्धार्थ! तुमने यहाँ आकर मुझे बोध दिया, यह बहुत अच्छा किया। परंतु इस भ्राता की मृत्यु केदुःख से पीड़ित अब मैं क्या करूँ? वह कहो। सिद्धार्थ बोला– श्री नेमिनाथ प्रभु के विवेकी भ्राता तुमको अब दीक्षा के बिना कुछ भी काल व्यतीत नहीं करना चाहिए। बहुत अच्छा! ऐसा कहकर बलदेव ने उस देवता के साथ सिंधु और समुद्र के संगम के स्थान पर आकर कृष्ण के शरीर का अग्निसंस्कार किया। उस समय बलराम को दीक्षा लेने का इच्छुक जानकर महाकृपालु श्री नेमिनाथ प्रभुजी ने एक विद्याधर मुनि को शीघ्र ही वहाँ भेजा। राम ने उनके पास दीक्षा ली। पश्चात् तुंगिका शिखर पर जाकर तीव्र तप करने लगे। वहाँ सिद्धार्थ देव उनका रक्षक बनकर रहा।

(गा. 15 से 37)

एक समय बलराम मुनि मासक्षमण के पारणे के लिए नगर में गए। वहाँ कोई स्त्री बालक को लेकर कुए के किनारे पर खड़ी थी। वह राम का अतिशयरूप देखकर उनको देखने में ही निमग्न हो गई। इससे व्यग्र चित्तवाली उसने घड़े में बांधने वाली रस्सी घड़े के बदले बालक के कंठ में बाध दी। फिर जैसे ही वह बालक को कुए में डालने लगी, उतने में बलराम को यह दिखाई दिया। इससे उन्होंने विचार किया कि अनर्थकारी मेरे इस रूप को धिक्कार हो! अब मैं किसी भी गांव या नगर में जाऊँगा नहीं। मात्र वन में काष्टादिक को लेने आने वालों से जो भिक्षा मिलेगी, उससे ही पारणा करूँगा। इस प्रकार निर्धार करके उस स्त्री को (मोह) निवारण करके बलदेव मुनि तुरंत ही जंगल में चले गये। वहाँ आकर मासिक आदि दुस्तप तप किया एवं तृण काष्टादिक वहन करने वाले लोगों के पास से प्रासुक भात पानी वहर कर अपना निर्वाह करने लगे।

(गा. 38 से 43)

एक बार काष्ठादिक को ले जाने वाले उन लोगों ने अपने–अपने राजा के पास जाकर कहा कि 'देवरूपी पुरुष इस वन में तप कर रहा है।' यह सुनकर

उन राजाओं को शंका हुई कि 'क्या हमारे राज्य हरण की इच्छा से वह ऐसा तप कर रहे हैं या कोई मंत्र साधना कर रहे हैं? इसलिए चलो, हम सब वहाँ जाकर उसे मार डाले। ऐसा सोचकर वे सभी एक साथ सर्वाभिसार से (युद्ध की सामग्री युक्त) राममुनि के पास चले। उनको वहाँ आते देखकर वहाँ रहे हुए सिद्धार्थ देव ने जगत को भी भयंकर सुनाई दे ऐसे अनेक सिंहों की विकुर्वणा की। इससे वे राजा आश्चर्य के साथ भयभीत होकर बलराम मुनि को नमन करके अपने–अपने स्थान पर लौट गये। तब से ही बलभद्र नरसिंह के नाम से प्रख्यात हुए। वन में तपस्या करते हुए बलभद्र मुनि की धर्मदेशना से प्रतिबोध पाकर बहुत से सिंह व्याघ्रादि प्राणी भी शांति पा गए। उसमें से अनेक श्रावक, अनेक भ्रदिक परिणामी और अनेक कायोत्सर्ग करने लगे और अनेक ने अनशन अंगीकार किया। वे मांसाहार से बिल्कुल निवृत्त होकर तिर्यंचरूपधारी राममुनि के शिष्य हो ऐसे उनके परिपार्श्वक हो गये। उनमें पूर्वभव का संबंधी एक मृग जातिस्मरण पाकर अति संवेग वाला होकर उनका सदा का सहनन हो गया। बलराममुनि की निरंतर उपासना करता हुआ वह मृग वन में घूमता और काष्टादिक लेने आने वाले की शोध करता। उनकी तलाश कर लेने पर वह राममुनि के पास आता, वहाँ उनको ध्यानस्थ देखता। तब वह उनके चरण में मस्तक नमा नमा कर भिक्षा देने वाला यहाँ है ऐसी जानकारी देता। राममुनि उसके आग्रह से ध्यान पूर्ण करके उस हिरण को आगे करके उसके साथ भिक्षा लेने जाते एक बार अनेक रथकार उत्तम काष्ठ लेने के लिए उस वन में आए। उन्होंने अनेक सरल वृक्षों का छेदन किया। उनको देखकर उस मृग ने शीघ्र ही राममुनि को बताया। तब उसके आग्रह से वह महामुनि ध्यान में से जागृत हुए और वे रथकार भोजन करने बैठे ही थे कि उस वक्त वे मुनि उस मृग को आगे करके मासक्षमण के पारणे के लिए भिक्षा लेने के लिए वहाँ गये। उन रथकारों में जो अग्रेसर था वह बलदेव मुनि को देखकर अत्यन्त हर्षित हुआ और विचारने लगे कि 'अहो इस अरण्य में साक्षात् कल्पवृक्ष के जैसे यह कोई मुनि है। अहो कैसा इनका रूप? कैसा तेज? कैसी इनकी महान् क्षमता! ये मुनिरूप अतिथि मिलने से तो मैं कृतार्थ हुआ। इस प्रकार चिंतन करके वह रथकार पाँचों अंगों से भूमि को स्पर्श करके (पंचांग प्रणाम करके) उनको भात पानी देने लगा।

(गा. 44 से 61)

उस समय बलराम मुनि ने विचार किया कि 'यह शुद्ध बुद्धि वाला श्रावक लगता है, इससे ही जिस कार्य द्वारा स्वर्ग का फल उपार्जन हो सकता है, ऐसा यह भिक्षा मुझे देने को उद्यत हुआ है, यदि मैं यह भिक्षा नहीं लूंगा तो इसकी सद्गति में मैंने अंतराय दिया, माना जाएगा। इसलिए मैं यह भिक्षा ग्रहण कर लूँ। इस प्रकार विचार करके करूणा के क्षीरसागर जैसे वे मुनि जो कि अपने शरीर पर भी निस्पृह थे, तो भी उन्होंने उनके पास से भिक्षा ग्रहण की। वह मृग मुनि को और रथकार को देखकर मुख ऊँचा करके आँखों में अश्रु लाकर सोचने लगा कि 'अहो तप के तो आश्रयभूत और शरीर पर भी निस्पृह ऐसे ये महामुनि वास्तव में कृपानिधि है कि जिन्होंने इस रथकार पर अनुग्रह किया। अहो! इस वन को काटने वाले रथकार को भी धन्य है कि जिससे इन भगवंत महामुनि को अन्नपान से प्रतिलाभित करके अपना मनुष्य जन्म का महाफल प्राप्त किया। मात्र मैं ही एक मंदभागी हूँ कि जो ऐसा महातप करने में या ऐसे मुनि को प्रतिलाभित करने में समर्थ नहीं हूँ। इस तिर्यञ्चपन से दूषित ऐसे मुझे धिक्कार हो।

इस प्रकार वे तीनों जन ज्योंहि धर्मध्यान में आरूढ़ हो रहे थे कि इतने में जिस वृक्ष के नीचे वे खड़े थे, उस वृक्ष का अर्धभाग टूटा होने से तेज हवा चलने से बाकी का भाग टूट कर वह वृक्ष उनके ऊपर गिरा। उसके गिरने से वे तीनों ही जनों की उसी समय मृत्यु हो गई। वे ब्रह्मदेवलोक में पद्मोत्तर नामक विमान में तीनों देव हुए।

(गा. 62 से 70)

सात सौ वर्ष तक संयम पर्याय पालकर स्वर्ग में गये। वहाँ उत्पन्न होते ही अवधिज्ञान द्वारा देखने पर तीसरे नरक में रहे हुए कृष्ण को उन्होंने देखा। इससे भ्रातृस्नेह से मोहित ऐसे बलराम देव उत्तर वैक्रिय शरीर धारण करके कृष्ण के पास आया और कृष्ण का आलिंगन करके बोला कि 'हे भाई! मैं तुम्हारा भाई राम हूँ और तुम्हारी रक्षा करने के लिए ब्रह्मदेवलोक से यहाँ आया हूँ। अतः कहो, तुम्हारी प्रीति के लिए मैं क्या करूँ? ऐसा कहकर उन्होंने दोनों हाथों से कृष्ण को उठाया, तब वे पारे की तरह विशीर्ण हो होकर पृथ्वी पर बिखर गए और पुनः मिल गए। तब कृष्ण ने पहले आलिंगन से जानकर और फिर अपना नाम लेकर पुकारने से उद्धार करने से अच्छी तरह पहचान कर उठकर राम को संभ्रम से नमस्कार किया। बलराम बोले कि हे भ्राता! श्री

नेमिनाथजी ने पहले ही कहा था कि विषयसुख अंत में दुःख को ही देने वाला है, वह तुम्हारे संबंध में अभी प्रत्यक्ष हो गया है। हे हरि! कर्म से नियंत्रित हुए ऐसे तुमको मैं स्वर्ग ले जाने में तो समर्थ नहीं हूँ, इससे तुम्हारे मन की प्रीति के लिए मैं तुम्हारे पास रहने को इच्छुक हूँ। कृष्ण ने कहा कि हे भ्राता! तुम्हारे यहाँ रहने से मुझे क्या लाभ होगा? क्योंकि तुम्हारे यहाँ होने पर भी मुझे तो नरक का आयुष्य जितना बांधा है, उतना तो भोगना ही पड़ेगा। इसलिए आपको यहाँ रहने की आवश्यकता नहीं है। मुझे नरक में उत्पन्न होने की पीड़ा से भी अधिक मेरी ऐसी अवस्था देखकर शत्रुओं को हर्ष और शुद्धों को ग्लानि हुई है, यह ज्यादा दुःख दे रहा है। इसलिए हे भाई! तुम भरतक्षेत्र में जाओ और वहाँ चक्र, शार्ङ्ग, धनुष, शंख और गदा को धारण करने वाले, पीतांबर धारण करने वाले और गरुड़ के चिह्नवाले और हल तथा मूसल को हथियार रूप से रखने वाले ऐसे रूप में स्थान–स्थान पर बताओ, जिससे यद्यपि राम और कृष्ण अविनश्वर विद्यमान हैं, ऐसी लोगों में घोषणा फैले और पूर्व में हुए अपने तिरस्कार का निराकरण हो जाए। इस प्रकार कृष्ण के कथन को स्वीकार करके राम ने भरतक्षेत्र में आकर उनके कहे अनुसार दोनों का रूप सर्व स्थानों पर बताए और उच्च स्वर में उद्घोषणा किया कि 'हे लोगों! तुम हमारी शोभती प्रतिभा बनाकर उत्कृष्ट देवता की बुद्धि से आदरपूर्वक इनकी पूजा करो। हम ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाले हैं। हम देवलोक से यहाँ आते हैं और स्वेच्छा से पुनः देवलोक में जाते हैं। हमने ही द्वारिका रची थी और स्वर्ग में जलाने की इच्छा से वापिस हमने ही उसका अवसान किया था। हमारे सिवा अन्य कोई भी कर्त्ता, हर्ता नहीं है। हम भी स्वर्गलोक देने वाले हैं। इस प्रकार उनकी वाणी से सर्व लोग शहर–शहर में, गांव–गांव में, राम–कृष्ण की प्रतिमा बनाकर पूजने लगे। बलराम देवता जो उनकी प्रतिमा की पूजा करने लगे उनको अति उदय देने लगे। इससे सब लोग उनके विशेष प्रकार से भक्त हुए। इस प्रकार राम ने अपने भाई कृष्ण के वचन के अनुसार सम्पूर्ण भरतक्षेत्र में अपनी कीर्ति और पूजा फैलाई। पश्चात् भाई के दुःख से दुःखी मन से ब्रह्मदेवलोक में गये।

(गा. 71 से 89)

इधर जराकुमार पाण्डवों के पास आया और कृष्ण का कौस्तुभ रत्न देकर द्वारका नगरी के दाह आदि की सर्व वार्ता कर सुनाई। वे यह बात सुनकर सद्य

शोक मग्न हो गए और सहोदर बंधु की तरह उन्होंने एक वर्ष तक कृष्ण की प्रेतक्रिया की। पश्चात् उनको दीक्षा लेने के इच्छुक जानकर श्री नेमिनाथजी ने चतुर्ज्ञानी ऐसे धर्मघोष नाम के मुनि के पांचसौ मुनियों के साथ वहाँ भेजा। उनके वहाँ आने पर जराकुमार का राज्याभिषेक करके राज्य पर बिठाया और पांडवों ने द्रौपदी के साथ उन मुनि के पास दीक्षा ली। उन्होंने अभिग्रह सहित तप प्रारंभ किया। भीम ने ऐसा अभिग्रह किया कि जो कोई भाले के अग्र भाग पर भिक्षा देगा, वही मैं ग्रहण करूँगा।' यह अभिग्रह छः मास में पूरा हुआ। द्वादशांगधारी वे पांडव अनुक्रम से विहार करते करते श्री नेमिनाथ प्रभु को वंदन की उत्कंठा से आगे बढ़ने लगे।

(गा. 90 से 95)

श्री नेमिनाथ प्रभु जी ने मध्यप्रदेश आदि में विहार करके, उत्तरदिशा में राजपुर आदि शहरों में विहार करके, वहाँ से द्वीमान् गिरि में जाकर, साथ ही अनेक म्लेच्छ देश में भी विचरण करके अनेक राजाओं और मंत्रियों को प्रतिबोध किया। विश्व के मोह को हरने वाले प्रभु आर्य अनार्य देश में विहार करके पुनः द्वीमान् गिरि पर पधारे और वहाँ से किरात देश में विचरण किया। द्वीमान् गिरि पर से उतर कर दक्षिणापथ देश में आये और वहाँ सूर्य की भांति भव्यप्राणी रूप कमलवन को बोध दिया।

(गा. 96 से 99)

केवलज्ञान से लेकर विहार करते हुए प्रभु के अट्ठारह हजार साधु, चालीस हजार बुद्धिमान् साध्वियाँ, चार सौ चौदह पूर्वधारी, पंद्रह सौ अवधिज्ञानी, इतने ही वैक्रिय लब्धिवाले, इतने ही केवलज्ञानी, एक हजार ममःपर्यवज्ञानी, आठ सौ वादलब्धि वाले, एक लाख उनहत्तर हजार श्रावक और तीन लाख उनचालीस हजार श्राविकाएँ–इतना परिवार हुआ। इस परिवार से परिवृत्त अनेक सुर, असुर और राजाओं से युक्त हुए प्रभु अपना निर्वाण समय नजदीक जानकर रैवतगिरि पर पधारे। वहाँ इंद्र रचित समवसरण में विराजमान होकर प्रभु ने सर्व जीवों के अनुग्रह की भावना से अंतिम देशना दी। उस देशना से प्रतिबद्ध होकर अनेकों ने दीक्षा ली, अनेक श्रावक हुए और अनेकानेक भद्रिकभावी हुए। पश्चात् पाँच सौ छत्तीस मुनियों के साथ प्रभु ने एक महीने का पादपोपगम अनशन किया और आषाढ़ मास की शुक्ल अष्टमी को चित्रा नक्षत्र

में सायंकाल में शैलेशी ध्यान में स्थित होकर प्रभु ने उन मुनियों के साथ निर्वाण पद को प्राप्त किया।

(गा. 100 से 109)

प्रद्युम्न, शांब आदि कुमार, कृष्ण की आठों पट्टरानियाँ, भगवंत के बंधुगण अन्य भी अनेक व्रतधारी मुनियों ने एवं राजीमति आदि साध्वियों ने अव्यय (मोक्ष) पद प्राप्त किया। रथनेमि ने चार सौ वर्ष गृहस्थपन में, एक वर्ष छद्मस्थ पने में और पांचसौ वर्ष केवली पर्याय में इस प्रकार सब मिला कर नौ सौ एक वर्ष का आयुष्य परिपूर्ण किया। इस प्रकार कौमारावस्थ, छद्मस्थावस्था और केवली अवस्था के विभाग करके राजीमति ने भी आयुष्य भोगी। शिवादेवी और समुद्रविजय राजा माहेन्द्र देवलोक में गये। और अन्य दशार्हो ने महर्दिक देवत्व को प्राप्त किया। कौमारावस्था में तीन सौ वर्ष और केवली पने में सात सौ वर्ष इस प्रकार एक हजार वर्ष का आयुष्य श्री नेमिनाथ भगवंत ने भोगा। श्री नेमिनाथ प्रभु के निर्वाण के पश्चात् पाँच लाख वर्ष व्यतीत होने पर श्री नेमिप्रभु का निर्वाण हुआ।

(गा. 110 से 116)

भगवंत के निर्वाण के पश्चात् शकेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने एक शिबिका विकुर्वी। शक्रेन्द्र ने विधिपूर्वक प्रभु के अंगों की पूजा करके स्वयं ने शिबिका में प्रभु को पधराया। देवताओं ने नैऋत्य दिशा में रत्नशिला पर गोशीर्ष चंदन के काष्ठ की चिता रची। इंद्रगण प्रभु की शिबिका को उठाकर वहाँ लाए और श्री नेमिप्रभुजी के शरीर को चिता में पधराया। इंद्र की आज्ञा से अग्निकुमारों ने उस चिता में अग्नि उत्पन्न की और वायुकुमारों ने शीघ्र ही उस अग्नि को प्रज्वलित किया। उनका देह दग्ध हो जाने के पश्चात् क्षीर सागर के जल से देवों ने अग्नि को बुझा दी। तब शक्र और ईशान आदि देवों ने प्रभु की दाढ़ों को ग्रहण किया। शेष अस्थियों को देवताओं ने ग्रहण की। देवियों ने पुष्प लिए, राजाओं ने वस्त्र लिए और लोगों ने भस्म ग्रहण की। प्रभु के संस्कार वाली वैड्र्यमणि की शिलापर इंद्र ने अपने वज्र से प्रभुजी की प्रतिमा सहित एक पवित्र चैत्य कराया। इस प्रकार सर्व क्रिया करके शक्रादिक देवता अपने–अपने स्थान पर गये।

(गा. 117 से 125)

इधर पांडव विहार करते–करते हस्तिकल्प नगर में आए, वहाँ से परस्पर प्रीति से कहने लगे कि अब यहाँ से रैवताचलगिरि मात्र बारह योजन दूर है, इससे कल प्रातः श्री नेमिप्रभुजी के दर्शन करके ही मासिक तप का पारणा करेंगे। इतने में तो लोगों के पास से उन्होंने सुना कि 'भगवान् श्री नेमिनाथजी ने अपने साधुओं के साथ निर्वाण प्राप्त किया।' यह सुनते ही अत्यन्त शोक करते हुए वे सिद्धाचल गिरि पर आये। वहाँ अनशन करके केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्षपद प्राप्त किया। साध्वी द्रौपदी मृत्यु पाकर परमसिद्धि के धाम रूप ब्रह्म देवलोक में गई।

इस पर्व में अतुल तेजवाले बावीसवें तीर्थंकर, नवमें वासुदेव बलदेव और प्रति वासुदेव इन चारों पुरुषों के चरित्र का कीर्तन किया गया है। सिद्धान्त की दृष्टि से अवलोकन करने पर उनमें से एक पुरुष का चरित्र भी कानों में सुनने में आए तो उसे तीन लोक में भी अप्राप्य विस्मयकारी आख्यान सा लगेगा। ऐसा ही यह आख्यान है।

(गा. 126 से 128)

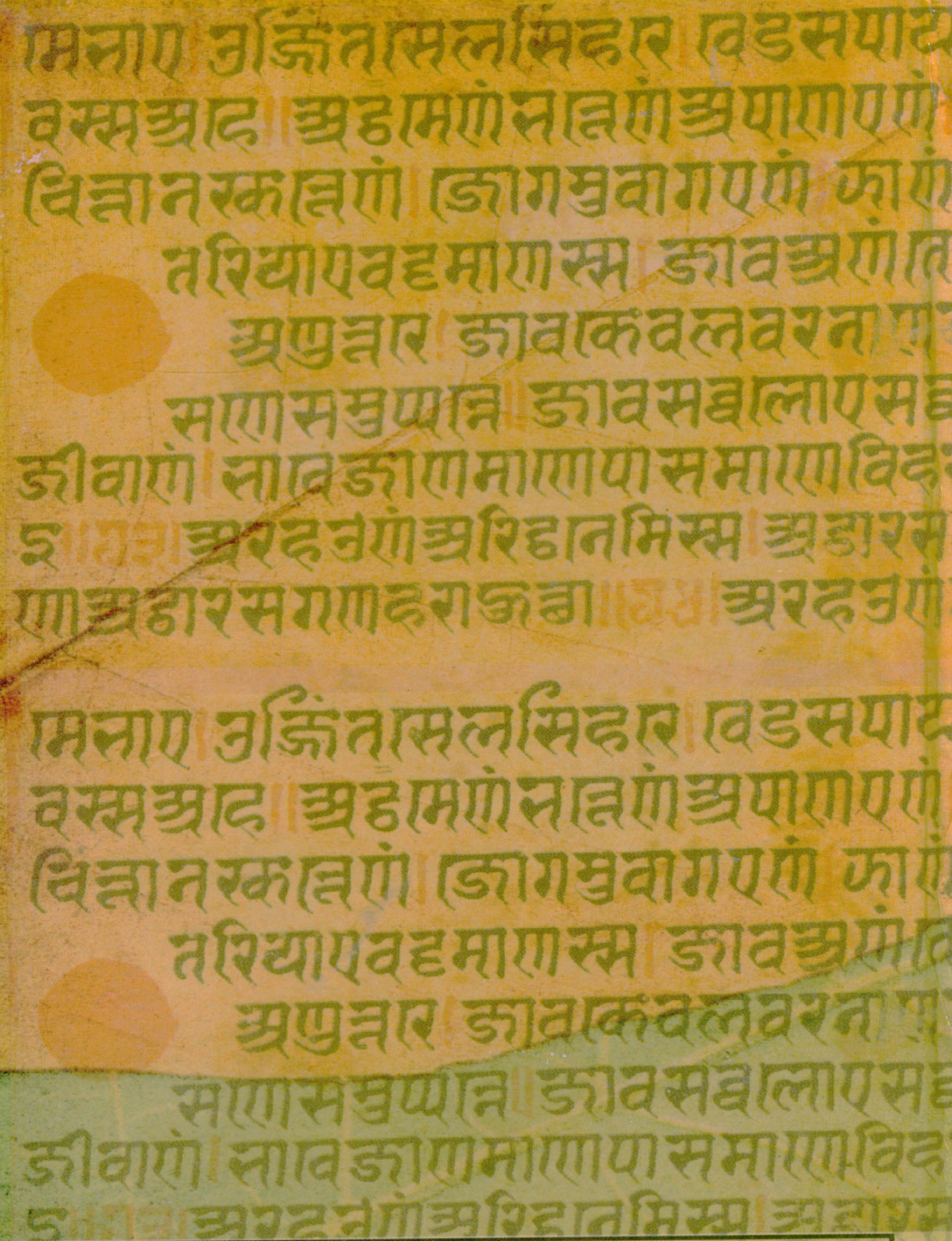

ISBN No. : 978-93-81571-08-8

प्राकृत भारती अकादमी
13-ए, गुरु नानक पथ
मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017
दूरभाष : 0141-2524827,2520230
E-mail : prabharati@gmail.com